जैन न्याय

कैलाशचन्द्र शास्त्री

o

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

जैन न्याय

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्राचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक–१०

ग्रन्थमाला सम्पादक :

डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० आ० ने० उपाध्ये, लक्ष्मीचन्द्र जैन

Mūrtidevī Series: Hindi Title No. 10

JAINA NYĀYA

(Jain Logic)

Pt. Kailash Chandra Shastri

Bharatiya Jnanpith Publication

First Edition 1966

Price Rs. 9.00

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशन

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण १९६६

मूल्य ९.००

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

FOREWORD

With great interest and pleasure I have glanced through the following pages written by Siddhantachārya Pt. Kailasa Chandra Sāstri. The work is devoted to a careful study of some important problems of Jain Nyāya Sāstra and sums up the teachings of ealrier authorities. In the Pṛiṣṭhabhumi prefixed to the work as an Introduction he has surveyed the entire field including teachers like Akalaṅka, Kunda Kunda, Umāsvāti, Samantabhadra, Siddha Sena, Pātra Kesari, Vidyānanda, Hema Chandra, Yaśovijaya and others.

Serious students of Indian philosophy are well aware of the brilliant part played by Jain Logicians in their polemics with Hindu and Buddhist Logicians in ancient and medieval India. Pt. Kailasa Chandra's book will be a valuable and reliable guide to a serious student of Jain Logic and Philosophy in the earlier ages. The work as it appears before us is the result of immense labour on the part of the author and discloses in him a critical grasp of the subject and a power of fair presentation.

I hope it will be read with interest and profit not only by Jain students but also by scholars interested in the history of the evolution of Indian thought in general.

2/A, Sigra,
Varanasi
10. 8. 1966.

-Gopinath Kaviraj,
M. A., D. Litt.
Mahāmahopādhyāya, Sāhitya-Vāchaspati, Padma Vibhushana.

प्राक्कथन

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीके द्वारा लिखित पुस्तकका मैंने विशेष अभिरुचि और प्रसन्नताके साथ अवलोकन किया। प्रस्तुत पुस्तकमें जैन न्याय शास्त्रके कतिपय महत्त्वपूर्ण विषयोंका सावधानीके साथ अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और इसमें प्राचीन अधिकारी ग्रन्थकारोंके मन्तव्यों-को भी सार रूपमें दिया गया है। पृष्ठभूमिमें, जिसे ग्रन्थकी प्रस्तावना कहा जा सकता है, लेखकने समग्र जैन क्षेत्रके अकलंक, कुन्दकुन्द, उमा-स्वाति, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पात्रकेसरी, विद्यानन्द, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि ग्रन्थकारोंका पर्यवेक्षण दिया है।

भारतीय दर्शनके गम्भीर अध्येता सुपरिचित हैं कि प्राचीन और मध्यकालीन भारतमें जैन नैयायिकोंने हिन्दू और बौद्ध नैयायिकोंके साथ वादानुवादमें शानदार भाग लिया है। प्राचीन कालीन जैन न्याय और दर्शनके गम्भीर अध्येताओंके लिए पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीको यह पुस्तक एक बहुमूल्य और प्रामाणिक मार्गदर्शकका कार्य करेगी। कृति जिस रूपमें हमारे सामने है, वह लेखकके अथक परिश्रमका फल है तथा उसके विषयकी आलोचनात्मक पकड़ और समुचित प्रस्तुती-करणकी क्षमताका परिचायक है।

मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक न केवल जैन विद्यार्थी अपितु भारतीय दर्शनके क्रमिक विकासके इतिहासके प्रेमी विद्वान् भी रुचिपूर्वक पढ़ेंगे और उससे लाभान्वित होंगे।

२।अ० सिगरा
वाराणसी
१०–८–१९६६

—गोपीनाथ कविराज
महामहोपाध्याय, साहित्यवाचस्पति,
पद्मविभूषण

लेखकके दो शब्द

एक बार पुराने 'पत्रों' की फ़ाइलोंको देखते समय मेरी दृष्टि जैनहितैषी, भाग १५, अंक ७-८में प्रकाशित एक लेखपर पड़ी। लेखका शीर्षक था 'हिन्दीमें जैन-दर्शन' और लेखक थे 'एडवर्ड एंग्लो संस्कृत हाईस्कूल' मुज़फ़्फ़रनगरके हेडमास्टर श्री मोतीलाल जैन एम० ए०। यह लेख सन् १९२१ में लिखा गया था और एक स्कीमके रूपमें था। स्कीम बहुत ही सुन्दर और आवश्यक थी। उसने मुझे आकृष्ट किया।

इधर 'बंगीय संस्कृत शिक्षा परिषद्' कलकत्तासे जैन ग्रन्थोंमें भी परीक्षा देकर जैन न्यायतीर्थकी उपाधि सुलभ हो जानेसे जैन विद्यालयोंमें जैन न्यायके प्रमुख ग्रन्थ अष्टसहस्री और प्रमेयकमलमार्तण्डके पठन-पाठनका खूब प्रचार बढ़ा और प्रतिवर्ष जैन विद्वान् न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण करने लगे। किन्तु पश्चात् समयने ऐसा पलटा खाया कि न्यायशास्त्रकी ओरसे छात्रोंमें उदासीनता आती गयी। धार्मिक ग्रन्थोंकी तो हिन्दी टीकाएँ भी सुलभ थीं, किन्तु न्यायशास्त्रके सम्बन्धमें यह सहूलियत भी नहीं थी। न्यायशास्त्रके प्राथमिक ग्रन्थोंकी हिन्दी टीका भी इस युगके न्यायशास्त्रधुरीण विद्वानोंने की, किन्तु अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र-जैसे ग्रन्थोंकी हिन्दी टीका करना सुगम नहीं है। और जैन न्याय-का पठन-पाठन चालू रखनेके लिए आजके युगमें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि हिन्दीमें उसे सुलभ बनानेकी चेष्टा की जाये। उक्त स्कीम तथा आवश्यकतासे प्रेरित होकर मैंने हिन्दीमें 'जैन दर्शन' नामक पुस्तक लिखनेका विचार किया। और आजसे लगभग दो दशक पूर्व उसे लिख भी डाला। स्व० पं० महेन्द्रकुमार-जी न्यायाचार्य-द्वारा लिखित 'जैन दर्शन' पुस्तकका प्रकाशन श्री वर्णी जैन ग्रन्थ-मालासे हुआ। पीछे भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीके तत्कालीन व्यवस्थापक श्री-बाबूलालजी फागुल्लके प्रयत्नसे उसके मन्त्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैनने मेरी जैन-दर्शन पुस्तकको भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित करना स्वीकार किया। किन्तु चूँकि 'जैन दर्शन' नामसे एक पुस्तक पहले प्रकाशित हो चुकी थी अतः इसे जैन न्याय नाम देना ही उचित समझा गया। जैन दर्शनमें जैन तत्त्वज्ञानसे सम्बद्ध विषयोंका समावेश होनेसे उसकी सीमा विस्तृत है किन्तु जैन न्यायमें मूलतः प्रमाण शास्त्र ही प्रधानरूपसे आता है और उसीकी चर्चा इस पुस्तकमें होनेसे भी उसे जैन न्याय नाम देना ही उचित प्रतीत हुआ और इस तरह इस पुस्तकका नामकरण संस्कार निष्पन्न हुआ।

प्रमाणके द्वारा पदार्थकी परीक्षा करनेको न्याय कहते हैं। इसीसे न्यायशास्त्र-को प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं। प्रमाणके अन्तर्गत प्रमाणका स्वरूप, प्रमाणके भेद-

प्रभेद, विषय, फल और प्रमाणाभास आते हैं। प्रस्तुत पुस्तकमें प्रमाणके विषयकी चर्चा नहीं आ सकी। यदि उसे भी समाविष्ट किया जाता तो ग्रन्थका कलेवर ड्योढ़ा तो अवश्य हो जाता। इसलिए उसे छोड़ देना पड़ा।

जिस-जिस विषयके पूर्व पक्ष और उत्तर पक्षमें जिन-जिन ग्रन्थोंका उपयोग किया गया है या जिन ग्रन्थोंमें वे विषय चर्चित हैं, उनका नीचे टिप्पणीमें निर्देश कर दिया गया है। तथापि इस ग्रन्थका विशेष आधार आचार्य प्रभाचन्द्रके प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र हैं। न्यायशास्त्रकी उच्च कक्षाओंमें इन्हींका पठन-पाठन विशेष प्रचलित है। अतः इन ग्रन्थोंके पाठक छात्र इस पुस्तकका उपयोग मूल ग्रन्थको समझनेमें कर सकते हैं, लिखते समय उनकी कठिनाईका ध्यान बराबर रखा गया है। यदि मेरी इस पुस्तकसे जैन न्यायके पाठक छात्रोंकी कठिनाई दूर हो सकी और जैन न्यायके पठन-पाठनको प्रोत्साहन मिला तो मैं अपने श्रमको सार्थक समझूँगा। इस पुस्तकके 'प्रमाणके भेद' शीर्षक दूसरे प्रकरणमें मतिज्ञानके और परोक्षप्रमाणके अन्तर्गत श्रुतज्ञानके भेदोंके स्वरूप-की चर्चा विस्तारसे की गयी है और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर शास्त्रोंमें वर्णित मत-भेदोंका संकलन किया गया है, वह प्रकरण परीक्षार्थियोंके लिए तो उतने उपयोगी नहीं हैं किन्तु ज्ञानकी चर्चाके प्रेमी जिज्ञासु जनोंके लिए विशेष उपयोगी हैं।

जैन न्याय-जैसे नीरस विषयके साहित्यको प्रकाशित करनेकी स्वीकृति देकर भारतीय ज्ञानपीठके संचालकोंने जो विद्यानुराग प्रदर्शित किया है उसके लिए मैं उनका और विशेष रूपसे ज्ञानपीठके मन्त्री बा० लक्ष्मीचन्द्रजी जैनका आभारी हूँ। डॉ० गोकुलचन्द्र जैनने इस पुस्तकको सुव्यवस्थित रूप देने तथा शीघ्र प्रकाशित करनेमें काफ़ी श्रम किया है। अतः मैं उनका भी आभारी हूँ। और भारतीय ज्ञानपीठके प्रधान व्यवस्थापक श्री जगदीशजीके सहयोगके बिना तो कुछ भी सम्भव नहीं था, अतः उनका आभार स्वीकार किये बिना मैं कैसे रह सकता हूँ।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराजने अस्वस्थ होते हुए भी प्राक्कथन लिखनेका कष्ट किया, उनका मैं विशेष रूपसे आभारी हूँ। हिन्दीमें जैन न्यायपर यह पहला प्रयत्न है, इसलिए त्रुटियाँ सम्भव हैं। अतएव अन्तमें न्यायशास्त्रधुरीणोंसे मैं अपनी ग़लतियोंके लिए क्षमा-याचना करता हूँ। आशा करता हूँ कि उनकी ओर वे हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे।

श्रीस्याद्वाद महाविद्यालय
वाराणसी
वीरशासन दिवस २४९२

— कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

इन्द्रिय, मन और अर्थ इन चारोंका मेल होनेपर ज्ञाताका व्यापार होता है उसीसे ज्ञान होता है अतः वही प्रमाण है), उत्तरपक्ष ६२ (ज्ञातृव्यापार किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, न प्रत्यक्षसे, न अनुमानसे, न अर्थापत्तिसे ६२) ५निर्विकल्पक ज्ञान ६४ पूर्वपक्ष (जो ज्ञान अर्थसे संसृष्ट शब्दको वाचक रूपसे ग्रहण करता है वही सविकल्पक है, अन्य नहीं। यह बात प्रत्यक्ष ज्ञानमें सम्भव नहीं है अतः निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है ६५, निर्विकल्पमें सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति है अतः उसके द्वारा वह समस्त व्यवहारोंमें कारण होता है ६५, सविकल्पक प्रमाण नहीं है क्योंकि उसका विषय नवीन नहीं है, निर्विकल्पकके विषय दृश्य और विकल्पके विषय विकल्प्यमें एकत्वाध्यवसाय होनेसे भ्रमवश सविकल्पक ज्ञान होता है ६५), उत्तरपक्ष ६६ (दिग्नागने प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्त पद नहीं रखा था, धर्मकीर्तिने कल्पनारहित अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष माना ६६, कल्पनारहितत्वका निराकरण ६६, निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहारमें उपयोगी नहीं है ६७, विकल्पकके सिवा निर्विकल्पककी प्रतीति स्वप्नमें नहीं होती ६८, दोनोंका एकत्वाध्यवसाय कौन करता है ६९, जो स्वयं निर्विकल्पक है वह सविकल्पकको कैसे उत्पन्न कर सकता है ६९, यदि सविकल्पकको उत्पन्न करनेपर ही निर्विकल्पक प्रमाण है तो सविकल्पकको ही प्रमाण क्यों नहीं मान लेता ७२)।

मिथ्याज्ञानके तीन भेद ७३, विपर्ययज्ञानको लेकर भारतीय दार्शनिकोंके मतभेदोंका क्रमशः निरूपण और समीक्षा ७३, १विवेकाख्याति, पूर्वपक्ष ७३, (सीपमें 'यह चाँदी है' ये दो ज्ञान हैं प्रत्यक्ष और स्मरण। सामने वर्तमान सीपमें और पहले देखी चाँदीमें भेद ग्रहण न होनेसे इसे विवेकाख्यातिका स्मृति प्रमोष कहते हैं ७४), उत्तरपक्ष ७४, (यह दो ज्ञान नहीं, एक ही है अतः विपरीतख्याति है स्मृति प्रमोष नहीं ७६, स्मृतिका प्रमोष क्या वस्तु है ७६,–७८) २अख्यातिवाद (सीपमें 'यह चाँदी है' इस ज्ञानमें कुछ भी प्रतिभासमान नहीं होता इसीलिए इसे अख्याति कहते हैं यह चार्वाकका मत समीचीन नहीं है ७९, यह अख्याति क्या है ७९,) ३असत्ख्यातिवाद ७९ (बौद्ध सौत्रान्तिक और माध्यमिकोंका कथन है कि सीपमें 'यह चाँदी है' इस ज्ञानमें असत्का ही प्रतिभास होता है इसलिए इसे असत्ख्याति कहते हैं ८०, यह कथन ठीक नहीं है असत् और प्रतिभास दोनों विरुद्ध हैं ८०, ऐसे ज्ञानोंमें कौन-सा अर्थक्रियाकारित्व नहीं होता ज्ञानसाध्य या ज्ञेयसाध्य ८०), ४प्रसिद्धार्थख्यातिवाद ८१ (सांख्य मानता है कि विपर्यय ज्ञानमें प्रतीतिसिद्ध अर्थका ही प्रतिभास होता है किन्तु जैनोंका कहना है कि ऐसा माननेसे भ्रान्त और अभ्रान्त व्यवहार ही नष्ट हो जायेगा ८१), ५आत्म-

जैन न्याय

पृष्ठभूमि

१. न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्रको तर्कशास्त्र, हेतुविद्या और प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं; किन्तु इसका प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी है। कौटिल्यने (३२७ ई० पूर्व) अपने अर्थशास्त्रमें[१] आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, इन चार विद्याओंका निर्देश किया है और लिखा है कि त्रयीमें धर्म-अधर्मका, वार्तामें अर्थ-अनर्थका तथा दण्ड-नीतिमें नय-अनयका कथन होता है और हेतुके द्वारा इनके बलाबलका अन्वीक्षण करनेसे लोगोंका उपकार होता है, संकट और आनन्दमें यह बुद्धिको स्थिर रखती है, प्रज्ञा, वचन और कर्मको निपुण बनाती है। यह आन्वीक्षिकी विद्या सर्व विद्याओंका प्रदीप, सब धर्मोंका आधार है।

कौटिल्यका अनुसरण करते हुए जैनाचार्य सोमदेवने (९५९ ई०) भी लिखा[२] है कि आन्वीक्षिकी विद्याका पाठक हेतुओंके द्वारा कार्योंके बलाबलका विचार करता है, संकटमें खेद-खिन्न नहीं होता, अभ्युदयमें मदोन्मत्त नहीं होता और बुद्धिकौशल तथा वाक्कौशलको प्राप्त करता है। किन्तु मनुस्मृति (अ० ७, श्लो० ४३) में आन्वीक्षिकीको आत्मविद्या कहा है और [३]सोमदेवने भी आन्वीक्षिकीको अध्यात्म विषयमें प्रयोजनीय बतलाया है।

नैयायिक वात्स्यायनने अपने न्यायभाष्यके आरम्भमें लिखा[४] है कि ये चारों विद्याएँ प्राणियोंके उपकारके लिए कही गयी हैं। जिनमें-से चतुर्थी यह आन्वीक्षिकी

---

१. 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।' धर्माधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्तायाम्। नयानयौ दण्डनीत्याम्। बलाबले चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति, व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति, प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति। प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।'—कौ० अर्थ० १–२।

२. 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति चतस्रो राजविद्याः। अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते, समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम् ॥५६॥'—नी० वा०, ५ समुद्देश।

३. आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये······॥६०॥ नी. वा.

४. इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहाय उपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः पृथक् प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः। तेषां पृथग्वचनमन्तरेण अध्यात्मविद्यामात्रमिदं स्याद् यथोपनिषदः।'—न्यायभाष्य १. १. १।

न्यायविद्या है। उसके पृथक् प्रस्थान संशय आदि पदार्थ हैं। यदि उन संशय आदिका कथन न किया जाये तो यह केवल अध्यात्मविद्या मात्र हो जाये, जैसे कि उपनिषद्।

इसका आशय यह है कि यदि आन्वीक्षिकीमें न्यायशास्त्र प्रतिपादित संशय, छल, जाति आदिका प्रयोग किया जाता है तो वह न्यायविद्या है अन्यथा तो अध्यात्मविद्या है। इस तरह आन्वीक्षिकीका विषय आत्मविद्या भी है और हेतुवाद भी है। इनमें-से आत्मविद्या रूप आन्वीक्षिकीका विकास दर्शन कहलाया, जिसे अँगरेज़ीमें फिलॉसोफ़ी कहते हैं। और हेतुविद्या रूप आन्वीक्षिकीका विकास न्याय कहलाया जिसे अँगरेज़ीमें लॉजिक कहते हैं।

वात्स्यायन भाष्यमें आन्वीक्षिकीका अर्थ न्यायविद्या करते हुए लिखा[1] है— 'प्रत्यक्ष और आगमके अनुकूल अनुमानको अन्वीक्षा कहते हैं। अतः प्रत्यक्ष और आगमसे देखे हुए वस्तुतत्त्वके पर्यालोचन या युक्तायुक्तविचारका नाम अन्वीक्षा है और जिसमें वह हो उसे आन्वीक्षिकी कहते हैं।'

'न्याय'[2] शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए भी शास्त्रकारोंने उसका यही अर्थ किया है। जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तुतत्त्वका ज्ञान होता है उसे न्याय कहते हैं। ऐसा ज्ञान प्रमाणके द्वारा होता है इसीसे न्यायविषयक ग्रन्थोंका मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण होता है। प्रमाणके ही भेद प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम वग़ैरह माने गये हैं। किन्तु प्रत्यक्ष और आगमके द्वारा वस्तुतत्त्वको जानकर भी उसकी स्थापना और परीक्षामें हेतुवाद और युक्तिवादका अवलम्बन लेना पड़ता है क्योंकि उसके बिना प्रतिपक्षी दार्शनिकोंके सामने उस तत्त्वकी प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। इसीसे न्यायको तर्कमार्ग और युक्तिशास्त्र भी कहा है। उसके बिना दर्शनकी गाड़ी आगे नहीं बढ़ती। वह उसका प्रतिष्ठाता और संरक्षक है। सम्भवतया इसी हेतुसे अक्षपादने न्यायशास्त्रको लेकर ही एक दर्शनकी स्थापना की थी जिसे न्यायदर्शन कहते हैं। इस दर्शनने सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञान

---

१. 'कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी—न्यायविद्या-न्यायशास्त्रम्।'—वात्स्या० भा० ।१।१।१।

२. 'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः'—न्यायकुसुमाञ्जलि। 'नितरामीयन्ते गम्यन्ते गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्, ज्ञायन्तेऽर्थाः अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्यायः तर्कमार्गः।'—न्यायप्रवेशपञ्जिका पृ० १। 'निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेति न्यायः'—न्यायविनिश्चयालंकार, भा० १, पृ० ३३।

से मोक्ष माना। उन सोलह पदार्थोंमें जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति आदि भी हैं जिनका उपयोग मुख्य रूपसे वाद-विवादमें ही होता है। न्यायदर्शनके न्याय-सूत्र नामक मूल ग्रन्थमें इन सबका सांगोपांग वर्णन है। जब बौद्धों और जैनोंने न्यायशास्त्रकी ओर ध्यान दिया न्यायदर्शन उसमें पूर्ण उन्नति कर चुका था।

न्यायसूत्रोंके उद्भवका सुनिश्चित काल ज्ञात नहीं है। किन्तु एक सुव्यवस्थित दर्शनके रूपमें न्यायदर्शनका उद्भव अन्य प्राचीन दर्शनोंसे अर्वाचीन है।[1] बौद्ध दार्शनिक नागार्जुनने अपनी कृतिमें न्यायदर्शनके सोलह पदार्थोंपर आक्षेप किया है। अतः नागार्जुनके समयमें न्यायसूत्र किसी-न-किसी रूपमें उपस्थित होना चाहिए। तबतक[2] बौद्ध धर्ममें किसीने न्यायशास्त्रकी ओर ध्यान नहीं दिया था। जब नागार्जुनके सिद्धान्तको अमान्य किया गया तो असंग और वसुबन्धुने न्यायशास्त्र-की ओर ध्यान दिया। वसुबन्धु तर्कशास्त्रका प्रसिद्ध विद्वान् हुआ। उसने उसपर तीन प्रकरण भी रचे थे। उनके पश्चात् दिग्नाग और धर्मकीर्तिने न्यायशास्त्रको यथार्थ रूपमें स्वीकार करके बौद्धन्यायको प्रतिष्ठित किया। बौद्धन्यायके पिता दिग्नाग और उनके अनुयायी धर्मकीर्तिके पश्चात् जैनपरम्परामें जैनन्यायके प्रस्थापक अकलंकदेवका उदय हुआ, और जैनदर्शनमें जैनन्यायपर स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचना हुई। जैसे युद्धकालमें युद्धके उपकरणोंका विकास होता है वैसे ही विविध दर्शनोंके पारस्परिक संघर्षकालमें स्वपक्षके रक्षण और परपक्षके निराकरणके लिए तर्कशास्त्रका विकास हुआ।

न्याय या तर्कशास्त्रका मुख्य अंग प्रमाण है। और प्रमाणके भेदोंमें-से भी अनुमान प्रमाण है। क्योंकि प्रत्यक्ष अगोचर पदार्थोंकी सिद्धि अनुमान प्रमाणसे की जाती है। दूसरोंको समझानेके लिए जो अनुमान प्रयोग किया जाता है उसे परार्थानुमान कहते हैं।

रसियन विद्वान् चिरविट्स्कीने 'बौद्धन्याय' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थके प्रारम्भमें लिखा है कि बौद्धन्यायसे हम तर्कशास्त्रकी उस पद्धतिका बोध करते हैं जिसका निर्माण ईसाकी ६–७वीं शताब्दीमें बौद्धधर्मके दो महान् तार्किक दिग्नाग और धर्मकीर्तिने किया था। इनके साहित्यमें सबसे प्रथम परार्थानुमानका वर्णन है। अतः परार्थानुमान ही तर्क या न्याय शब्दसे कहे जानेके लिए

१. विद्याभूषण, हिस्ट्री ऑफ़ इ० ला०, पृ० २५७। २. बुद्धिष्ट लॉजिक, भा० १, पृ० २६।

सर्वथा उपयुक्त है। विकल्प या अध्यवसाय, अपोहवाद और स्वार्थानुमानके सिद्धान्त उसी परार्थानुमानकी देन हैं।'

इस तरह न्यायशास्त्रमें अनुमान प्रमाण और उसके अंग-उपांगोंका ही प्राधान्य है और उसको लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे गये हैं तथापि जब हम बौद्धन्याय या जैन-न्याय शब्दका प्रयोग करते हैं तो उसका तात्पर्य केवल अनुमान प्रमाण न होकर कुछ विशेष होता है। और उन विशेषताओंके कारण ही वह बौद्धन्याय या जैन न्याय कहा जाता है।

२. जैन न्याय

प्रत्येक दर्शन या धर्मके प्रवर्तककी एक विशेष दृष्टि होती है जो उसकी आधारभूत होती है। जैसे भगवान् बुद्धकी अपने धर्मप्रवर्तनमें मध्यम प्रतिपदा दृष्टि है या शंकराचार्यकी अद्वैत दृष्टि है। जैनदर्शनके प्रवर्तक महा-पुरुषोंकी भी उसके मूलमें एक विशेष दृष्टि रही है। उसे ही अनेकान्तवाद कहते हैं। जैनदर्शनका समस्त आचार-विचार उसीके आधारपर है। इसीसे जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहलाता है और अनेकान्तवाद तथा जैनदर्शन शब्द परस्परमें पर्यायवाची-जैसे हो गये हैं। वस्तु सत् ही है या असत् ही है, या नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है इस प्रकारकी मान्यताको एकान्त कहते हैं और उसका निराकरण करके वस्तुको अपेक्षाभेदसे सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि मानना अनेकान्तवाद है।

अन्य दर्शनोंने किसीको नित्य और किसीको अनित्य माना है। किन्तु जैन दर्शन कहता है—

"आदीपमाव्योमसमस्वभावः स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥"

—स्या० मं० श्लो० ५

दीपकसे लेकर आकाश तक एकसे स्वभाववाले हैं। यह बात नहीं है कि आकाश नित्य हो और दीपक अनित्य हो। द्रव्य दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। अतः कोई भी वस्तु इस स्वभावका अतिक्रमण नहीं करती क्योंकि सबपर स्याद्वाद या अनेकान्त स्वभावकी छाप लगी हुई है। जिन-आज्ञाके द्वेषी ही ऐसा कहते हैं कि अमुक वस्तु केवल नित्य ही है और अमुक केवल अनित्य ही है।

'स्याद्वाद' शब्दमें 'स्यात्' शब्द अनेकान्त रूप अर्थका वाचक अव्यय है। अत एव स्याद्वादका अर्थ अनेकान्तवाद कहा जाता है। यह स्याद्वाद जैनदर्शनकी विशे-षता है। इसीसे समन्तभद्र स्वामीने कहा है——

"स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

—स्वयंभू० १०२ ।

हे जिनेन्द्र, स्यात् शब्द केवल जैनन्यायमें है, अन्य एकान्तवादी दर्शनोंमें नहीं है ।

जैन दर्शन एक द्रव्य पदार्थ ही मानता है । उसे माननेपर दूसरे पदार्थके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती । गुण और पर्यायके आधारको द्रव्य कहते हैं । ये गुण और पर्याय इस द्रव्यके ही आत्मस्वरूप हैं । इसलिए ये किसी भी हालतमें द्रव्यसे पृथक् नहीं होते । द्रव्यके परिणमनको पर्याय कहते हैं । जो बतलाता है कि द्रव्य सदा एक-सा कायम न रहकर प्रतिक्षण बदलता रहता है । जिसके कारण द्रव्य सजातीयसे मिलते हुए और विजातीयसे भिन्न प्रतीत होते हैं वे गुण कहलाते हैं । ये गुण ही अनुवृत्ति और व्यावृत्तिके साधन होते हैं । इसीसे जैन दर्शनमें सामान्य और विशेषको पृथक् माननेकी आवश्यकता नहीं रहती । गुण, कर्म, समवाय, सामान्य, विशेष और अभाव ये सब द्रव्यकी ही अवस्थाएँ हैं । इनमें-से कोई भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है ।

वेदान्त दर्शन पर्यायको अवास्तविक और पर्यायसे भिन्न द्रव्यको वास्तविक मानता है । जैन दर्शन दोनोंको ही वास्तविक मानता है । इसीसे वस्तु न केवल द्रव्य रूप है और न केवल पर्याय रूप है, किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक है । वही प्रमाणका विषय है ।

जैन दर्शन प्रमाण और नयसे वस्तुकी सिद्धि मानता है । स्वपर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है । ज्ञान आत्माका स्वरूप है, अतः उसे आत्मा शब्दसे भी कहते हैं । अनन्त धर्मवाली वस्तुके किसी एक धर्मको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । जो नय वस्तुको केवल द्रव्यकी मुख्यतासे ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, और जो नय वस्तुको पर्यायकी मुख्यतासे ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं ।

ये नय भी स्याद्वाद या अनेकान्तवादकी देन हैं; इसीसे अन्य दर्शनोंमें इनकी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती । अनेकान्तवादके दो फलितवाद हैं—सप्तभंगीवाद और नयवाद । अतः स्याद्वाद सप्तभंगीवाद और नयवाद, ये सब जैन न्यायकी विशेषताएँ हैं । जैन विद्वानोंने उनके निरूपण और विवेचनमें बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं और अनेकान्तवादके बलसे ही अन्य दार्शनिकोंका निराकरण और खण्डन किया है।

जब बादरायण-जैसे सूत्रकारोंने उसके खण्डनमें सूत्र रचे और उन सूत्रोंके भाष्यकारोंने अपने भाष्योंमें स्याद्वादका खण्डन किया तथा वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित-जैसे बड़े-बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानोंने भी अनेकान्तवादकी

आलोचना की तो जैन विद्वानोंने भी उनका सामना किया और उसके संरक्षणके लिए वाद भी किये। इस संघर्षके फलस्वरूप जहाँ एक ओर अनेकान्तका तर्कपूर्ण विकास हुआ वहाँ दूसरी ओर उसका प्रभाव भी विरोधी दार्शनिकोंपर पड़ा। दक्षिण भारतमें जैनाचार्यों और मीमांसक तथा वेदान्तियोंके बीचमें जो विवाद हुए उसका असर मीमांसादर्शन तथा वेदान्तपर पड़ा। मीमांसक कुमारिल भट्टने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिकमें जैनाचार्य समन्तभद्रकी शैली और शब्दोंमें तत्त्वको त्रयात्मक बतलाया है तथा रामानुजाचार्यने शंकराचार्यके मायावादके विरुद्ध विशिष्टाद्वैतका निरूपण करते समय अनेकान्त दृष्टिका ही उपयोग किया है।

जैन दर्शन न तो सृष्टिकर्ता ईश्वरको ही मानता है और न वेदके प्रामाण्यको ही स्वीकार करता है। इसीसे उसकी गणना नास्तिक दर्शनोंमें की जाती है यद्यपि वह कट्टर आस्तिक है। अतः अनेकान्तके साथ सृष्टिकर्ता ईश्वर और वेदके प्रामाण्यको लेकर भी ईश्वर और वेदवादी दार्शनिकोंसे जैनोंका संघर्ष होता था। ये ही तथा इसी प्रकारकी कुछ अन्य विशेषताएँ हैं जिनको लेकर जैन न्यायका उद्गम तथा विकास हुआ।

३. अकलंक देवके पूर्व जैन न्यायकी स्थिति

ऐतिहासिक अनुशीलनके आधारपर अब यह मान लिया गया है कि जैन धर्मके तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे और इस तरह ईसवी सन्से ८०० वर्ष पूर्व भारतमें जैन धर्मका प्रवर्तन उन्होंने किया था। उनसे २५० वर्षोंके बाद भगवान् महावीर हुए। तीस वर्षकी अवस्थामें उन्होंने प्रव्रज्या धारण की और बारह वर्षोंकी कठोर साधनाके पश्चात् पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त करके प्रथम धर्मदेशना की। उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे। उनको जीवके अस्तित्वके विषयमें सन्देह था। उस सन्देहका निवारण करनेके लिए वह भगवान् महावीरके समवसरणमें गये और उन्हींके पादमूलमें जिन-दीक्षा लेकर उनके प्रथम गणधर पदपर आसीन हुए। उन्होंने भगवान् महावीरके उपदेशोंको बारह अंगोंमें ग्रथित किया। उनमें-से ग्यारह अंगोंमें तो स्वसमयका प्रतिपादन था किन्तु बारहवें दृष्टिवादमें ३६३ दृष्टियोंका (मतोंका) स्थापनापूर्वक निराकरण था। परन्तु कालक्रमसे वह लुप्त हो गया।

आचार्य कुन्दकुन्द

ईसाकी प्रथम-द्वितीय शताब्दीमें आचार्य कुन्दकुन्द हुए। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें स्वतन्त्र रूपसे प्रमाणकी तो चर्चा नहीं की है फिर भी ज्ञानकी जो चर्चा उन्होंने की है वह दार्शनिकोंकी प्रमाण चर्चासे प्रभावित प्रतीत होती है।

दार्शनिकोंमें यह विवादका विषय रहा है कि ज्ञानको स्वप्रकाशक, परप्रकाशक या स्वपरप्रकाशक माना जाये। सम्भवतः आचार्य कुन्दकुन्दने[1] ही ज्ञानकी स्वपर-प्रकाशताको स्वीकार करते हुए जैन दर्शनमें इस चर्चाका प्रथम सूत्रपात किया और उनके बादके सभी आचार्योंने आचार्य कुन्दकुन्दके इस मन्तव्यको एक स्वरसे माना।

आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसार (१-४०,४१,५४-५८) में प्रत्यक्ष परोक्ष ज्ञानकी व्याख्या देकर उन व्याख्याओंको युक्तिसे भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि दूसरे दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष मानते हैं किन्तु इन्द्रियाँ तो अनात्म रूप होनेसे पर द्रव्य हैं अतएव इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्ध वस्तुका ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। इन्द्रियजन्य ज्ञानके लिए तो परोक्ष शब्द ही उपयुक्त है क्योंकि जो ज्ञान परसे होता है उसे परोक्ष कहते हैं (प्रवचन-सार १-५७,५८)।

आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहार दृष्टिसे तो सर्वज्ञकी वही व्याख्या की है जो उत्तरकालीन समस्त जैन साहित्यमें पायी जाती है किन्तु निश्चय दृष्टिसे नयी व्याख्या की है। उन्होंने कहा है—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

—नियमसार गाथा १५८

अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे केवली सभी द्रव्योंको जानते हैं किन्तु परमार्थतः वह आत्माको ही जानते हैं।

प्रवचनसारमें सर्वज्ञके व्यावहारिक ज्ञानका वर्णन करते हुए उन्होंने इस बातको ज़ोर देकर कहा है कि त्रैकालिक सभी द्रव्यों और पर्यायोंका ज्ञान सर्वज्ञको युगपद् होता है। क्योंकि यदि वह त्रैकालिक द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको युगपद् न जानकर क्रमशः जानेगा तो वह किसी एक द्रव्यको भी नहीं जान सकेगा। और जब वह एक ही द्रव्यको उसकी अनन्त पर्यायोंके साथ नहीं जानेगा तो वह सर्वज्ञ कैसे होगा (१-४८,४९)। यही तो सर्वज्ञका माहात्म्य है कि वह नित्य त्रैकालिक सभी द्रव्य पर्यायोंको युगपद् जानता है (१-५१)। किन्तु जो पर्याय अनुत्पन्न हैं या विनष्ट हो चुकी हैं उन्हें केवलज्ञानी कैसे जानता है? इस प्रश्नका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि समस्त द्रव्योंकी सद्भूत और असद्भूत पर्याय विशेषरूपसे वर्तमानकालिक पर्यायोंकी तरह स्पष्ट प्रतिभासित होती हैं।

---

१. नियमसार गा० १६०–१७०।

यही तो उस ज्ञानकी दिव्यता है कि वह अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायोंको भी जान लेता है (१-३७,३८,३९)। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने तर्कपूर्ण दार्शनिक शैलीका अवलम्बन लेकर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंके जैन सिद्धान्त सम्मत लक्षणोंका उपपादन किया।

आचार्य उमास्वामि

कुन्दकुन्दके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वामिने 'प्रमाणनयैरधिगमः'[1] इस सूत्रके द्वारा स्पष्ट रूपसे प्रमाणकी चर्चाको अवतरित किया और नयको प्रमाणसे पृथक् रखकर प्रमाणकी तरह नयको भी समान स्थान दिया। उन्होंने पाँच ज्ञानोंको ही प्रमाण[2] बतलाया; तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंमें विभाजित करके "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्[3]" सूत्रके द्वारा दर्शनान्तरमें मान्य प्रमाणोंका अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाणमें किया। इस तरह आचार्य उमास्वामीने तत्त्वार्थ सूत्रके द्वारा ऐसे बीजोंका वपन किया, जो कालक्रमसे प्रस्फुटित होकर प्रमाणविषयक चर्चाके आधार बने।

स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन

आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामीके पश्चात् जैन वाङ्मयके नीलाम्बरमें कालक्रमसे दो जाज्वल्यमान नक्षत्रोंका उदय हुआ। ये दो नक्षत्र थे स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर। स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। बादके कुछ ग्रन्थकारोंने इसी विशेषणके साथ उनका उल्लेख किया है। अपने इष्टदेवकी स्तुतिके व्याजसे उन्होंने एक ओर हेतुवादके आधारपर सर्वज्ञकी सिद्धि की, दूसरी ओर विविध एकान्तवादोंकी समीक्षा करके अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की। उनकी लेखनीका केन्द्रबिन्दु केवल अनेकान्तवाद था। उसीके स्थापन और विवेचनमें उन्होंने अपनी प्राञ्जल लेखनीका सदुपयोग किया। इसीसे उनके ग्रन्थोंमें अनेकान्तवादके फलितवाद नय और सप्तभंगीका भी निरूपण मिलता है। उन्हींने जैन परम्परामें सम्भवतया सर्वप्रथम न्याय शब्दका प्रयोग करके एक ओर न्यायको स्थान दिया तो दूसरी ओर न्याय शास्त्रमें स्याद्वादको गुम्फित किया।—(स्वयंभू स्तोत्र श्लोक १०२)

उन्होंने ही सर्वप्रथम सर्वज्ञताकी सिद्धिमें नीचे लिखा अनुमान उपस्थित किया—

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १-६। २. 'तत्प्रमाणे' १-१०। ३. तत्त्वार्थसूत्र १-१३।

"सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥"
[आप्तमीमांसा श्लो० ५]

'सूक्ष्म परमाणु वगैरह, अन्तरित राम-रावण वगैरह और दूरवर्ती सुमेरु वगैरह पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, अनुमेय होनेसे, जैसे अग्नि वगैरह। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति होती है।' इस कारिकाको पढ़नेसे शाबरभाष्यकी एक पंक्तिका स्मरण हो आता है।—"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्।" (शा० भा० १-१-२)

भाष्यके सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट शब्द तथा कारिकाके सूक्ष्म अन्तरित और दूर शब्द एकार्थवाची हैं। दोनोंमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलकता है। और ऐसा लगता है कि एकने दूसरेके विरोधमें अपना उपपादन किया है। शबर स्वामीका समय २५० से ४०० ई० तक अनुमान किया जाता है। स्वामी समन्तभद्रका भी यही समय है। विद्वान् जानते हैं कि मीमांसक वेदको अपौरुषेय और स्वतःप्रमाण मानते हैं। उनके मतानुसार वेद भूत, वर्तमान, भावि तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अर्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ हैं। इसीसे वह किसी सर्वज्ञको नहीं मानते। किन्तु जैन वेदके प्रमाण्यको स्वीकार नहीं करते और जिनेन्द्रको सर्वज्ञ सर्वदर्शी मानते हैं। अतः समन्तभद्रने शाबर भाष्यके विरोधमें यदि सर्वज्ञकी सिद्धि हेतुवादके द्वारा की हो तो कोई अयुक्त बात नहीं है। शायद इसीसे शाबरभाष्यके व्याख्याकार कुमारिलने समन्तभद्रकी सर्वज्ञताविषयक मान्यताको खूब आड़े हाथों लिया है और उसका परिमार्जन अकलंकदेवने अपने न्यायविनिश्चयमें किया है।

इस प्रकार समन्तभद्रने जैन न्यायकी स्थापना करके उसे जो कुछ दिया उसे संक्षेपमें इस प्रकार कह सकते हैं—

१. जैन वाङ्मयके प्राण अनेकान्तवाद और उसके फलित सप्तभंगीवादकी प्रक्रियाको प्रदर्शित करके दर्शनशास्त्रकी प्रत्येक दिशामें उनका व्यावहारिक उपयोग करनेकी प्रणालीको प्रचलित किया।[1]

२. अनेकान्तमें अनेकान्तकी योजना करनेकी प्रक्रिया बतलायी।[2]

---

१. देखो आप्तमीमांसा। २. स्वयंभूस्तोत्र, श्लो० १०३।

२

३. प्रमाणका दार्शनिक लक्षण[१] और फल[२] बतलाया।

४. स्याद्वादकी परिभाषा स्थिर की।[३]

५. श्रुत प्रमाणको स्याद्वाद और विशकलित अंशोंको नय बतलाया।

६. सुनय और दुर्नयकी व्यवस्था की।[४]

आचार्य समन्तभद्रकी उपलब्ध रचनाओंमें दार्शनिक दृष्टिसे तीन रचनाएँ उल्लेखनीय हैं – आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र। इन तीनोंमें भी आप्तमीमांसा विशिष्ट कृति है। इसमें एक सौ चौदह कारिकाएँ या श्लोक हैं। अन्तिम कारिकामें कहा है कि सम्यक् और मिथ्या उपदेशोंके भेदको समझानेके लिए इस आप्तमीमांसाकी रचना की गयी। इसका प्रारम्भ इसके नामके अनुसार आप्तकी मीमांसासे होता है। पाँचवीं कारिकामें अनुमान प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञताकी सिद्धि करके छठी कारिकामें कहा है कि वह सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव, तुम ही हो क्योंकि तुम निर्दोष हो और तुम्हारे वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हैं। और युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध इसलिए हैं कि आपके द्वारा प्रतिपादित मोक्षादि तत्त्व प्रमाणसे बाधित नहीं होते, जब कि आपके मतसे बाह्य एकान्तवादियोंका एकान्त तत्त्व प्रत्यक्षसे बाधित हैं; क्योंकि एकान्तवादमें न तो परलोक ही बनता है और न पुण्य पाप कर्म ही बनते हैं।

इस प्रकारसे आदिकी आठ कारिकाओंके द्वारा भूमिका बाँधकर समन्तभद्रने सबसे प्रथम भावैकान्त और अभावैकान्तकी समीक्षा की है। उसके पश्चात् परस्पर निरपेक्ष उभयैकान्त और अवाच्यैकान्तमें दोषापादन किया है। पुनः लिखा है—

"कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥"

[आप्तमीमांसा श्लो० १४]

हे जिनेन्द्र आपके मतमें वस्तु कथञ्चित् सत् ही है, कथञ्चित् असत् ही है, कथञ्चित् सत् असत् ही है और कथञ्चित् अवाच्य ही है। ऐसा नय दृष्टिसे है, सर्वथा नहीं।

अर्थात् न कोई सर्वथा सत् ही है, न सर्वथा असत् ही और न सर्वथा अवाच्य ही है। किन्तु स्वरूपकी अपेक्षा वस्तु सत् है और पररूपकी अपेक्षा वस्तु असत्

१. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्—स्वयम्भू० श्लो० ६३। २. 'उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः। १०२॥-आ० मी०। ३. आ० मी० श्लो० १०४। ४. आ० मी० श्लो० १०६।

है। यदि ऐसा नहीं माना जाता तो कोई भी वादी इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था नहीं कर सकता; क्योंकि वस्तुकी व्यवस्था स्वरूपके उपादान और पररूपके त्यागपर ही निर्भर है। यदि वस्तुको स्वरूपकी तरह पररूपसे भी सत् माना जाये तो चेतनके अचेतन होनेका प्रसंग आता है। यदि वस्तुको पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत् माना जाये तो सर्वथा शून्यताका प्रसंग आता है। इस तरह आचार्य समन्तभद्रने सप्तभंगीके आद्य चार भंगोंका उपपादन करके लिखा है—

"शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः।
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र तव शासने॥"

[आप्तमीमांसा श्लो० २०]

शेष तीन अंग भी उक्त नययोजनासे लगा लेने चाहिए। हे मुनीन्द्र, आपके मतमें कोई विरोध नहीं है।

भावैकान्त और अभावैकान्तकी ही तरह आगे अद्वैतैकान्त, द्वैतैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, दैववाद, पुरुषार्थवाद, हेतुवाद, आगमवाद आदि एकान्तवादोंकी समीक्षा करके अन्तमें नय दृष्टिसे सबका समन्वय करते हुए अनेकान्तवादकी सर्वत्र स्थापना की है। इन एकान्तवादोंमें सम्भवतया उस समयके सभी दर्शनोंका समावेश हो जाता है और इस तरह समन्तभद्रने अनेकान्तवादकी स्थापनाके व्याजसे सभी दर्शनोंकी समीक्षा की है।

पहले हम लिख आये हैं कि जैन दर्शन द्रव्यको गुणपर्यायात्मक मानता है उसीका विश्लेषणात्मक दूसरा लक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। अर्थात् वस्तु प्रतिसमय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव रहती है, इस तरह वह त्रयात्मक है। इसीको सिद्ध करते हुए समन्तभद्रने कहा है—

"न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥"

[आप्तमीमांसा श्लो० ५७]

सामान्यरूपसे वस्तु न उत्पन्न होती है न नष्ट होती है; क्योंकि सामान्यरूप वस्तुकी प्रत्येक दशामें स्पष्ट अनुस्यूत देखा जाता है। अतः अन्वयरूपसे वस्तु ध्रुव है। और विशेषरूपसे नष्ट होती और उत्पन्न होती है। अतः एक वस्तुमें उत्पाद आदि तीनों एक साथ रहते हैं। तीनोंके समुदायका नाम ही सत् है।

आगे इसे दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥"

[आप्तमीमांसा श्लो० ५९]

एक राजाके पास सोनेका घड़ा है। राजपुत्रीको वह घड़ा प्रिय है। किन्तु राजपुत्र उसको तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। जब घड़ेको तोड़कर मुकुट बना तो लड़कीको घटके नाशसे शोक हुआ, और राजपुत्रको मुकुट बनता देखकर प्रसन्नता हुई। किन्तु राजा मध्यस्थ रहा उसे न शोक हुआ न हर्ष; क्योंकि वह तो स्वर्णार्थी था और सुवर्ण घट और मुकुट दोनों दशाओंमें वर्तमान था। अतः एक ही वस्तुको लेकर एक ही साथ तीन व्यक्तियोंके जो तीन प्रकारके भाव हुए वे सहेतुक हैं। इसलिए वस्तु त्रयात्मक है।

मीमांसक कुमारिलने भी समन्तभद्रके ही दृष्टान्तको उन्हींके शब्दोंमें व्यक्त करते हुए सामान्यनित्यताको स्वीकार किया है—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभङ्गानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥"

[मीमांसाश्लो० वा० श्लो० २१-२३]

अर्थात् जब सोनेके प्यालेको तोड़कर उसकी माला बनायी जाती है तब प्यालेके अर्थीको शोक होता है, मालाके अर्थीको प्रसन्नता होती है, किन्तु सुवर्णके अर्थीको न शोक होता है और न प्रसन्नता। अतः वस्तु त्रयात्मक है। क्योंकि उत्पाद स्थिति और विनाशके अभावमें तीन प्रकारकी बुद्धियाँ नहीं हो सकतीं – नाशके बिना शोक नहीं हो सकता, उत्पादके बिना सुख नहीं हो सकता और स्थितिके बिना माध्यस्थ्य नहीं हो सकता अतः सामान्य नित्य भी है।'

समन्तभद्र स्वामीने स्याद्वादका लक्षण इस प्रकार किया है—

"स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥"

[आप्तमीमांसा श्लो० १०४]

अर्थात् किञ्चित् कथञ्चित् कथञ्चन आदि स्याद्वादके पर्याय शब्द हैं। वह स्याद्वाद सर्वथा एकान्तोंका त्याग करके अर्थात् अनेकान्तको स्वीकार करके सात भङ्गों और नयोंकी अपेक्षासे हेय और उपादेयका भेदक है। अर्थात् स्याद्वादके बिना हेय और उपादेयकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

समन्तभद्र स्वामीने स्याद्वादको श्रुतप्रमाण स्थापित करके उसके भेदोंको नय कहा है। यथा—

"स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः।"

[आप्तमीमांसा श्लो० १०४]

स्याद्वादके द्वारा गृहीत अर्थके विशेषोंको जो व्यक्त करता है उसे नय कहते हैं।

असलमें अनेकान्तात्मक अर्थका प्ररूपक स्याद्वाद है और उसीके फलित वाद सप्तभंगीवाद और नयवाद हैं। ये तीनों वाद जैनन्यायकी ही विशेष देन हैं क्योंकि जैन दर्शन अनेकान्तवादी है और अनेकान्तवादका प्ररूपण स्याद्वादके बिना नहीं हो सकता। किन्तु स्याद्वादके द्वारा प्ररूपित अनेकान्तात्मक वस्तुमें-से जब कोई वक्ता या ज्ञाता किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुचर्चा करता है जैसे बौद्धदर्शन वस्तुको क्षणिक मानता है और अन्य दर्शन किसीको नित्य या किसीको अनित्य ही मानते हैं, तो यह एकान्तवादी दृष्टि नय है। किन्तु नय तभी सुनय है जब वह इतर दृष्टियोंसे निरपेक्ष न हो, अन्यथा वह दुर्नय कहा जायेगा क्योंकि वस्तु एकान्तरूप ही नहीं है। अतः निरपेक्ष प्रत्येक नय मिथ्या है किन्तु सब नयोंका सापेक्ष समूह मिथ्या नहीं है। यही बात समन्तभद्र स्वामीने कही है—

"मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥"

[आप्तमीमांसा श्लो० १०८]

समन्तभद्र स्वामीके दूसरे ग्रन्थ युक्त्यनुशासनमें ६४ पद्य हैं। उनके द्वारा भगवान् वर्धमान महावीरकी स्तुतिके व्याजसे एकान्तवादी दर्शनोंका निराकरण करते हुए महावीर भगवान्के मतको अद्वितीय और उनके तीर्थको सर्वोदय तीर्थ बतलाया है—

"सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं दुरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥"

[युक्त्यनुशासन श्लो० ६१]

हे वीर भगवान् ! आपका तीर्थ सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, एक-अनेक, विधि-निषेध आदि परस्परमें विरुद्ध प्रतीत होनेवाले सब धर्मोंके समन्वयको लिये हुए है, साथ ही गौण और मुख्यकी कल्पनाको लिये हुए है अर्थात् अनेकधर्मात्मक वस्तुमें-से जो धर्म विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है और जो अविवक्षित होता है वह गौण कहलाता है। इसीसे उसमें विरोधको स्थान नहीं है। किन्तु जो मत इस अपेक्षावादको स्वीकार नहीं करता और सर्वथा निरपेक्ष वस्तु धर्मको स्वीकार करता है, उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व बन नहीं सकता, अतः वह सब धर्मोंसे शून्य हो ठहरता है। इसलिए आपका ही तीर्थ सब दुःखोंका अन्त करनेवाला है, निरन्त है – उसका खण्डन करना शक्य नहीं है। अतः वह सबके अभ्युदयका कारण होनेसे सर्वोदय तीर्थ है।

सात भंगोंका उपपादन करते हुए कहा है—

"विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधा अमी स्याच्छब्दनेयाः सकलार्थभेदे ॥"

[युक्त्यनुशासन श्लो० ४५]

विधि, निषेध और अनभिलाप्यता अर्थात् स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्य एव ये एक-एक करके तीन मूल विकल्प हैं। इनके साथ इनके विपक्षभूत धर्मको मिलानेसे द्विसंयोगी भंग तीन होते हैं—स्यादस्ति नास्त्येव, स्यादस्ति अवक्तव्य एव, स्यान्नास्ति अवक्तव्य एव। और एक त्रिसंयोग भंग होता है—स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य एव। इस तरह ये सात भंग सम्पूर्ण अर्थभेदमें घटित होते हैं। और ये भंग स्यात् पदके द्वारा नेय हैं।

इसी प्रकार अन्य पद्योंके द्वारा एकान्तवादी दर्शनोंके विविध मन्तव्योंका निराकरण करते हुए ग्रन्थकारने युक्त्यनुशासन नामको सार्थक सिद्ध किया है—

"दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।"

[युक्त्यनुशासन श्लो० ४८]

प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध अर्थका प्ररूपण युक्त्यनुशासन है और आपको वही अभिमत है।

तीसरा ग्रन्थ स्वयम्भूस्तोत्र चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनके रूपमें है किन्तु यह स्तवन भी दार्शनिक चर्चाओंसे ओतप्रोत है। उसमें भी पाँचवाँ सुमतिजिन स्तवन, नौवाँ सुविधिजिन स्तवन, ग्यारहवाँ श्रेयोजिन स्तवन, तेरहवाँ विमल जिन स्तवन और अट्ठारहवाँ अरजिन स्तवन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें स्याद्वाद,

अनेकान्तवाद और नयवादोंकी दृष्टिसे वस्तु स्वरूपका सम्यक् विश्लेषण किया गया है—

"न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥"

[स्वयंभूस्तोत्र श्लो० २४]

यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो उसमें उत्पाद व्यय नहीं हो सकता, और न उसमें क्रिया-कारककी ही योजना बन सकती है। जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। बुझनेपर दीपकका सर्वथा नाश नहीं होता, वह उस समय अन्धकार रूप पुद्गल पर्यायके रूपमें अपना अस्तित्व रखता है।

नौवें सुविधि जिनके स्तवनमें वस्तुको नित्यानित्यात्मक सिद्ध करते हुए लिखा है—

"नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥"

[स्वयंभूस्तोत्र श्लो० ४३]

यह वही है इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं, अनित्य है। इस प्रकार वस्तुका नित्य और अनित्यपन आपके मतमें विरुद्ध नहीं है क्योंकि वह बाह्य और अन्तरंग निमित्त और उनसे होनेवाले कार्यके सम्बन्धको लिये हुए है। अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके योगसे उत्पन्न हुआ घट अन्तरंग कारण मृतिकाकी अपेक्षा नित्य है और बहिरंग कारणके योगसे उत्पन्न हुई घट पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है।

अठारहवें अरजिन स्तोत्रमें अनेकान्त दृष्टिको सच्ची बतलाते हुए लिखा है—

"अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥"

[स्वयंभूस्तोत्र श्लो० ९८]

आपकी अनेकान्त दृष्टि सच्ची है। उसके विपरीत जो एकान्त मत है वह शून्य रूप असत् है। अतः अनेकान्त दृष्टिसे रहित जो कथन है वह सब मिथ्या है क्योंकि वह अपना ही घातक है।

"सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥"
[स्वयंभूस्तोत्र श्लो० १०१]

सत् एक, नित्य, वक्तव्य और इसके विपक्ष रूप असत् अनेक अनित्य अवक्तव्य ये जो नय हैं—वस्तुके एक-एक धर्मके ग्राही हैं, वे सर्वथा रूपमें तो अति दोषयुक्त हैं और स्यात् रूपमें पुष्टिकारक हैं । अर्थात् सर्वथा सत्, सर्वथा एक, सर्वथा नित्य, सर्वथा वक्तव्य या सर्वथा असत्, सर्वथा अनेक, सर्वथा अनित्य, सर्वथा अवक्तव्य रूपसे जो एकान्तवादी पक्ष हैं वे सब दोषयुक्त हैं, मिथ्या हैं । किन्तु यदि उनके साथ 'सर्वथा' के स्थानमें स्यात् या कथञ्चित् प्रयुक्त किया जाये कि स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य आदि, तो वे सम्यक् होनेसे वस्तुके स्वरूपके पोषक होते हैं ।

किन्तु इस प्रकारका स्याद्वाद जैन न्यायमें ही है—

"सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥"
[स्वयंभूस्तोत्र श्लो० १०२]

सर्वथा रूपसे कथन करनेके नियमका त्यागी और यथादृष्टको अपेक्षामें रखनेवाला स्यात् शब्द आप जिन देवके ही न्यायमें है, दूसरे जो स्वयं अपना घात करनेके कारण अपने ही वैरी हैं, उन एकान्तवादियोंके न्यायमें नहीं है ।

इस श्लोकके पूर्वार्धमें स्याद्वादका स्वरूप बड़े सुन्दर और सरल ढंगसे बतलाया है । जो सर्वथाके नियमको नहीं मानता तथा जिस सत् असत् रूपसे वस्तु प्रतीत होती है, अपेक्षा भेदसे उसको स्वीकार करनेवाला स्याद्वाद है । जैसे द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु द्रव्यरूपसे नित्य है और पर्यायरूपसे अनित्य है । इसी स्तोत्रका आगामी पद्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अनेकान्तवादी सबको अनेकान्तात्मक मानते हैं । तब अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक हुआ । अतः अनेकान्त है और नहीं भी है, ऐसा कहनेपर अनेकान्त नहीं भी है तो एकान्तवाद आ जाता है । इस आपत्तिका परिहार करते हुए स्वामी समन्तभद्रने नीचे लिखे अनुसार अनेकान्तमें अनेकान्तत्व की योजना की है—

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥"
[स्वयंभूस्तोत्र श्लो० १०३]

आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नय दृष्टिसे अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्त सिद्ध होता है और विवक्षित नयदृष्टिसे अनेकान्तमें एकान्तरूप सिद्ध होता है।

समन्तभद्रके इस कथनका विश्लेषण अकलंकदेवने अपने [1]तत्त्वार्थवार्तिकमें किया है। अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्याके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। प्रमाणके द्वारा निरूपित वस्तुके एकदेशको सयुक्ति ग्रहण करनेवाला सम्यगेकान्त है। और एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तुमें युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मोंको ग्रहण करनेवाला सम्यगनेकान्त है तथा वस्तुको तत् अतत् आदि स्वभावसे शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मोंकी मिथ्या कल्पना करनेवाला अर्थशून्य वचन-विलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यग् एकान्त नय कहलाता है तथा सम्यगनेकान्त प्रमाण। यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाये और एकान्तका लोप किया जाये तो सम्यगेकान्तके अभावमें शाखादिके अभावमें वृक्षके अभावकी तरह एकान्तोंके समुदायरूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायेगा। और यदि एकान्त ही माना जाये तो अविनाभावी अन्य धर्मोंका लोप होनेपर प्रकृत धर्मका भी लोप होनेसे सर्वलोपका प्रसंग आता है।

स्वयम्भू स्तोत्रके अन्तिम महावीर जिनस्तवनमें स्याद्वादको अनवद्य बतलाते हुए समन्तभद्रने अपने स्तवनको पूर्ण किया है—

> *"अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।*
> **इतरो न स्याद्वादः सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः॥"**
> [स्वयंभूस्तोत्र श्लो० १३८]

हे मुनीश्वर! 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथनको लिये हुए आपका जो स्याद्वाद है, वह निर्दोष है, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगमादि प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है। दूसरा जो 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथनसे रहित सर्वथा एकान्तवाद है, वह निर्दोष नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष और आगमादि प्रमाणोंसे विरुद्ध है।

इस प्रकार समन्तभद्रने अपने स्तुतिपरक दार्शनिक प्रकरणोंके द्वारा स्याद्वादका संस्थापन, विवेचन और संवर्धन किया। और इस तरह वे स्याद्वादके जनक कहलाये।

आचार्य सिद्धसेनकी कृतियोंमें सन्मतितर्क विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा प्राकृत है। यह तीन काण्डोंमें विभक्त है। इसमें एक सौ छयासठ पद्य हैं। पहले

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक १।६।७।

काण्डको नय काण्ड नाम दिया है। इसमें ग्रन्थकारने मुख्य रूपसे नयवाद और सप्तभंगीवादकी चर्चा की है। प्रथम उन्होंने अनेकान्तदृष्टिकी आधारभूत सामान्यग्राही द्रव्यास्तिक और विशेषग्राही पर्यायास्तिक दृष्टिका पृथक्करण करके उनमें नयोंका विभाग किया है। तत्त्वार्थसूत्र (१-३३) में नय सात बतलाये हैं। किन्तु सिद्धसेनने सात नयोंको छहमें संकलित किया है। उनका मन्तव्य है कि नैगम कोई स्वतन्त्र नय नहीं है, संग्रहसे एवम्भूतनय तक छह नय ही स्वतन्त्र हैं। नयनिरूपणमें यह उनकी अपनी विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि द्रव्यार्थिक नयकी मर्यादा ऋजुसूत्र नय तक थी। सिद्धसेनने उसे व्यवहार नय तक ही रखा। उनका कहना है कि ऋजुसूत्रसे लेकर सभी नय पर्यायास्तिक नयकी मर्यादामें आते हैं।

नयवादकी चर्चामें सिद्धसेनने मुख्य तीन बातें कही हैं–दोनों मूल नयोंका सम्बन्ध, वस्तुके लक्षणका दोनों नयोंके द्वारा पृथक्करण और दो नयोंमें ही उसकी पूर्णता, किसी एक ही नयके स्वीकारमें बन्ध मोक्षकी अनुपपत्ति। नयके कथनके बाद सिद्धसेनने सप्तभंगीवादकी चर्चा करके उसकी संयोजना मूल दो नयोंमें की है। उन्होंने व्यंजन तथा अर्थ पर्यायकी स्पष्ट चर्चा करके उसमें सप्तभंगीका नियोजन किया है। उनसे पूर्वकालीन उपलब्ध साहित्यमें यह चर्चा दृष्टिगोचर नहीं होती।

दूसरे काण्डमें ज्ञान और दर्शनकी मीमांसा है। श्वेताम्बरीय आगम साहित्यमें केवलज्ञान और केवलदर्शनकी उत्पत्ति क्रमसे मानी गयी है। और दिगम्बर परम्परामें इन दोनोंकी उत्पत्ति युगपत् मानी गयी है। इन दोनों मतोंके सामने सिद्धसेनने तर्कके बलपर अभेदवादकी स्थापना की। उसकी स्थापना करते हुए उन्होंने कहा—

"मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसण ति णाणं तिय समाणं॥"

[सन्मतितर्क गा० २।१३]

ज्ञान और दर्शनका कालभेद मनःपर्ययज्ञान तक है। परन्तु केवलज्ञानके विषयमें दर्शन और ज्ञान ये दोनों समान हैं अर्थात् एक हैं।

इस अभेदवादपर आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा नियमसारमें निश्चय दृष्टिसे की गयी ज्ञान-दर्शन विषयक चर्चाका प्रभाव परिलक्षित होता है।

अनेकान्त दृष्टिसे ज्ञेयतत्त्व कैसा होना चाहिए, इसकी चर्चा प्रधान रूपसे तीसरे काण्डमें है। जैसे समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें सप्तभंगीके प्ररूपणके प्रसंगसे सत्-असत्, द्वैत-अद्वैत, एकत्व-पृथक्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, दैव-पुरुषार्थ

आदि अनेक वादोंकी चर्चा करके अन्तमें अनेकान्त दृष्टिसे अपना मन्तव्य स्थापित किया है उसी प्रकार सिद्धसेनने भी सामान्यवाद, विशेषवाद, अस्तित्ववाद, नास्तित्ववाद, आत्मस्वरूपवाद, द्रव्य और गुणका भेदाभेदवाद, तर्क और आगम-वाद, कार्य और कारणका भेदाभेदवाद, काल आदि पाँच कारणवाद, आत्माके विषयमें नास्तित्व आदि छह और अस्तित्व आदि छह वाद, इत्यादि अनेक विषयों-का निरूपण करते हुए उनके गुण-दोष बतलाये हैं। और एकान्तवादकी पराजेयता और अनेकान्तवादकी अजेयता सूचित की है।

इस काण्डमें सिद्धसेनने पर्यायार्थिक नयकी भाँति गुणार्थिक नयको भिन्न माननेकी जो चर्चा उठायी है (३,८-१५) वह उनके पहलेके साहित्यमें दृष्टिगोचर नहीं होती। अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें और विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-में भी उस चर्चाको उठाया है, जो अवश्य ही सन्मतितर्ककी देन है।

इसी काण्डमें नयवादकी चर्चा करते हुए कहा है कि 'जितने वचनोंके मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं; और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं।' इस तरह जब प्रत्येक परसमय नयवाद है, तो किस नयमें किस परसमयका समावेश होता है, यह शंका होना स्वाभाविक है। उसके समाधानके लिए सिद्धसेनने कहा है कि जो सांख्यदर्शन है, वह द्रव्यास्तिकका वक्तव्य है, और बौद्ध दर्शन परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका विकल्प है तथा कणादने यद्यपि दोनों नयोंसे अपने दर्शनकी प्ररूपणा की है, फिर भी वह प्रमाण नहीं है; क्योंकि दोनों नयोंके द्वारा सापेक्ष कथन न करके निरपेक्ष कथन किया गया है। (गा० ३,४७-४९)। इस तरह दर्शनोंको नयवादमें योजना की है। और अन्तमें जिनवचनको मिथ्या दर्शनोंका समूह रूप बतलाया है। इस तरह सिद्धसेनने भी सन्मतितर्कके द्वारा अनेकान्त दृष्टिके फलितवाद सप्तभंगी और नयोंका निरूपण करके जैनन्यायकी दृष्टिको परिपुष्ट किया।

सन्मति तर्कके अतिरिक्त बाईस बत्तीसियोंको भी सिद्धसेनकी कृति माना जाता है। यद्यपि इसमें विवाद भी है। इन्हींमें एक न्यायावतार भी है। जैन न्यायकी दृष्टिसे वह महत्त्वपूर्ण है। आचार्य समन्तभद्रने तो केवल न्याय शब्दका प्रयोग करके उसे स्याद्वादके साथ संयुक्त किया था, किन्तु सिद्धसेनने न्यायावतार-की रचना करके जैन दर्शनमें उसका अवतरण ही कर दिया। न्यायावतारमें प्रमाणकी चर्चा शुरू करके अन्तमें परार्थानुमानकी ही विस्तारसे चर्चा की है और जैन दृष्टिसे पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, हेत्वाभास आदिके लक्षण दिये हैं। आचार्य समन्तभद्रने स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमाण कहा था, किन्तु न्यायावतारमें उसमें 'बाधविवर्जित' पद जोड़ दिया गया है—

"प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्"
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥१॥

अर्थात् स्व और परको जाननेवाले बाधारहित ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। प्रमेयके दो प्रकार होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष।

नीचे लिखा श्लोक कुमारिलकर्तृक माना जाता है—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥"

इसमें भी 'बाधवर्जित' पद आया है। पं० सुखलालजी ने प्रमाणमीमांसाके अपने भाषा टिप्पण (पृ० ५१) में लिखा है—'सिद्धसेन दिवाकरकी कृति रूपसे माने जानेवाले न्यायावतारमें जैन परम्परानुसारी प्रमाणलक्षणमें जो 'बाधविवर्जित' पद है वह अक्षपादके (न्याय सू० १–१–४) प्रत्यक्ष लक्षणगत अव्यभिचारी पदका प्रतिबिम्ब है या कुमारिलकर्तृक समझे जानेवाले 'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणं बाधवर्जितम्' लक्षणगत 'बाधवर्जित' पदकी अनुकृति है या धर्मकीर्तीय (न्यायवि० १.४) अभ्रान्त पदका रूपान्तर है या स्वयं दिवाकरका मौलिक उद्भावन है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।' इस तरह पण्डितजीने उसे विचारणीय प्रश्न कहकर छोड़ दिया है। किन्तु आगे न्यायावतारकी कारिका ५ और ६ में अनुमान और प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अभ्रान्त' पद है जो स्पष्ट ही धर्मकीर्तिके प्रत्यक्षके लक्षण "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" (न्या० वि० ४) का ऋणी प्रतीत होता है। इस सत्यको स्वीकार करते हुए भी पण्डितजी शायद इसीलिए अस्वीकार करते हैं कि सन्मतितर्कके कर्ता सिद्धसेन दिवाकर धर्मकीर्तिसे पहले हुए हैं और न्यायावतारको उन्हींकी कृति माना जाता है। वह लिखते हैं 'धर्मकीर्तिके समग्र हेतुबिन्दुकी तुलना की जा सके ऐसी सिद्धसेनकी कोई कृति इस समय हमारे सामने नहीं है परन्तु उनके न्यायबिन्दुके साथ आद्यन्त तुलना की जा सके ऐसी एक कृति तो सौभाग्यसे बची है और वह है न्यायावतार। न्यायबिन्दुमें प्रमाण सामान्यकी चर्चा होनेपर भी उसमें अनुमानकी और खास करके परार्थ अनुमानकी ही चर्चा मुख्य और विस्तारसे है। न्यायावतारमें भी वही वस्तु है।'

न्यायबिन्दु और न्यायावतारमें जो वस्तुसाम्य है, वह ऐसा नहीं है कि उसपरसे केवल इतना ही अनुमान किया जा सके कि दोनोंके सामने अमुक-अमुक परम्परा थी। वस्तुसाम्यके साथ शब्दसाम्य भी तो उल्लेखनीय है। न्यायावतारकी उक्त प्रथम कारिकाके उत्तरार्धको पढ़ते ही धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिकके

शब्द "मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात् ।" (प्र० वा० २।१) का बलात् स्मरण होता है। तथा छठी कारिकाके पूर्वार्ध "न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्ववि-निश्चयात्" को देखते ही धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चय नामक ग्रन्थकी स्मृति स्वभावतः हो आती है। अतः धर्मकीर्तिके न्यायविन्दुके साथके साम्य तथा प्रमाणके लक्षणमें आगत बाधवर्जित पदसे तथा अन्य भी कुछ संकेतोंसे न्यायावतार धर्मकीर्ति और कुमारिलके पश्चात् रचा गया प्रतीत होता है और इसलिए यह उन सिद्धसेनकी कृति नहीं हो सकता, जो पूज्यपाद देवनन्दिके पूर्ववर्ती हैं।

न्यायावतार आचार्य समन्तभद्रकी कृतियोंका भी ऋणी है। इसकी आठवीं कारिकामें शाब्द प्रमाणका लक्षण इस प्रकार किया है—

"दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥८॥"

इसीके पश्चात् शास्त्रका लक्षण किया है—

"आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥"

[रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ९]

पहली कारिकाके 'दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्' तथा 'तत्त्वग्राहि' पद और दूसरी कारिकाके 'अदृष्टेष्टविरोधकम्' और 'तत्त्वोपदेशकृत्' पद समानार्थक हैं। 'परमार्थाभिधायिनः आप्तोपज्ञम्' में भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। दूसरी कारिका समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार की है। उसमें देव गुरु शास्त्रका लक्षण करते हुए शास्त्रके लक्षणके रूपमें उक्त कारिका है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायावतारकी आठवीं कारिका उसीके आधारपर रची गयी है और प्रमाण रूपसे नौवी कारिका उपस्थित की गयी है। अन्यथा शाब्द प्रमाणका लक्षण कहकर शास्त्रका लक्षण कहनेका कोई तुक नहीं है।

इसी तरह न्यायावतारकी कारिका २८ पर भी समन्तभद्रके आप्तमीमांसाकी कारिका १०२ की छाया प्रतीत होती है। फिर भी यह सम्भव है कि जैन परम्परामें न्यायका अवतरण करनेका श्रेय इसी ग्रन्थको हो जैसा कि इसके नामसे व्यक्त होता है।

आचार्य श्रीदत्त—अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (१-१३-१) में इति शब्दका अर्थ शब्दप्रादुर्भाव करते हुए 'श्रीदत्तम् इति, सिद्धसेनमिति' उदाहरण दिया है। जिससे प्रकट होता है कि सिद्धसेनसे सम्भवतया पहले श्रीदत्त नामके कोई आचार्य हुए हैं। स्वामी विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ०

२८०) में श्रीदत्तको[1] ६३ वादियोंका जेता बतलाते हुए उनके जल्पनिर्णय नामक ग्रन्थका निर्देश किया है—

"द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४८॥"

अक्षपाद गौतमके न्यायसूत्रमें जिन सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष माना गया है उनमें वाद, जल्प और वितण्डा भी हैं। वादी और प्रतिवादीके मध्यमें जो शास्त्रार्थ होता है उसे वाद कहते हैं। जल्प और वितण्डा भी उसीके प्रकार हैं, जो नैयायिकोंकी दृष्टिसे कुछ भेदको लिये हुए हैं। श्रीदत्त आचार्यने उनमें-से जल्पका निर्णय करनेके लिए जल्पनिर्णय नामक गन्थ रचा था। श्रीदत्त बड़े प्रकाण्ड प्रतिवादी थे। उन्होंने वादमें त्रेसठ वादियोंको जीता था। अतः निश्चय ही वह वादशास्त्रके पूर्ण पण्डित थे। और वादशास्त्रपर ग्रन्थ-रचना करते हुए उन्होंने वादमें उपयोगी हेतु, हेत्वाभास आदिकी चर्चा न की हो, ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता। किन्तु उनकी वह महत्त्वपूर्ण रचना आज अनुपलब्ध है इस लिए उसके सम्बन्धमें कुछ कहना शक्य नहीं है। किन्तु आचार्य विद्यानन्दके सम्मुख उसका ग्रन्थ अवश्य वर्तमान प्रतीत होता है। श्रीदत्त अकलंकदेवसे पहले हुए हैं, यह तो तत्त्वार्थवार्तिकमें उनके नामोल्लेखसे स्पष्ट ही है। सिद्धसेनसे पूर्व उनका नामोल्लेख होनेसे यह भी सम्भव है कि वह सिद्धसेनसे पहले हुए हों। जो कुछ हो किन्तु इतना निश्चित प्रतीत होता है कि जैनन्यायके निर्माणमें उनको भी देन अवश्य रही है।

स्वामी पात्रकेसरी—जिनसेनाचार्यने (विक्रमकी नवमी शती) अपने महा-[2] पुराणके प्रारम्भमें पात्रकेसरी नामके एक आचार्यका स्मरण किया है। तथा श्रवणबेलगोलाके चन्द्रगिरिपर्वतपर अंकित एक शिला[3]लेखमें लिखा है—

"महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥"

---

१ अपने महापुराणके प्रारम्भमें आचार्य जिनसेनके सिद्धसेन और समन्तभद्रके पश्चात् श्रीदत्तको नमस्कार करते हुए प्रवादिरूपी गजोंका भेदन करनेमें सिंहके तुल्य बतलाया है। यथा—'श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये। कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥४५॥'-प्रथम पर्व।

२. भट्टाकलंकश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः। विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥५३॥"—म० पु०, प्र० पर्व।

३. जैनशि० सं०, भाग १, पृ० १०३।

उस पात्रकेसरी गुरुकी उत्कृष्ट महिमा है, जिसकी भक्तिसे पद्मावती देवी त्रिलक्षण कदर्थन करनेके लिए सहायक हुई थी।

बौद्ध दार्शनिक हेतुका लक्षण त्रैरूप्य मानते हैं। आचार्य वसुबन्धुने भी त्रैरूप्यका निर्देश किया है, किन्तु उसका विकास करनेका श्रेय दिङ्नागको है। इसीसे वाचस्पति मिश्रने उसे दिङ्नागका सिद्धान्त कहा है। बौद्ध दार्शनिकोंके इसी त्रैरूप्य या त्रिलक्षणका कदर्थन (खण्डन) करनेके लिए पात्रकेसरी स्वामीने त्रिलक्षण कदर्थन नामके शास्त्रकी रचना की थी। अतः पात्रकेसरी दिङ्नाग (ईसाकी पाँचवीं शताब्दी) के पश्चात् होने चाहिए। त्रिलक्षणका कदर्थन करनेवाला उनका निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥"

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (विक्रमकी आठवीं शताब्दी) ने अपने तत्त्व संग्रहमें अनुमान परीक्षा नामक प्रकरणमें पात्रस्वामीके मतकी आलोचना करते हुए कुछ कारिकाएँ पूर्वपक्ष रूपसे दी हैं उनमें उक्त श्लोक भी है। उसकी क्रमिक संख्या १३६९ है। उक्त श्लोक अकलंकदेवके न्यायविनिश्चयके अनुमान प्रस्ताव नामक द्वितीय परिच्छेदमें भी आता है। न्यायविनिश्चयके टीकाकार वादिराजसूरिने इस श्लोककी उत्थानिकामें लिखा है—

"तदेवं पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्वं तत्र तत्र स्थाने प्रतिपाद्य····भगवत्सीमन्धरस्वामितीर्थंकरदेवसमवसरणाद् गणधरदेवप्रसादापादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्तिकं तदाह—।"

'उक्त प्रकारसे पक्षधर्मत्व आदिके बिना भी अन्यथानुपपत्तिके बलसे उस-उस स्थानमें हेतुको गमक बतलाकर, भगवान् सीमन्धर स्वामीके समवसरणसे गणधर देवके प्रसादसे प्राप्त करके पद्मावतीने जो वार्तिक पात्रकेसरी स्वामीको अर्पित किया था उसे कहते हैं'।

अकलंकदेवने अपने सिद्धिविनिश्चयके हेतुलक्षणसिद्धि नामक छठे प्रस्तावके प्रथम पद्यके द्वितीय चरणमें लिखा है—"प्रायो नालमलं प्रबोद्धुमलालीढं पदं स्वामिनः।" इसके 'अमलालीढं पदं स्वामिनः'का व्याख्यान करते हुए टीकाकार अनन्तवीर्यने लिखा है—

"अत्राह—अमलालीढम् अमलैः गणधरप्रभृतिभिः आलीढम् आस्वादितम्।···कस्य तत्? इत्यत्राह—स्वामिनः पात्रकेसरिण इत्येके। कुत एतत्? तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनम् उत्तरभाष्यं यतः कृतमिति चेत्; नन्वेवं

सीमन्धरभट्टारकस्य अशेषार्थसाक्षात्कारिणः तीर्थंकरस्य स्यात् तेन हि प्रथमं 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्' इत्येतत् कृतम्। कथमिदमवगम्यते चेत्? पात्रकेसरिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतमिति कथमवगम्यते इति समानम्। आचार्यप्रसिद्धेः इत्यादि समानमुभयत्र। कथा च महती सुप्रसिद्धा।" (सि० वि०, पृ० ३७१-३७२)।

इस व्याख्यासे ज्ञात होता है कि 'पद' शब्दसे टीकाकारने अन्यथानुपपन्नत्व आदि श्लोकको ग्रहण किया है और उसके विशेषण 'अमलालीढ'का अर्थ गणधरोंके द्वारा आस्वादित किया है। तथा 'स्वामिनः' शब्दके अर्थके सम्बन्धमें उत्तर-प्रत्युत्तर देते हुए लिखा है—'स्वामी शब्दसे कोई-कोई पात्रकेसरीका ग्रहण करते हैं। उनका कहना है कि पात्रकेसरीने त्रिलक्षण कदर्थन नामक उत्तरभाष्यकी रचना की थी और यह हेतुलक्षण उसी ग्रन्थका है। यदि ऐसा है तो इस हेतुलक्षणको सर्वदर्शी भगवान् सीमन्धर स्वामीका मानना चाहिए क्योंकि पहले उन्होंने ही 'अन्यथानुपपन्नत्व' आदि वाक्यकी रचना की थी। यदि कहा जाये कि इसके जाननेमें क्या साधन है तो पात्रकेसरीने त्रिलक्षणकदर्थनकी रचना की थी, इसके जाननेमें क्या साधन है? यदि कहा जाये कि यह बात आचार्यपरम्परासे प्रसिद्ध है तो उक्त श्लोकके सीमन्धर स्वामीरचित होनेमें भी प्रसिद्धि है ही। तथा इसके सम्बन्धमें कथा भी सुप्रसिद्ध है।''''आदि।

उक्त चर्चासे स्पष्ट है कि पात्रकेसरी स्वामीने त्रिलक्षणकदर्थन नामक ग्रन्थ रचा था। और वह ग्रन्थ अनुमान प्रमाणकी चर्चासे सम्बद्ध था। और बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षितके सामने उपस्थित था क्योंकि उन्होंने अपने तत्त्वसंग्रहके अनुमान परीक्षा नामक प्रकरणमें उससे कारिकाएँ उद्धृत करके उनकी आलोचना की है। अकलंकदेव भी शान्तरक्षितके पूर्वसमकालीन थे। अतः उन्होंने भी उस ग्रन्थको अवश्य देखा होगा। यह बात सिद्धिविनिश्चयके उक्त श्लोकमें आगत 'अमलालीढं पदं स्वामिनः' से ज्ञात होती है। अतः न्यायशास्त्रके मुख्य अंग हेतु आदिके लक्षणका उपपादन आदि अवश्य ही पात्रस्वामीकी देन है। श्वेताम्बर-परम्पराके ग्रन्थकारोंने भी पात्रस्वामीके ही अन्यथानुपपन्नत्वं आदि श्लोकको ग्रहण किया है। न्यायावतारके हेतु लक्षणको किसीने भी उद्धृत नहीं किया। सन्मति-टीकामें तथा स्याद्वादरत्नाकरमें तो उसे पात्रस्वामीके नामसे उद्धृत किया है।

"अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिनमाशङ्कते—नान्यथानुपपन्नत्व'''' (सन्मति टी० पृ० ५६०)। तदुक्तं पात्रस्वामिना-अन्यथानुपपन्नत्वं।" (स्या० रत्ना०, पृ० ५२१)।

मल्लवादी और सुमति—श्री मल्लवादीने सिद्धसेनके ग्रन्थ सन्मति तर्क-पर टीका लिखी थी, ऐसा निर्देश आचार्य हरिभद्रने[1] किया है। श्री मल्लवादी-द्वारा रचित ग्रन्थोंमें-से एक मात्र नयचक्र ग्रन्थ उपलब्ध है। वह भी मूल रूपमें नहीं, किन्तु उसपर सिंहसूरि गणि रचित (विक्रमकी छठी, सातवीं शताब्दी) टीका मिलती है।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (विक्रमकी आठवीं शती) ने अपने तत्त्वसंग्रहके अन्तर्गत स्याद्वाद परीक्षा (कारिका १२६२ आदि) और बहिरर्थपरीक्षा (कारिका १९४० आदि) में सुमति नामक दिगम्बराचार्यके मतकी आलोचना की है। उसी सुमतिने सिद्धसेनके सन्मति तर्कपर विवृति लिखी थी, ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख वादिराजसूरिके पार्श्वनाथ[2] चरित्रके प्रारम्भमें है और श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेण[3] प्रशस्तिमें उन्हें सुमति सप्तकका रचयिता कहा है। सुमतिका दूसरा नाम सन्मति भी था। इनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। जैन न्यायके विकासमें इन दोनों टीकाकारोंका योग अवश्य ही रहा है, पर क्या, कितना रहा, यह बतलानेका कोई साधन नहीं है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दके पश्चात् आचार्य सुमति तक जैनपरम्परामें जो दार्शनिक तत्त्वज्ञानी हुए उन्होंने प्रमाणकी रूपरेखा आगमिक शैलीसे निर्धारित करते हुए अनेकान्तवाद या स्याद्वाद और उसके फलितार्थ सप्तभंगीवाद और नय-वादके स्थापन और विवेचनकी ओर ही मुख्य रूपसे ध्यान दिया। और इस तरह जैनदर्शनको अनेकान्त दर्शनके रूपमें प्रतिष्ठित कर दिया। इसका मुख्य श्रेय आचार्य समन्तभद्रको है, उन्होंने उक्त विषयोंके सम्बन्धमें इतना विवेचन किया कि उसके पश्चात् उसमें कोई एकदम नयी चर्चा प्रविष्ट नहीं हो सकी। न्यायाव-तार-जैसा जैन न्यायकी व्यवस्थाको दर्शानेवाला एक-आध ग्रन्थ रचे जानेपर भी इस युगमें जैन न्यायकी न तो न्यायशास्त्रके रूपमें पूरी व्यवस्था हुई और न उस-विषयक साहित्यका ही निर्माण हुआ। यद्यपि न्याय शास्त्रके एक-एक अंगसे सम्बद्ध जल्पनिर्णय और त्रिलक्षणक दर्शन-जैसे ग्रन्थ रचे गये और उनसे जैन न्यायकी पूर्व भूमिकाका निर्माण हुआ, किन्तु दिङ्नागके न्याय प्रवेश और प्रमाण समुच्चय-जैसे तथा धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक-जैसे ग्रन्थ नहीं रचे गये और न जैन न्यायको पूरी रूपरेखा ही निर्धारित हो सकी।

---

१. उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ—अनेकान्तजयपताका पृ० ४७।

२. 'नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम्। सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥'

३. 'सुमतिदेवममुं स्तुत येन वः सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतम्। परिहृतापदतत्त्वपदार्थिनां सुमतिकोटिविवर्तिभवार्तिहृत् ॥ जै० शि० सं०, भाग १, पृ० १०३।

भट्ट अकलंक—जैन न्यायकी इस स्थितिमें जैनपरम्परामें अकलंक जैसे जैन न्यायके प्रस्थापक आचार्यका जन्म हुआ। उन्होंने सोचा कि जैनपरम्पराके सभी तत्त्वोंका निरूपण तार्किक शैलीसे संस्कृत भाषामें वैसा ही होना चाहिए जैसा ब्राह्मण और बौद्धपरम्परामें बहुत पहले हो चुका है। इस विचारसे प्रेरित होकर उन्होंने इतर दर्शनोंका विशेषतया बौद्ध दर्शनका अध्ययन करनेका संकल्प किया और आजीवन ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर विद्याध्ययनमें जुट गये। वह समय भारतीय दर्शनका मध्याह्न काल था। बौद्ध-परम्परामें दिङ्नागके पश्चात् धर्मकीर्ति-जैसे प्रखर तार्किकोंकी तूती बोलती थी तो ब्राह्मणपरम्परामें कुमारिल-जैसे उद्भट विद्वानोंके गर्जनकी प्रतिध्वनि मन्द नहीं हुई थी। दोनों ही महाविद्वानोंने अपनी-अपनी कृतियोंमें जैनपरम्पराके मन्तव्योंकी खिल्ली उड़ायी थी और समन्तभद्र-जैसे तार्किकका खण्डन किया था। उस सबको पढ़कर अकलंक देवने न्याय प्रमाण-विषयक अनेक प्रकरण रचे जिनमें दिङ्नाग और धर्मकीर्ति-जैसे बौद्धतार्किकोंकी और उद्योतकर, भर्तृहरि, कुमारिल-जैसे ब्राह्मण तार्किकोंकी उक्तियोंका निरसन करते हुए जैन मन्तव्योंकी स्थापना तार्किक शैलीसे की है। श्री पं० [1] सुखलालजीके शब्दोंमें 'अकलंकने न्याय प्रमाण शास्त्रका जैनपरम्परामें जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषाएँ, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदिका वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वाद, कथा आदि परमत प्रसिद्ध वस्तुओंके सम्बन्धमें जो जैन प्रणाली स्थिर की, संक्षेपमें अबतकमें जैन परम्परामें नहीं, पर अन्य परम्पराओंमें प्रसिद्ध ऐसे तर्क शास्त्रके अनेक पदार्थोंको जैन दृष्टिसे जैन परम्परामें जो सात्मीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मन्तव्योंको जिस तरह दार्शनिकोंके सामने रखने योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रन्थोंमें विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्वका तथा न्याय प्रमाण स्थापना युगका द्योतक है।'

अपने न्यायविनिश्चयके प्रारम्भमें अकलंक देवने लिखा है—

> बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः
> माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
> न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते
> सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥

कल्याणके इच्छुक अज्ञ जनोंके पूर्वोपार्जित पापके उदयसे गुणद्वेषी एकान्तवादियोंने न्यायशास्त्रको मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धिसे प्रेरित होकर हम उस

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ० ३६५।

मलिन किये गये न्यायको सम्यग्ज्ञान-रूपी जलसे किसी तरह प्रक्षालित करके निर्मल करते हैं।

अकलंक देवके समयमें भारतीय न्यायशास्त्र बहुत उन्नत हो चुका था। बौद्ध दर्शनके पिता दिङ्नागके पश्चात् उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी धर्मकीर्तिकी कीर्तिसे अन्य दार्शनिकोंकी कीर्ति धूमिल हो रही थी। प्रख्यात मीमांसक कुमारिल भट्टने मीमांसा दर्शनके शाबरभाष्यपर श्लोकवार्तिककी रचना करके समन्तभद्रके द्वारा की गयी सर्वज्ञकी सिद्धिको आड़े हाथों लिया था। प्रख्यात शाब्दिक भर्तृहरिने वाक्यपदीयकी रचना करके शब्दाद्वैतकी प्रतिष्ठा बढ़ायी थी। न्यायदर्शनके सूत्रोंपर उद्योतकारने न्यायवार्तिककी रचना करके न्यायदर्शनकी गरिमामें चार चाँद लगा दिये थे। शास्त्रार्थोंकी धूम थी। उनमें युक्तियोंके साथ छल, जाति और निग्रहस्थान-जैसे शस्त्रोंका भी प्रयोग किया जाता था। उनके संचालनमें निपुण हुए बिना विजय पाना दुर्लभ था। ऐसी स्थितिमें अकलंक देवको उत्तराधिकारके रूपमें जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई, वह अपर्याप्त थी। अतः न्यायके शोधन और अन्यायके परिमार्जनके लिए अनेकान्तवाद और अहिंसावादका अवलम्बन लेते हुए सात्विक उपायोंको परिपुष्ट करनेकी आवश्यकता थी। उसीकी पूर्ति अकलंकदेवने की।

न्यायशास्त्रका दूसरा नाम प्रमाणशास्त्र है। अतः सबसे प्रथम अकलंक देवने जैन आगमिक प्रमाणपद्धतिको प्रचलित तार्किक पद्धतिके अनुरूप व्यवस्थित किया। जैन आगमिक पद्धतिमें प्रमाणके दो मूल भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय और मन आदिकी सहायताके बिना जो ज्ञान आत्मासे होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, और जो ज्ञान उनकी सहायतासे होता है उसे परोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्षके तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें-से प्रारम्भके दो ज्ञान मात्र रूपी पदार्थोंको जानते हैं, इसलिए उन्हें विकल प्रत्यक्ष कहते हैं। किन्तु केवलज्ञान त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक पर्यायको प्रत्यक्ष जानता है, इसलिए उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। परोक्षके दो भेद हैं—मति और श्रुत। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाले प्राथमिक ज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले विशेष ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। जैनधर्ममें प्रमाणपद्धतिकी यह प्राचीन परम्परा है। इसमें मतिज्ञानको स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध भी[1] कहते थे। अन्यदर्शनोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान और अर्थापत्ति नामके प्रमाण माने जाते थे। उनमें परोक्ष नामका कोई प्रमाण

१. 'सण्णा सदी मदी चिंता चेदि ॥४१॥—षट् खं०, पु० १३, पृ० २४४।

नहीं था तथा जैनदर्शनमें अनुमान आदि नाम प्रचलित नहीं थे। न्यायावतारमें यद्यपि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंके साथ अनुमान और शाब्दप्रमाणका भी लक्षण कहा है, किन्तु वे किसके भेद हैं, इस विषयमें कुछ नहीं कहा गया है।

दूसरे, सब दर्शनोंमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है, जब कि जैनधर्म उसे परोक्ष कहता है। अत: दार्शनिकोंके बीचमें प्रमाणविषयक चर्चा छिड़नेपर जैनोंकी विचित्र स्थितिका होना स्वाभाविक था। अकलंक देवने बड़ी बुद्धिमानीसे प्रमाणविषयक सब गुत्थियोंको सदाके लिए इस खूबीसे सुलझाया कि उससे प्राचीन परम्पराका भी घात नहीं हुआ और दार्शनिक क्षेत्रकी सब कठिनाइयाँ भी सुलझ गयीं। उन्होंने तत्त्वार्थ सूत्रके 'तत्प्रमाणे' सूत्रको आदर्श मानकर प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद तो पूर्ववत् ही मान्य किये; किन्तु प्रत्यक्षके विकलप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष भेदोंके स्थानमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष भेद किये। तथा इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाले मतिज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्षके अन्तर्गत सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तनसे प्राचीन परम्पराको भी क्षति नहीं पहुँची और विपक्षियोंको भी क्षोद-क्षेम करनेका स्थान नहीं रहा। क्योंकि प्राचीन परम्परा इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञानको परोक्ष कहती थी और अन्य दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दे देनेसे मूल आगमिक दृष्टिका भी घात नहीं हुआ क्योंकि सांव्यवहारिकका अर्थ होता है—पारमार्थिक नहीं, अर्थात् व्यावहारिक रूपसे इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष है, परमार्थसे तो वह परोक्ष ही है। तथा विपक्षी दार्शनिकोंको भी उससे सन्तोष हो गया। असन्तोष था उसके परोक्ष नामसे, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दे देनेसे वह समाप्त हो गया।

परसापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्षकी परिधिमें सम्मिलित कर लेनेपर प्रत्यक्षकी परिभाषामें परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। अत: पुरानी आगमिक परिभाषाके स्थानमें संक्षिप्त और स्पष्ट परिभाषा निर्धारित की गयी। स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष[1] कहते हैं।

मतिको सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष मान लेनेपर उसके सहयोगी स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें सम्मिलित कर लिये गये। किन्तु इन सहयोगी ज्ञानोंमें मनकी प्रधानता होनेके कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके

१. 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः। परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः ॥३॥' —लघीयस्त्रय।

दो भेद किये गये एक इन्द्रिय[1] प्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्षमें मतिको गर्भित किया गया और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षमें स्मृति[2] आदिको।

मति स्मृति आदि प्रमाणोंको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाते हुए अकलंकदेवने लिखा है कि मति आदि तभीतक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष [illegible] उनमें शब्द-योजना नहीं की जाती। शब्दयोजना सापेक्ष होनेपर वे परोक्ष हो कहे जायेंगे। और उस अवस्थामें वे श्रुतप्रमाणके भेद होंगे। इस मन्तव्यसे प्रमाणोंकी दिशामें एक नया प्रकाश पड़ता है और उसके उजालेमें कई रहस्य स्पष्ट होते हैं। अतः उनके स्पष्टीकरणके लिए ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करना आवश्यक है।

गौतमने अपने न्यायसूत्रमें अनुमानके स्वार्थ और परार्थ भेद किये थे; किन्तु न्यायवार्तिककार उद्योतकरसे पहले नैयायिक किसी व्यक्तिको ज्ञान करानेके लिए परार्थानुमानकी उपयोगिता नहीं मानते थे। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नागने सर्व-प्रथम दोनों भेदोंका ठीक-ठीक अर्थ करके स्वार्थानुमान और परार्थानुमानके मध्यमें भेदकी रेखा खड़ी की। न्यायावतारमें परार्थानुमानको स्थान तो दिया गया, किन्तु उसके समन्वयका कोई प्रयत्न नहीं किया गया। पूज्यपाद[3] देवनन्दिने इस ओर ध्यान दिया। उन्होंने प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद करके श्रुत-प्रमाणको उभयरूप बतलाया। अर्थात् ज्ञानात्मक श्रुतज्ञानको स्वार्थ और वच-नात्मक श्रुतज्ञानको परार्थ कहा। किन्तु शेष मति आदि ज्ञानोंको स्वार्थ ही कहा। अकलंकदेवने आगमिक परम्परा और तार्किक पद्धतिको दृष्टिमें रखकर उक्त समस्याको दो प्रकारसे सुलझानेका प्रयत्न किया। आगमिक परम्परा[4] में तो उन्होंने पूज्यपादका ही अनुसरण किया और श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक भेद करके स्वार्थानुमान वगैरहका अन्तर्भाव अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें और परार्था-नुमान वगैरहका अन्तर्भाव अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें किया। किन्तु तार्किक क्षेत्रमें उन्हें अपने दृष्टिकोणमें परिवर्तन करना पड़ा, क्योंकि उस क्षेत्रमें श्रुतज्ञानका रूढ अर्थ मान्य नहीं हो सकता था, और इसका कारण यह था कि सांख्य आदि दर्शनोंमें शब्द या आगम प्रमाणके नामसे एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया था, जो केवल शब्दजन्य ज्ञानसे ही सम्बद्ध था। श्रुतप्रमाणसे भी उसीका बोध होता था; क्योंकि श्रुत शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'सुना हुआ' होता है। अतः

१. 'तत्र सांव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्'—लघी० विवृति का० ४।
२. 'अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्'—लघी० विवृति, का० ६१।
३. 'श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्'—सर्वार्थसिद्धि—१।६।
४. तत्त्वार्थ वार्तिक १।२०।१५।

अकलंकदेवने अपने [1]लघीयस्त्रयमें शब्दसंसृष्ट ज्ञानको श्रुत और शब्द असंसृष्ट ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष निर्धारित किया। [2]सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्वोपज्ञ विवृतिमें भी यही कथन है।

अकलंकके प्रमुख टीकाकार विद्यानन्दने स्मृति आदिको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना और न शब्दसंसृष्ट ज्ञानको श्रुत ही माना। उन्होंने प्रमाणपरीक्षा नामक अपने प्रकरणमें अकलंकदेवके मतानुसार प्रत्यक्षके इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद करके भी अवग्रहादि धारणपर्यन्त ज्ञानको एक देश स्पष्ट होनेके कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना है; किन्तु स्मृति आदिको परोक्ष ही माना है तथा तत्त्वार्थ [3]श्लोकवार्तिकमें लघीयस्त्रयके उक्त कथनकी आलोचना करते हुए कहा है कि 'शब्दसंसृष्ट ज्ञानको ही श्रुत कहते हैं' इस परिभाषाके निर्माणमें भर्तृहरिका शब्दाद्वैतवाद निमित्त है। शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरिके मतानुसार कोई ज्ञान शब्दसंसर्गके विना नहीं होता। अतः उसके मतका निराकरण करनेके लिए अकलंकदेवने यह उपपादन किया कि शब्दसंसर्गरहित ज्ञान मति है और शब्दसंसर्ग-सहित ज्ञान श्रुत है।

अकलंकदेवके उक्त दृष्टिकोणको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उन्होंने प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेदको मान्य करके भी स्वतन्त्र रूपसे अनुमानके स्वार्थ परार्थ भेद नहीं बतलाये क्योंकि उनके मतसे केवल अनुमान ही परार्थ नहीं है बल्कि अन्य प्रमाण भी शब्दसंसर्ग-सहित होनेपर परार्थ होते हैं और वे सब श्रुत कहे जाते हैं। श्रुत[4] परोक्ष है। अकलंकदेवने अर्थापत्ति, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव श्रुतमें ही किया है। अपने प्रमाणसंग्रह नामक प्रकरणके प्रारम्भमें अकलंकदेवने प्रमाणकी चर्चाको प्रारम्भ करते हुए लिखा है—

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम्।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः॥"

---

१. 'ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्।
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्॥ १०॥'

२. 'स्मृत्या प्रत्यभिज्ञावतोहविषयाद्धेतोरशब्दानुमा कल्प्या;
आभिनिबोधिकी श्रुतमतः स्यात् शब्दसंयोजितम्॥' सि० वि० टी० पृ० १२०।

३. 'अत्र प्रचक्षते केचिच्छ्रुतं शब्दानुयोजनात्।
तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्यथेष्टविरोधतः॥ ८४॥ आदि। पृष्ठ २३९।

४. श्रुतं परोक्षं···अत्र अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति।
—लघीय० स्वो० वि०, ६१ का०।

इस कारिकाकी व्याख्या आचार्य विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक (पृ० १८२) में दी है। उससे प्रमाणकी आगमिक परम्परा और तार्किक परम्पराका समन्वय अकलंकदेवने कितनी दक्षतासे किया, यह स्पष्ट हो जाता है। अतः उसको नीचे दिया जाता है—

'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' ऐसा कथन करके अकलंकदेवने मुख्य अतीन्द्रिय-पूर्ण केवलज्ञान और अपूर्ण अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानका ग्रहण किया है। क्योंकि ये ज्ञान प्रत्यक्षकी आगमिक परिभाषाके अनुसार 'अक्ष' अर्थात् आत्माके आश्रयसे होते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष हैं। व्यावहारिक दृष्टिसे (प्रत्यक्षके तीन भेदोंमें अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके साथ) इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षका ग्रहण किया है; क्योंकि उनमें भी स्पष्टताका कुछ अंश रहता है। अतः इससे तत्त्वार्थसूत्रके कथनमें कोई व्याघात नहीं आता है। श्रुत और प्रत्यभिज्ञा आदि परोक्ष हैं, ऐसा कहना भी सूत्रविरुद्ध नहीं है; क्योंकि 'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्रके द्वारा उन्हें परोक्ष कहा है।

शंका—तत्त्वार्थसूत्रमें तो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा स्मृतिको परोक्ष कहा है?

समाधान—'प्रत्यभिज्ञादि' पदके दो समासोंके द्वारा सबका ग्रहण हो जाता है। 'प्रत्यभिज्ञा का आदि अर्थात् पूर्ववर्ती' इस समासार्थके अनुसार स्मृति पर्यन्त ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है, क्योंकि अवग्रहादिको भी प्रधानरूपसे परोक्ष कहा है। और 'प्रत्यभिज्ञा है आदिमें जिनके' ऐसा समास करनेसे अनुमान पर्यन्त प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है। और इस तरह कोई भी परोक्ष प्रमाण नहीं छूट जाता। अतः 'प्रत्यभिज्ञादि' पद युक्त है। इसके द्वारा व्यावहारिक रूपसे तथा मुख्यरूपसे इष्ट परोक्ष प्रमाणोंके समूहका बोध होता है।'

इसका आशय यह है कि प्रत्यक्षकी आगमिक परिभाषाके अनुसार तो केवल-ज्ञान और अवधि मनःपर्यय ही प्रत्यक्ष हैं। यदि यही परिभाषा बनी रहती तो प्रत्यक्षके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद सम्भव नहीं थे। इसलिए प्रत्यक्षकी आत्मनिमित्तपरक परिभाषाके स्थानमें स्पष्टपरक परिभाषा करके अकलंक देवने लोक-प्रचलित इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षको भी प्रत्यक्षकी सीमामें गर्भित कर लिया क्योंकि उनमें भी अंशतः स्पष्टता पायी जाती है। शेष स्मृति आदि तो परोक्ष थे ही। इस प्रकार अकलंकदेवने प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंकी जो व्यवस्था की उसे उनके उत्तरकालीन सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर दार्शनिकोंने एक मतसे स्वीकार किया। उनकी व्यवस्था इतनी सुव्य-वस्थित थी कि किसीको उसमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता ही नहीं हुई।

अकलंक देवने अपने लघीयस्त्रयमें बतलाया कि परोक्षप्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद हैं। और इनके द्वारा व्यवहारमें कोई विसंवाद नहीं होता अतः ये प्रमाण हैं।[1]

उन्होंने उनके प्रामाण्यको स्थापित करके उनके लक्षण भी सुनिश्चित कर दिये। मीमांसक और नैयायिक आदि उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। परन्तु अकलंक देवने प्रत्यभिज्ञानमें उसका अन्तर्भाव दिखाते हुए प्रतिपक्षियोंके सामने यह आपत्ति उपस्थित की कि यदि सादृश्यविषयक उपमानको पृथक् प्रमाण मानते हो तो वैसादृश्य तथा अन्य आपेक्षिक धर्मोंको विषय करनेवाले जोड़ रूप ज्ञानोंको भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा[2]।

इसी तरह व्याप्तिग्राही तर्कको प्रमाण न माननेवाले वादियोंको लक्ष्य करके अकलंकने कहा[3] कि यदि तर्कको प्रमाण नहीं मानते हो तो उसके द्वारा गृहीत व्याप्तिमें कैसे विश्वास किया जा सकेगा, क्योंकि व्याप्तिका ग्रहण न तो प्रत्यक्षसे सम्भव है और न अनुमानसे। इस तरह अकलंक देवने परोक्षप्रमाणके भेदों तथा उनके स्वरूपकी जो व्यवस्था की उसे ही उनके उत्तरकालीन दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दार्शनिकोंने एकमतसे मान्य किया।

पहले लिखा है कि बौद्ध हेतुका लक्षण त्रैरूप्य मानते थे, पात्रकेसरी स्वामीने अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव नियमको ही हेतुका लक्षण माना और उसे ही अकलंकदेवने भी मान्य किया। अकलंकदेवने ही प्रमाणलक्षणसम्बन्धी परमतोंका निरसन सर्वप्रथम किया और उत्तरवर्ती दिगम्बर श्वेताम्बर सभी तार्किकोंने उनके मार्गको अपनाकर अपने-अपने प्रमाणविषयक लक्षण ग्रन्थोंमें अन्य वादियोंके लक्षणोंका विस्तारसे खण्डन किया है। प्रमाणका विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है, इसका प्रतिपादन तथा समर्थन भी अकलंकदेवने किया।

दार्शनिक क्षेत्रमें प्रमाणके साथ उसके फलकी चर्चा भी अपना स्थान रखती है। जैन परम्परामें सबसे प्रथम आचार्य समन्त भद्रने प्रमाणके फलका विचार व्यवस्थित रीतिसे स्पष्ट किया। उनके कथनानुसार (आप्तमी० का० १०२) प्रमाणका साक्षात् फल अज्ञान विनिवृत्ति है और व्यवहित फल हान, उपादान

१. 'अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः।
व्यवहाराविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥२५॥'—लघीयस्त्रय।

२. 'उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञि-प्रतिपादनम् ॥ १९ ॥'—लघीयस्त्रय।

३. 'अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते ॥११॥
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ॥' —लघीयस्त्रय।

और उपेक्षा है। न्यायावतारमें (का० २८) भी ऐसा ही कथन है। अकलंक देवने[1] इस कथनको अपनाते हुए प्रमाण और फलके भेदाभेदविषयक मन्तव्यको स्पष्ट किया तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन क्रमसे होनेवाले चार मतिज्ञानोंमें पूर्व-पूर्वको प्रमाण तथा उत्तर-उत्तर ज्ञानको फलरूप माना। इस तरह अकलंकदेवने प्रमाणतत्त्वके स्वरूप, संख्या, विषय और फलके सम्बन्धमें विविध विप्रतिपत्तियोंका निरसन करके जैन प्रमाणशास्त्रको सुव्यवस्थित किया।

दार्शनिक क्षेत्रमें वाद भी चर्चाका एक प्रमुख विषय रहा है। सभीने वादका प्रयोजन तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति या प्राप्त तत्त्वज्ञानकी रक्षा माना है। वादके चार अंग हैं--वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। इसीसे उसे चतुरंगवाद कहते हैं। इसमें भी कोई मतभेद नहीं है। किन्तु साध्य और साधन सामग्रीमें मतभेद न होते हुए भी उसकी साधन प्रणालीमें मतभेद है।

जैन परम्पराके अनुसार चतुरंगवादका अधिकारी विजिगीषु—जयका इच्छुक व्यक्ति है। किन्तु न्याय परम्पराके विजिगीषुमें और जैन परम्पराके विजिगीषुमें अन्तर है। पहलेके अनुसार विजिगीषु वही है, जो न्याय या अन्यायसे छल आदिका प्रयोग करके भी प्रतिवादीको परास्त करना चाहता है। किन्तु अकलंकदेव उसीको विजिगीषु मानते हैं जो अपने पक्षकी सिद्धि न्याय्य रीतिसे करनेका इच्छुक है। उन्होंने अपने सिद्धिविनिश्चयके वादसिद्धि[2] नामक प्रकरणमें लिखा है—स्वपक्षके साधनमें समर्थ वचनको चतुरंगवाद या जल्प कहते हैं। उसकी अवधि पक्षनिर्णय पर्यन्त है और फल मार्गप्रभावना है।

न्याय परम्परामें कथाके तीन भेद किये हैं--वाद, जल्प और वितण्डा। जल्प-वितण्डा करनेवालेको विजिगीषु माना है और तत्त्वबुभुत्सु कथाको वाद। जल्प-वितण्डामें छल आदिका प्रयोग विधेय माना गया है। किन्तु जैन परम्परामें छल आदिका प्रयोग मान्य नहीं है। इसीसे जैन परम्परामें जल्प या वितण्डा वादसे भिन्न नहीं है। अकलंकदेवने सिद्धिविनिश्चयके वाद या जल्पसिद्धि नामक पाँचवें प्रस्तावमें तथा प्रमाणसंग्रहके छठे प्रस्तावमें उक्त विषयमें विस्तारसे प्रकाश डाला है। न्यायविनिश्चय तथा अष्टशतीमें भी प्रसंग आये हैं। वादका ही एक अंग निग्रहस्थान है। जैन-परम्परामें निग्रहस्थानका सर्वप्रथम निरूपण करनेवाले जल्पनिर्णय नामक ग्रन्थके रचयिता आचार्य श्रीदत्त और पात्रकेसरी प्रतीत होते हैं। किन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, अतएव उपलब्ध साहित्यके आधारसे

---

१. 'पूर्व-पूर्व प्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' ॥ ६ ॥–लघीयस्त्रय।

२. 'समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः। पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥ २ ॥
--सि० वि० पृ० ३११।

भट्टाकलंकको ही उसका प्रारम्भक मानना होगा। पिछले सभी जैन तार्किकोंने निग्रहस्थान[1] निरूपणमें भट्टाकलंकके ही वचनोंको उद्धृत किया है इससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

वादका अन्तिम परिणाम जय-पराजय होता है। अतः जय-पराजयकी व्यवस्थामें भी अकलंकदेवने न्याय्य अहिंसक दृष्टिकोणको महत्त्व दिया। उनका कहना है कि स्वपक्षकी सिद्धि ही जय है और दूसरे पक्षकी असिद्धि ही उसकी पराजय है। जब एक पक्षकी सिद्धि होगी तो सुतरां दूसरे पक्षकी असिद्धि अनिवार्य है। अतः सिद्धि-असिद्धिके साथ ही जय-पराजय व्यवस्था प्रतिबद्ध है। अकलंकके द्वारा स्थापित ऐसे जय-पराजय व्यवस्थाको भी सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकोंने स्वीकार किया है।

इस प्रकार अकलंकदेवने न्यायके सभी अंगोंको परिमार्जित करके जैन न्यायको सुव्यवस्थित कर दिया। अतः अकलंकदेव जैन न्यायके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं।

अन्तमें अकलंक देवकृत रचनाओंकी एक झाँकी दे देना उचित होगा। अकलंक देवकी छह दार्शनिक कृतियाँ उपलब्ध हैं और मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुकी हैं—

१, तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य—यह तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थपर उद्योतकरके न्यायवार्तिककी शैलीपर लिखा गया वार्तिक ग्रन्थ है। वार्तिकोंके साथ उनकी व्याख्या भी है। दार्शनिक दृष्टिसे पहला और पाँचवाँ अध्याय तथा चतुर्थ अध्यायके अन्तिम सूत्रकी व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। इस व्याख्यामें अकलंक देवने अनेकान्तकी सिद्धि करते हुए सप्तभंगीका विशद विवेचन किया है। प्रथम अध्यायमें छठे सूत्रकी व्याख्यामें भी सप्तभंगीका विवेचन है, साथ ही अनेकान्तमें अनेकान्तको घटित करते हुए 'अनेकान्तवाद न संशयवाद है और न छलवाद है' इसका सयुक्तिक विवेचन किया है। इसी प्रथम अध्यायके प्रथम सूत्रकी विवेचनामें सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्धोंके मोक्षकारणोंका निराकरण किया है उसमें बौद्धोंका प्रतीत्यसमुत्पादवाद भी है। तथा बारहवें सूत्रकी व्याख्यामें उक्त दार्शनिकोंके प्रत्यक्षके लक्षणोंकी समीक्षा की है, उसमें दिङ्नागके प्रत्यक्ष लक्षण कल्पनापोढका खण्डन है, धर्मकीर्तिकृत अभ्रान्त पदवाले प्रत्यक्ष लक्षणका नहीं। प्रत्येक चर्चामें अनेकान्त दृष्टिका प्रयोग किया गया है। मानो उसीके व्यवस्थापनके लिए ग्रन्थरचना की गयी हो। इसमें पातंजल महाभाष्य, वाक्यपदीय, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, जैमिनिसूत्र,

---

१. 'आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः। न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम्॥
—न्यायवि० २।२१३।

योगसूत्र, सांख्यकारिका, अभिधर्मकोश, प्रमाणसमुच्चय, समानान्तरसिद्धि आदि अन्य दर्शनोंके ग्रन्थोंके उद्धरण पाये जाते हैं। जो अकलंक देवके विस्तृत और गहन अध्ययनके सूचक हैं।

२, अष्टशती— यह समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसाकी अत्यन्त गूढ संक्षिप्त वृत्ति है। आठ सौ श्लोकप्रमाण परिमाण होनेसे अष्टशती नाम दिया गया है। इसपर आचार्य विद्यानन्दकी अष्टसहस्री टीका है। उसीसे इसका हार्द स्पष्ट होता है।

३, लघीयस्त्रय सविवृति— यह प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश नामक तीन प्रकरणोंका संग्रहरूप है। मूल कारिकाओंपर स्वोपज्ञ विवृति भी है। इसमें प्रमाणके भेद, उनका स्वरूप, विषय, फल आदिका तथा नयोंका सुन्दर विवेचन है।

४, न्यायविनिश्चय— इसपर वादिराज सूरिने विवरण ग्रन्थ रचा है। इसमें तीन प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन, तीनोंमें अपने-अपनेसे सम्बद्ध विविध विषयोंकी विस्तृत चर्चा है।

अकलंकदेवके पश्चात् जो जैनग्रन्थकार हुए उन्होंने अपनी न्यायविषयक रचनाओंमें अकलंकदेवका ही अनुसरण करते हुए जैनन्याय-विषयक साहित्यकी श्रीवृद्धि की और जो बातें अकलंकदेवने अपने प्रकरणोंमें सूत्ररूपमें कही थीं, उनका उपपादन तथा विश्लेषण करते हुए दर्शनान्तरोंके विविध मन्तव्योंकी समीक्षामें बृहत्काय ग्रन्थ रचे, जिनसे जैनन्याय-रूपी वृक्ष पल्लवित और पुष्पित हुआ।

४. अकलंकदेवके उत्तरकालीन जैन नैयायिक

कुमारसेन और कुमारनन्दि

आचार्य विद्यानन्दने अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमान बतलाया है तथा अपनी प्रमाणपरीक्षामें "तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः" लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है—

"अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंग्यमङ्ग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥"

(प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२)

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २८०) में उनका उल्लेख वादन्यायमें विचक्षण रूपसे किया है—

"कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।"

और पत्रपरीक्षामें कुमारनन्दि भट्टारकके वादन्याय नामक ग्रन्थसे तीन श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें-से तीसरा श्लोक तो वहीं है जो ऊपर प्रमाणपरीक्षासे उद्धृत किया है। उससे पहलेके दो श्लोक इस प्रकार हैं—

"प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैः तथोदाहरणादिकम्।
न चैवं साधनस्यैकलक्षणत्वं विरुध्यते।
हेतुलक्षणतापायादन्यांशस्य तथोदितम्॥"

[पत्रपरीक्षा]

इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि ये दोनों आचार्य विद्यानन्दसे पहले हुए हैं। इनमें-से कुमारसेनकी उक्तियोंसे तो आचार्य विद्यानन्दकी अष्टसहस्री वर्धमान हुई, जो अकलंकदेवकी अष्टशतीपर रची गयी है। बहुत सम्भवतया कुमारनन्दिका वादन्याय नामक ग्रन्थ विद्यानन्दके सम्मुख उपस्थित था। ये दोनों ही आचार्य न्यायशास्त्रके दिग्गज विद्वान् प्रतीत होते हैं परन्तु इनकी कोई भी कृति आज उपलब्ध नहीं है। अतः यह कहना शक्य नहीं है कि जैन न्यायके क्रमिक विकास-में इनका योगदान किस रूपमें था। फिर भी कुमारनन्दिके 'वादन्याय' नामक ग्रन्थके नामसे तथा उससे उद्धृत उक्त श्लोकोंसे यह स्पष्ट है कि वादन्यायके विविध अंगोंके वे पारगामी थे और उन्होंने अपनी कृतिके द्वारा अकलंकोक्त वादन्यायको पुष्पित और फलित किया था। बौद्धदार्शनिक धर्मकीर्तिने एक वादन्याय नामक ग्रन्थ रचा था। अकलंकदेवने उसके मन्तव्योंका खण्डन किया है। सम्भवतया उसी वादन्यायकी अनुकृतिपर कुमारनन्दिने वादन्याय रचा होगा। अतः कुमारनन्दि धर्मकीर्ति (६५० ई०) के पश्चात् हुए प्रतीत होते हैं। सम्भव है अकलंकके उत्तरकालीन या लघु समकालीन हों।

आचार्य विद्यानन्द

अकलंकदेवके पश्चात् उनके चार प्रमुख टीकाकार हुए। उनमें भी प्रमुख थे आचार्य विद्यानन्द। इन्होंने अकलंकदेवकी गूढार्थ अष्टशतीको आत्मसात् करते हुए उसकी व्याख्याके रूपमें जो अष्टसहस्री रची, वह भारतीय दर्शन शास्त्रके मुकुटमणि ग्रन्थोंमें है। उसकी पाण्डित्यपूर्ण तार्किक शैली, प्रमेयबहुलता, और प्रांजल भाषा विद्वन्मनोमुग्धकारी है। अकलंकदेवकी गूढार्थ पंक्तियोंके अभि-प्रायको यथार्थरूपसे उद्घाटित करनेमें विद्यानन्दकी प्रतिभाका चमत्कार अपूर्व है। विद्यानन्द भी अकलंकदेवकी तरह षड्दर्शनोंके पण्डित थे। किन्तु जैसे अकलंकदेव धर्मकीर्तिके कठोर आलोचक और बौद्धदर्शनमें विचक्षण थे, वैसे ही

विद्यानन्द मीमांसक कुमारिलके मीमांसा शास्त्रके मर्मज्ञ थे। जैसे अकलंकने उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे प्रेरित होकर तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थवार्तिककी पाण्डित्यपूर्ण रचना की, वैसे ही विद्यानन्दने कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे प्रेरित होकर तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी रचना की। उनकी कृतियोंने जैन न्यायके भण्डारको समृद्ध किया और उनमें आलोचनाके रूपमें विविध दर्शनोंके उन मन्तव्योंका समावेश हुआ, जिनकी चर्चा उससे पूर्व जैन दर्शनके ग्रन्थोंमें नहीं थी। उदाहरणके लिए अष्टसहस्रीके प्रारम्भमें वेदार्थका विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्दने भावना, विधि और नियोगकी पूर्वपक्ष स्थापनाके साथ जो पाण्डित्यपूर्ण आलोचना की है, वह जैन न्यायके पूर्वकालीन ग्रन्थोंमें नहीं है। इसीमें नियोगके जो ग्यारह पक्ष उपस्थित किये हैं वे आजके नियोगवादी ग्रन्थोंमें भी नहीं मिलते। कुमारिलने जो मनुष्यकी सर्वज्ञताका खण्डन किया था, यद्यपि अकलंकदेवने सूत्ररूपमें उसका निराकरण अपनी कृतियोंमें कर दिया था, किन्तु विद्यानन्दने अपने ग्रन्थोंमें विस्तारसे कुमारिलका खण्डन किया है। इसी तरह ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्व निषेधका प्रतिपादन आप्तपरीक्षा नामक प्रकरणमें किया है।

पहले शास्त्रार्थोंमें जो पत्र दिये जाते थे उनमें क्रियापद वगैरह गूढ़ रहते थे जिसका आशय समझना बहुत कठिन होता है। उसीके विवेचनके लिए विद्यानन्दने पत्रपरीक्षा नामक एक छोटे-से प्रकरणकी रचना की थी। जैन-परम्परामें इस विषयकी सम्भवतया यह प्रथम और अन्तिम स्वतन्त्र रचना है। यद्यपि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डके अन्तमें पत्रवाक्यकी चर्चा की है, किन्तु वह विद्यानन्दकी ऋणी हो सकती है। आचार्य विद्यानन्दने अपनी रचनाओंके द्वारा जहाँ जैन न्यायविषयक साहित्यमें नवीन चर्चाओंका समावेश किया वहाँ प्रचलित मन्तव्योंमें कुछ सुधार भी किये।

विद्यानन्दके छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा और पत्रपरीक्षा। विद्यानन्दमहोदय अनुपलब्ध है शेष सभी मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें-से प्रमाणपरीक्षा गद्यमें लिखित प्रमाण विषयक प्रथम रचना है जिसमें प्रमाणके स्वरूप भेद, आदिका प्रतिपादन है इनके सिवाय समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनपर टीका भी रची है। अकलंक जैन न्यायके प्रस्थापक थे तो विद्यानन्द उसके संपोषक और संवर्धक थे।

दो अनन्तवीर्य

अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चयके व्याख्याकार दो अनन्तवीर्य हुए। एक

रविभद्रपादोपजीवि और दूसरे उनके ही द्वारा उल्लिखित प्राचीन व्याख्याकार। प्राचीन अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चय व्याख्या उपलब्ध नहीं है, किन्तु रविभद्र-पादोपजीवि अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकामें उसका उल्लेख पाया जाता है। उपलब्ध सिद्धिविनिश्चयटीकाके रचयिता अनन्तवीर्यका समय ईसाकी दशवीं शती है। इन्होंने सिद्धिविनिश्चयपर टीका रचकर उसके मूल अभिप्रायको स्पष्ट और पल्लवित करनेमें अपनी बहुमुखी प्रतिभाका उपयोग किया। और उससे अकलंकके अन्य टीकाकार प्रभाचन्द्र[1] और वादिराजको[2] अपनी टीकाओंके लिखनेमें साहाय्य मिला और इस तरह जैन न्यायके विकासमें उन्होंने पूरा योगदान किया।

अनन्तकीर्ति

आ० अनन्तकीर्ति रचित लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि नामके दो प्रकरण लघीयस्त्रयादि संग्रहमें छपे हैं। उनके अध्ययनसे प्रकट होता है कि वह एक प्रख्यात दार्शनिक थे। उन्होंने इन प्रकरणोंमें वेदोंके अपौरुषेयत्वका खण्डन करके आगमकी प्रमाणतामें सर्वज्ञ प्रणीतताको ही कारण सिद्ध किया है। इन्होंने सर्वज्ञताके पूर्वपक्षमें जो श्लोक उद्धृत किये हैं उनमें कुछ मीमांसाश्लोकवार्तिकके, कुछ प्रमाणवार्तिकके और कुछ तत्त्वसंग्रहके हैं। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डके सर्वज्ञसाधक प्रकरणोंमें अनन्तकीर्तिकी बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका शब्दपरक अनुकरण किया है। अतः जैनन्यायके इस अंगकी पूर्तिमें उनका योगदान उल्लेखनीय है।

आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि जैनन्यायको सूत्ररूपमें निबद्ध करनेवाले प्रथम सूत्र-कार हैं। यह ईसाकी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीके विद्वान् थे। इनका परीक्षामुख नामक एक सूत्रग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उसके वृत्तिकार अनन्त-वीर्यने अपनी वृत्तिके प्रारम्भमें सूत्रकारको नमस्कार करते हुए लिखा[3] है कि उन्होंने अकलंकदेवके वचन-समुद्रका मन्थन करके न्यायविद्यारूपी अमृतका उद्धार किया था। इस सूत्र-ग्रन्थमें छह उद्देश हैं – प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास। माणिक्यनन्दिसे पहले विद्यानन्दने प्रमाणका लक्षण 'स्वपर

---

१. "त्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च सततं सोऽनन्तवीर्योक्तितः।"—न्या० कु० च०, पृ० ६०५।

२. "व्यञ्जयत्यलमनन्तवीर्यवाग्दीपवर्तिरनिशं पदे पदे।"—न्यायवि० वि०, प्र० भा०, पृ० १।

३. "अकलंकवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता। न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥"

व्यवसायी ज्ञान' किया था। इन्होंने उसमें 'अपूर्व' पदकी वृद्धि करके स्वापूर्वार्थ-व्यवसायी ज्ञानको प्रमाण माना। अकलंकदेवने[1] भी अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण मानते हुए उसे 'अनधिगतार्थग्राही' कहा था। माणिक्यनन्दिने भी उसीको ध्यानमें रखकर प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्व' पदका समावेश किया जान पड़ता है।

माणिक्यनन्दिने अपने सूत्र-ग्रन्थको केवल न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे संकलित किया है, अतः उसमें जैन आगमिक परम्परासे सम्बन्ध रखनेवाले मतिज्ञानके भेदोंका समावेश नहीं किया और आगमिक श्रुतप्रमाणको आगम नाम देकर, जैसा अकलंकदेवने अपने न्यायविनिश्चयमें किया है, परोक्ष प्रमाणके भेदोंमें सम्मिलित कर दिया। इसके निर्माणमें माणिक्यनन्दिने मुख्यरूपसे अकलंकदेवकृत ग्रन्थोंका, उनमें भी सवृत्ति लघीयस्त्रयका सहयोग तो लिया ही है सम्भवतया बौद्धाचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्तिके सूत्र-ग्रन्थोंसे भी सहायता ली है। परीक्षामुखके सूत्रोंकी तुलना दिङ्नागके न्यायप्रवेश और धर्मकीर्तिकी न्यायबिन्दुके साथ करनेसे यह बात स्पष्ट[2] भी हो जाती है कि इस प्रकारके न्याय-शास्त्रविषयक सूत्र ग्रन्थका निर्माण करनेकी प्रेरणा भी उन्हींसे प्राप्त हुई है। इस सूत्रग्रन्थके निर्माणसे न्याय-विषयक जो विविध मन्तव्य अकलंक तथा विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें इतस्ततः विस्तृत थे, उन सबका क्रमबार एक संकलन हो जानेसे न्यायशास्त्रके अभ्यासियोंके लिए सुगमता हो गयी और जैन न्यायके भावी लेखकोंके लिए मार्गदर्शन भी हुआ। परीक्षामुखके निर्माणके पश्चात् ही माणिक्यनन्दिके शिष्य तार्किक प्रभाचन्द्रने उसपर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामका तर्कपूर्ण महान् व्याख्या ग्रन्थ रचा और श्वेताम्बर परम्पराके आचार्य वादिदेव सूरिने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्र-ग्रन्थ रचा, तथा हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसाके सूत्रोंकी रचना की। इस तरह इस कृतिसे जैनन्यायके विकासमें बहुत सहायता मिली।

आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीके विद्वान् थे। श्रवण-बेलगोलाके शिलालेख संख्या ४० (६४) में इन्हें प्रथित तर्क ग्रन्थकार लिखा है। इन्होंने परीक्षामुख सूत्रपर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक तथा अकलंकदेवके लघीयस्त्रयपर न्यायकुमुदचन्द्र नामक बृहत्काय टीकाग्रन्थ रचे हैं। अपने इन टीका-ग्रन्थोंमें प्रभाचन्द्रने मूल ग्रन्थकी व्याख्याके साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयों-

---

१. प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।—अष्टश०, अष्टसहस्री, पृ० १७५।

२. देखो न्याय कुमुदचन्द्रके प्र० भागकी प्रस्तावना पृ० ८०।

पर विस्तृत निबन्ध भी लिखे हैं जो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके रूपमें हैं। उनमें विविध विकल्प-जालोंसे परपक्षका खण्डन किया गया है। जिन परपक्षोंका खण्डन प्रभाचन्द्रने किया है वे संक्षेपमें ये हैं—

१. सांख्ययोग—इन्द्रियवृत्तिवाद, अचेतन ज्ञानवाद, प्रकृतिकर्तृत्ववाद,

२. न्याय-वैशेषिक—कारकसाकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ईश्वरवाद, पाञ्चरूप्य हेतुवाद, षट्पदार्थवाद, षोडशपदार्थवाद,

३. बौद्ध—निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्यवाद, साकारज्ञानवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद, अपोहवाद, क्षणभंगवाद,

४. वैयाकरण—शब्दाद्वैतवाद, स्फोटवाद,

५. चार्वाक—भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद,

६. मीमांसक—अभावप्रमाणवाद, परोक्षज्ञानवाद, वेद अपौरुषेयत्ववाद, शब्दनित्यत्ववाद,

७. श्वेताम्बर—केवलिकवलाहारवाद, स्त्रीमुक्तिवाद,

८. वेदान्ती—ब्रह्मवाद,

अकलंक और विद्यानन्दके समकालमें और पश्चात् षड्दर्शनोंमें जो ग्रन्थकार हुए प्रभाचन्द्रने उनकी कृतियोंका अवगाहन करके अपने ग्रन्थोंमें उन्हींकी शैलीमें उनके मतोंकी स्थापनापूर्वक निरास किया।

कणादसूत्रपर आचार्य प्रशस्तपादका प्रशस्तपादभाष्य है। उसपर आचार्य व्योमशिवकी टीका व्योमवती है। प्रभाचन्द्रने अपने दोनों टीकाग्रन्थोंमें वैशेषिक मतके पूर्वपक्षमें तो व्योमवतीको अपनाया ही है, अनेक मतोंके खण्डनमें भी उसका अनुसरण किया है। इसी तरह न्यायसूत्रपर वात्स्यायनका न्यायभाष्य है तथा उद्योतकरका न्यायवार्तिक ग्रन्थ है। प्रभाचन्द्रने न्यायदर्शनके सृष्टिकर्तृत्ववाद, षोडशपदार्थवाद आदिके पूर्वपक्षमें न्यायवार्तिकका विशेष उपयोग किया है। तथा जयन्तकी न्यायमंजरीका भी समुचित उपयोग किया है।

मीमांसकोंके शब्दनित्यत्ववाद और वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमें शावरभाष्य तथा उसपर निर्मित कुमारिलके श्लोकवार्तिक और प्रभाकरकी बृहतीका विशेष उपयोग किया है। तथा उन्होंने शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सप्रमाण उत्तर दिया है। बौद्धाभिमत वादोंके निरसनमें प्रज्ञाकरगुप्तके प्रमाणवार्तिकालंकार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहका समुचित उपयोग किया गया है।

इस प्रकार प्रभाचन्द्रने अपनी दोनों मूर्धन्य कृतियोंके द्वारा जैनन्यायके विकासमें गम्भीर योगदान देकर दर्शनान्तरोंमें उपलब्ध व्योमवती, न्यायमंजरी, कन्दलीजैसे व्याख्या ग्रन्थोंकी कमीको पूरा किया और अनेक दार्शनिक मन्तव्योंकी युक्तिपूर्ण समीक्षा करके जैनन्यायको नयी शैली और नवीनवस्तु भी प्रदान की।

आचार्य वादिराज

आचार्य वादिराजका मूल नाम ज्ञात नहीं है। वादिराज उनकी उपाधि ज्ञात होती है। इसी उपाधिने उनके यथार्थ नामका स्थान ले लिया था, ऐसा जान पड़ता है। मल्लिषेण प्रशस्तिमें उन्हें महान् वादी, विजेता और कवि कहा है। उनके द्वारा रचित एकीभाव[1] स्तोत्रके अन्तमें एक श्लोक पाया जाता है, जिसका अर्थ है कि सारे वैयाकरण, तार्किक, कवि और भव्यसहाय वादिराजसे पीछे हैं। एक[2] शिलालेखमें उन्हें सभामें अकलंक, कीर्तनमें धर्मकीर्ति, विवादमें बृहस्पति और न्यायवादमें अक्षपादके तुल्य कहा है। यह विक्रमकी बारहवीं शतीके उत्तरार्द्धमें वर्तमान थे, इनकी न्यायविषयक दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय।

न्यायविनिश्चयविवरण अकलंकदेवके न्यायविनिश्चयकी बृहत्काय टीका है जो दो भागोंमें भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रथमबार प्रकाशित हुई है। न्यायविनिश्चयमें तीन प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन। इसी क्रमसे तीन परिच्छेद हैं। यद्यपि टीका गद्यात्मक है, किन्तु मध्यमें टीकाकारने स्वरचित श्लोक भी दिये हैं, जिनका परिमाण लगभग दो हजार है। इसलिए इस टीकाको गद्यपद्यात्मक कहना ही उचित होगा। इसमें भी दर्शनान्तरोंके विविध मन्तव्योंकी समीक्षा की गयी है और उसमें पूर्वपक्षके रूपमें तत्-तत् ग्रन्थोंका उपयोग किया गया है। यथा—मीमांसादर्शनके मन्तव्योंको समीक्षा करते हुए कुमारिल, प्रभाकर, मण्डन आदिके मन्तव्योंकी आलोचना की गयी है। न्यायवैशेषिक मतमें व्योमशिव, भासर्वज्ञ आदि ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे उद्धरण देकर उनकी आलोचना की गयी है। किन्तु सबसे अधिक समीक्षा धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक और उसपर प्रज्ञाकर गुप्त-द्वारा रचित प्रमाणवार्तिकालंकारकी है। लगभग आधा वार्तिकालंकार इसमें आलोचित हुआ है। यही इस रचनाकी अपनी विशेषता है। अतः यह

१. 'वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः।'

२. 'सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिर्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः संगतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः।'

विवरण जैनन्यायके विकासमें अपना मूर्धन्य स्थान रखता है।

प्रमाणनिर्णय एक छोटा-सा प्रकरण है जो संस्कृत गद्यमें रचा गया है। इसमें चार परिच्छेद हैं— प्रमाण लक्षण निर्णय, प्रत्यक्ष निर्णय, परोक्ष प्रमाण निर्णय और आगम निर्णय। प्रत्येक परिच्छेदके अन्तिम श्लोकमें स्पष्ट किया है कि 'देव' अकलंकके मतका संक्षिप्त दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। इसमें परोक्षके दो भेद किये हैं—एक अनुमान और दूसरा आगम। तथा अनुमानके गौण और मुख्य भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कको गौण अनुमान स्वीकार किया है। यह भेदपरम्परा नूतन प्रतीत होती है। अन्य किसी ग्रन्थमें ऐसा निर्देश देखनेमें नहीं आया। किन्तु ऐसा लगता है कि इसका आधार अकलंकका न्यायविनिश्चय ही है। क्योंकि न्यायविनिश्चयमें तीन ही प्रस्ताव हैं। और दूसरे अनुमान प्रस्तावमें ही उसके अंगरूपसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका कथन किया है। इसीसे वादिराजने भी लिखा है कि उत्तरोत्तर अनुमानके निमित्त होनेसे ये तीनों अनुमान कहे जाते हैं।

अभयदेव

जैसे प्रभाचन्द्रने अकलंक और माणिक्यनन्दिके ग्रन्थोंपर बृहत्काय टीका ग्रन्थ रचकर जैन न्यायविषयक साहित्य-भण्डारको समृद्ध किया वैसे ही अभयदेव सूरिने (विक्रमकी ग्यारहवीं शती) सिद्धसेनके सन्मति तर्कपर बृहत्काय टीका ग्रन्थ लिखकर जैन न्यायको पल्लवित और पुष्पित किया। अभयदेव सूरि श्वेताम्बर परम्पराके अनुयायी थे; अतः उन्होंने अपनी टीकामें स्त्री-मुक्ति और कवलाहारका भी समर्थन किया है। अन्य प्रमाण-प्रेमयविषयक इतर दर्शनोंकी जिन मान्यताओंका खण्डन प्रभाचन्द्रने किया है उनका खण्डन अभयदेवने भी किया है। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भागकी गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि इस टीकामें सैकड़ों दार्शनिक ग्रन्थोंका दोहन किया गया है। सामान्य रूपसे कुमारिलका मीमांसा श्लोकवार्तिक, शान्तरक्षित कृत तत्त्व-संग्रहपर कमलशीलकी पंजिका और दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रके प्रमेय-कमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब मुख्य रूपसे इस टीकामें है।

वादिदेव सूरि

वादिदेव सूरिने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार नामक सूत्र-ग्रन्थ तथा उसपर स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ रचा था। इनके सूत्र-ग्रन्थको माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुख सूत्रका अपने ढंगसे तैयार किया गया नवीन संस्करण कहा जा सकता है। परीक्षामुखके छह परिच्छेदोंका विषय प्रायः उसी

क्रमसे रखते हुए उसके सूत्रोंमें शाब्दिक परिवर्तनपूर्वक छह परिच्छेद तैयार किये गये हैं; किन्तु उसके साथमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नये जोड़े गये हैं। क्योंकि परीक्षामुखमें नय और वादकी चर्चा नहीं आयी है। सूत्र-ग्रन्थकी स्याद्वादरत्नाकर नामक व्याख्या भी प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और कुमुदचन्द्रकी ही अनुकृतिपर रची गयी है। स्याद्वादरत्नाकरको पढ़ लेनेसे प्रभाचन्द्रके दोनों ग्रन्थोंका विषय स्पष्ट रूपसे ज्ञात हो जाता है। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रकी युक्तियोंका नामोल्लेखपूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश करके उनका खण्डन भी किया है। उनकी इस टीकामें केवल पिष्टपेषण ही नहीं है, किन्तु प्रासंगिक चर्चाओंमें कुछ ऐसे भी नवीन मन्तव्य और ऊहापोह आये हैं जो अपनी विशिष्टता रखते हैं। शास्त्रान्तरोंके नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण, इस ग्रन्थकी अपनी एक विशेषता है और उसपर-से भारतीय दर्शनशास्त्रके विविध ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंकी एक विस्तृत सूची निर्मित की जा सकती है।

आचार्य हेमचन्द्र

विक्रमकी १२वीं शताब्दीके आचार्य हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यमें हेमयुगका आरम्भ माना जाता है। यह महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपाल-की राजसभाओंके बहुमान्य तथा बहुश्रुत विद्वान् थे। सभी विषयोंपर इनकी लेखनीका चमत्कार पाया जाता है। इनकी न्यायविषयक रचना प्रमाणमीमांसा-का जैनन्यायके ग्रन्थोंमें एक विशिष्ट स्थान है। उसके सूत्र और टीका यद्यपि माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखके सूत्र तथा उनपर अनन्तवीर्य-रचित प्रमेयरत्नमाला वृत्तिके ऋणी हैं तथापि सूत्र और टीकामें हेमचन्द्रका वैशिष्ट्य पद-पदपर लक्षित होता है। माणिक्यनन्दिने प्रमाणके लक्षणमें जो अपूर्व पदका समावेश किया था, हेमचन्द्रने उसको अनावश्यक सिद्ध किया है। हेमचन्द्र अकलंकसे विशेष प्रभावित हैं। उनकी प्रमाणमीमांसासे जैनन्यायकी श्रीवृद्धि हुई है, इसमें सन्देह नहीं।

यशोविजय

विक्रमकी १८वीं शताब्दीमें हुए आचार्य यशोविजय न्यायशास्त्रके अन्तिम प्रकाण्ड जैन विद्वान् थे। नव्यन्यायका अध्ययन करके नव्य पद्धतिसे जैन पदार्थका निरूपण करनेवाले यह एक मात्र जैन ग्रन्थकार थे। इन्होंने बहुत-से प्रकरणोंकी रचना की, विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीपर नव्यन्यायकी शैलीमें विवरण रचा। जैन तर्कभाषा रची जो जैनन्यायके प्रवेशेच्छुकोंके लिए बहुत उपयोगी है। इसमें अकलंकके अनुसार प्रमाण, नय और निक्षेपकी चर्चा है।

इस तरह प्रथम शताब्दीसे लेकर अठारहवीं शताब्दी तक जैन न्याय क्रमिक रूपसे विकास करते-करते आचार्य अकलंक देवके समयसे एक स्वतन्त्र विषयके रूपमें व्यवस्थित हुआ। और अकलंक देवके उत्तरकालीन ग्रन्थकारोंने जिनमें उनके टीकाकारोंका मुख्य भाग था, उसे पल्लवित और पुष्पित करके न केवल जैनन्यायविषयक साहित्य भण्डारको किन्तु भारतीय दर्शनको भी समृद्ध बनाया।

■

प्रमाण

जैन सम्मत प्रमाण लक्षण

जैन परम्परामें सर्व-प्रथम आचार्य समन्तभद्रने 'स्व[1]-परावभासी ज्ञानको प्रमाण' बतलाया। न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनने इसमें 'बाधारहित' विशेषण लगाया। अर्थात् 'स्व[2]परावभासी बाधारहित ज्ञानको प्रमाण' बतलाया। जैन न्यायके प्रस्थापक अकलंकदेवने 'कहीं तो 'स्वप[3]रावभासी व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण' बतलाया और कहीं '[4]अनधिगतार्थक अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण' बतलाया। आचार्य विद्यानन्दने [5]'सम्यग्ज्ञानको प्रमाण' बतलाकर 'स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानको सम्यग्ज्ञान' बतलाया। इस तरह उन्होंने 'अनधिगत' पदको छोड़ दिया। आचार्य माणिक्यनन्दिने 'स्व[6] और अपूर्व अर्थके व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण' बतलाकर आचार्य समन्तभद्रके द्वारा स्थापित तथा अकलंक देवके द्वारा विकसित प्रमाणके लक्षणका संग्रह कर दिया। उत्तरकालीन ग्रन्थकारोंने प्रायः प्रमाणके इन्हीं लक्षणोंको अपनाया है।

आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनने स्वयं अपने लक्षणका विश्लेषण या समर्थन नहीं किया। न्यायावतारमें प्रमाणका लक्षण कहकर यह आशंका अवश्य उठायी गयी है कि—प्रम[7]ाण तो प्रसिद्ध है और उसका कार्य भी प्रसिद्ध ही है—सब कोई प्रमाण और उसके कार्यको जानते हैं। अतः प्रमाणका लक्षण कहनेकी क्यों आवश्यकता हुई ? इस आशंकाका समाधान उन्होंने इस रूपमें किया है—'य[8]द्यपि प्रमाणको सब जानते हैं, फिर भी जिनका मन प्रमाणके लक्षणके विषयमें मूढ़ बना हुआ है अर्थात् जो प्रमाणको स्वीकार करते हैं, किन्तु उसकी जिन्हें ठीक-ठीक पहचान नहीं है, उन मूढ़ बुद्धियोंका व्यामोह दूर करनेके लिए ही यहाँ प्रसिद्ध

---

१. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।—बृ० स्व० ६३।

२. प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्।—न्याया० १।

३. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।—लघी० ६०।

४. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थलक्षणत्वात्।—अष्टश० अष्टस० पृ० १७४।

५. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परी० १-१।

६. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्,...स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम्। प्र० प० ५३।

७. न्याया०, का० २।

८. न्याया०, का० ३।

भी प्रमाणका लक्षण कहनेकी आवश्यकता हुई।' इस तरह न्यायावतारमें प्रमाणका लक्षण कहनेकी आवश्यकता मात्र बतलायी है। अकलंकदेवने अपने प्रकरणोंकी विवृतियोंमें प्रमाणके लक्षणका विश्लेषण और समर्थन करनेकी परम्परा प्रचलित की, जिसे उनके उत्तराधिकारी आचार्योंने न केवल अपनाया प्रत्युत खूब पल्लवित और पुष्पित किया।

प्रमाण-लक्षणका विवेचन

अकलंक देवका कहना है कि—'जैसे[1] घट-पट आदि पदार्थ अज्ञानरूप होनेसे प्रमाण नहीं माने जाते, वैसे ही (नैयायिक आदिके द्वारा माने गये) अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि भी प्रमाण नहीं हो सकते। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान मात्र प्रमाण होता है। यदि प्रत्येक ज्ञानको प्रमाण माना जायेगा तो संशयज्ञान, विपरीतज्ञान और अकिंचित्कर ज्ञानको भी, जो कि ठीक-ठीक व्यवहार करानेमें उपयोगी नहीं हैं, प्रमाण मानना होगा। बौद्ध भी तत्त्वका निर्णय करानेमें साधकतम ज्ञानके ही प्रामाण्यका समर्थन करते हैं। हाँ, वस्तुबलसे आये हुए सन्निकर्ष आदि भी परम्परासे ज्ञानके कारण हो सकते हैं। अतः अज्ञानरूप वस्तु प्रमाण नहीं हो सकती। उसे यदि प्रमाण माना जा सकता है तो केवल उपचारसे ही माना जा सकता है, मुख्यतासे नहीं।' इस तरह अकलंक देवने सन्निकर्ष आदि अज्ञानोंका और संशय आदि मिथ्याज्ञानोंका निराकरण करते हुए ज्ञानके ही प्रामाण्यका समर्थन किया है।

वैदिक दर्शन ज्ञानको प्रमाण नहीं मानते, किन्तु जिन कारणोंसे ज्ञान पैदा होता है उन कारणोंको प्रमाण मानते हैं और ज्ञानको प्रमाणका फल मानते हैं। न्यायदर्शनके भाष्यकार वात्स्यायनने[2] 'उपलब्धिके साधनोंको प्रमाण' कहा है। इसकी व्याख्या करनेवालोंमें मतभेद है। न्यायवार्तिककार उद्योतकर पदार्थकी उपलब्धिमें सन्निकर्षको साधकतम मानकर उसे ही प्रमाण मानते हैं। न्याय-मंजरीकार जयन्त कारकसाकल्य[3]को प्रमाण मानते हैं। सांख्य इन्द्रियोंकी विषयाकार परिणति रूप वृत्तिको प्रमाण मानता है। भाट्ट-प्रभाकर[4] ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानते हैं। बौद्ध यद्यपि ज्ञानको प्रमाण मानता है किन्तु निर्विकल्पकज्ञानको ही प्रमाण मानता है।

---

१. लघी० का० ३, विवृति। २. न्याय भा० पृ० १८। ३. सांख्यका० २८। माठर-वृ० पृ० ४७। योगद० व्यासभा० पृ० २७। ४. न्यायमं० पृ० १७।

इसी तरह मीमांसक[1] ज्ञानको परोक्ष मानते हैं। उनके मतसे ज्ञान अर्थको तो जानता है, किन्तु स्वयंको नहीं जानता। नैयायिक[2] ज्ञानको मीमांसककी तरह परोक्ष तो नहीं मानता, किन्तु ज्ञानान्तरसे वेद्य मानता है। सांख्यकी भी यही स्थिति है। उसके मतसे ज्ञान अचेतन है। इन सब विरोधी मतोंको दृष्टिमें रखकर अकलंकदेवके उत्तराधिकारी आचार्य विद्यानन्दने (७७५-८४० ई०) अपने पूर्वाचार्योंके लक्षणको दृष्टिमें रखकर प्रमाणका लक्षण यह स्थिर किया —

"स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।" (त० श्लोकवा०, अ० १, सू० १०, का० ७७) अपना और पदार्थका निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है।

बादकी जैन परम्परामें प्रमाणका यही लक्षण मान्य रहा, किन्तु आचार्य माणिक्यनन्दिने (९९३-१०५३ ई०) इस लक्षणमें अर्थके साथ 'अपूर्व' पद जोड़कर इस प्रकार कर दिया—

"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥" [परीक्षामुख]

इस पदकी वृद्धिपर ही प्रथम विचार किया जाता है, क्योंकि जहाँ प्रमाणके 'अपूर्व' पदरहित लक्षणके सम्बन्धमें सब जैन नैयायिक एक मत हैं वहाँ 'अपूर्व' पदके सम्बन्धमें मतभेद है।

चूँकि यह 'अपूर्व' पद जैन परम्पराके लिए नया था, शायद इसीसे माणिक्यनन्दिने अपने परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थमें अपूर्वपदका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए एक सूत्र दिया 'अनिश्चितोऽपूर्वार्थः'—जो अर्थ अनिश्चित है, अज्ञात है वह अपूर्व है। इसके पश्चात् भी आचार्यने एक सूत्र और रचा है—'दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥१-५॥ अर्थात् जो केवल अज्ञात है वही 'अपूर्व' नहीं है, किन्तु जो ज्ञात है, उसमें यदि संशय वगैरह उत्पन्न हो जाये तो वह भी अपूर्व ही है।

इन सूत्रोंका व्याख्यान करते हुए आचार्य प्रभाचन्दने लिखा[3] है कि धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं है, यह बतलानेके लिए ही सूत्रकारने प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्व' पद दिया है।

इसपर धारावाहिक ज्ञानको प्रमाण माननेवाले भाट्टपक्षकी ओरसे यह शंका की गयी कि यदि अपूर्व अर्थका ग्राही ज्ञान ही प्रमाण है तो प्रमाणसंप्लवका विरोध होता है। एक ही अर्थमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्तिको प्रमाणसंप्लव कहते हैं। किन्तु अपूर्वार्थग्राही ज्ञानको ही प्रमाण माननेसे एक प्रमाणसे जाने हुए अर्थको दूसरे प्रमाणसे यदि जाना जायेगा तो वह प्रमाण नहीं ठहरेगा। जैसे आगको

---

१. शावर भा० १।१।५। २. प्रश० व्योम० पृ० ५२९। ३. प्रमेयक० मा० पृ० ५९।

अनुमानसे जानकर यदि प्रत्यक्षसे जानें तो प्रत्यक्ष अप्रमाण कहलायेगा क्योंकि उसने अनुमानसे ज्ञात अग्निको ही पुनः जाना। इसका समाधान करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्रने कहा है कि यदि जाने हुए अर्थको पुनः जाननेवाला दूसरा प्रमाण पहलेसे कुछ विशेष जानता है, तो वह प्रमाण ही है; क्योंकि वह भी अपूर्व अर्थको विषय करता है। जैसे अनुमानसे अग्निका सामान्य बोध होता है और प्रत्यक्षसे विशेषरूपसे बोध होता है।

अकलंकदेवने भी प्रमाणको 'अनधिगतार्थग्राही' लिखा है। अपनी अष्टशतीमें[1] उन्होंने लिखा है कि अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणका लक्षण 'अनधिगत अर्थका अधिगम' है, अर्थात् अज्ञात अर्थका निश्चय करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण है। अतः यह निश्चित है कि परीक्षामुखके कर्ता आचार्य माणिक्यनन्दिने अकलंकके इस लक्षणको दृष्टिमें रखकर ही अपने प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्व' पदका समावेश किया है, क्योंकि माणिक्यनन्दिने अपूर्वकी परिभाषा 'अनिश्चित' की है। और 'अनधिगत' तथा 'अनिश्चित' समानार्थक हैं। फिर उन्होंने संशय आदि होनेसे ज्ञातको भी 'अपूर्वार्थ' ही बतलाया है। उधर अकलंकदेवने अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण माना है। अतः जिसमें विसंवाद है—संशय आदि समारोप हैं वह अपूर्वार्थ ही है और विसंवादको जो दूर करता है, वह प्रमाण है।

आगे अकलंकदेवने बौद्धोंके प्रति सविकल्पक ज्ञानको प्रमाण सिद्ध करते हुए लिखा है[2]—यदि अनधिगत अर्थका ग्राहक न होनेसे आप (बौद्ध) सविकल्पकको अप्रमाण मानते हों, तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि वह भी अनधिगत अर्थका ग्राही नहीं है। यदि अनधिगत स्वलक्षण रूप अर्थका अध्यवसाय करनेसे अनुमानको विशिष्ट मानते हैं तो सविकल्पकके प्रामाण्यका भी निषेध नहीं करना चाहिए क्योंकि वह भी निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा अनिर्णीत नीलादिका निर्णय करता है।

इसपर बौद्धने यह आशंका की कि इस प्रकारसे तो पूर्व निश्चित अर्थकी स्मृति भी प्रमाण हो जायेगी। इसपर अकलंकदेवने दो विकल्प उठाते हुए लिखा है—'यदि वह स्मृति प्रमिति-विशेषको उत्पन्न नहीं करती, तो जैसे प्रत्यक्ष-

१. प्रमाणमविसंवादि-ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। अष्टस० पृ० १७५।

२. अनधिगतार्थाधिगमाभावात्तदप्रमाणत्वे लौकिकस्यापि मा भूत विशेषाभावात्। अनधिगतत्वस्वलक्षणाध्यवसायादनुमितेरतिशयकल्पनायां प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात् क्षणभङ्गानुमानवत्। अष्टश०, अष्टस० पृ० २७८।

से निश्चित अग्निके विषयमें होनेवाली साध्य और साधनके सम्बन्धकी स्मृति प्रमाण नहीं है, वैसे ही पूर्व निश्चित अर्थ मात्रकी स्मृति भी जाने हुए अर्थको ही जाननेके कारण प्रमाण नहीं है। किन्तु यदि वह स्मृति पूर्व निश्चित अर्थ मात्रका स्मरण न करके उसके विषयमें विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न कराती है तो वह प्रमाण है (क्योंकि[1] वह दृष्ट वस्तुके भी अनिश्चित अंशका निश्चय कराती है।)

इस तरह अकलंक देवके अभिप्रायके अनुसार भी जो ज्ञान अनधिगत अर्थका ग्राही है या अधिगत अर्थके भी अनधिगत अंशका निर्णय कराता है, प्रमाण है। यही बात परीक्षामुखमें माणिक्यनन्दिने कही है। अतः 'अपूर्वार्थ' विशेषण माणिक्यनन्दिका स्वोपज्ञ नहीं है, किन्तु यह भी अकलंकदेवकी ही देन है।

इतना स्पष्टीकरण करनेके बाद हम पुनः परीक्षामुखके व्याख्याकार प्रभाचन्द्राचार्यकी ओर आते हैं।

प्रभाचन्द 'दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए कहते हैं। [2]'अनधिगत अर्थको जानना ही प्रमाणका लक्षण नहीं है, क्योंकि वस्तु अधिगत हो या अनधिगत हो, यदि वह उसको निर्दोषरूप से जानता है तो वह दोषी नहीं है। शायद कोई पूछे कि जाने हुए अर्थमें ज्ञान क्या करता है जो उसे प्रमाण माना जाये ? इसका उत्तर है कि विशिष्ट ज्ञानका जनक होनेसे उसे प्रमाण माना जाता है। जहाँ वह विशिष्ट जानकारी नहीं कराता वहाँ वह अप्रमाण है। यदि सर्वथा अनधिगत अर्थके अधिगन्ता (ज्ञाता) को ही प्रमाण माना जायेगा तो प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय करना भी शक्य न होगा; क्योंकि ज्ञानने जिस रूप अर्थको जाना यदि उसी रूप अर्थ होता है तो वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। और इसका निर्णय संवादज्ञानसे होता है। वह संवादज्ञान उस अर्थके ज्ञानके पश्चात् होता है। अब यदि अनधिगत अर्थके अधिगन्ताको ही प्रमाण माना जाता तो संवादज्ञान प्रमाण नहीं रहा, क्योंकि वह तो पूर्वज्ञानसे गृहीत अर्थका ही ग्रहण करता है। और जब वह स्वयं अप्रमाण ठहरता है तो उससे प्रथम ज्ञानका प्रामाण्य कैसे स्थापित किया जा सकता है ? जब सामान्य और विशेषका तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है तो प्रमाण सर्वथा अनधिगत अर्थका ग्राही हो कैसे सकता है, क्योंकि वस्तुमें इस समय जो अस्तित्व है (द्रव्य दृष्टिसे) वह पूर्व अस्तित्वसे अभिन्न है और पूर्व अस्तित्वको पहले ही जान लिया है। हाँ, यदि कथंचित् अनधिगत अर्थके ग्राही ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो कोई आपत्ति खड़ी नहीं होती।

१. ब्रैकेटके अन्तर्गत अष्ट० श० के व्याख्याकार विद्यानन्दिके शब्दोंका भाव है। ले०।
२. 'तत्र अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेव प्रमाणस्य लक्षणम्'। प्रमेयक० पृ० ५६।

शङ्का—निश्चित विषयका निश्चय करनेसे क्या लाभ है। यह तो नासमझी की निशानी है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, बार-बार निश्चय करनेसे यह ज्ञात होता है कि वस्तु सुख आदिमें कहाँतक सहायक हो सकती है। प्रथम ज्ञानसे तो वस्तु मात्रका निश्चय होता है। फिर यह 'सुखकी साधक है' ऐसा निश्चय होनेपर उसे ग्रहण करते हैं या 'दुःखकी साधक है' ऐसा निश्चय होनेपर उसे छोड़ देते हैं। यदि बार-बार निश्चय न किया जाये तो त्याज्य वस्तुका ग्रहण और ग्राह्य वस्तुका त्याग नहीं किया जा सकता है। हाँ, किन्हीं पुरुषोंको अभ्यास वश वस्तुको एक बार देखनेसे ही इस बातका निश्चय हो जाता है कि यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है या छोड़ने योग्य है। अतः एक ही वस्तुको विषय करनेवाले आगम प्रमाण, अनुमान प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाणका प्रामाण्य भी समुचित ही है। क्योंकि तीनों प्रमाणोंके जाननेमें एक दूसरेसे विशेषता रहती है। जैसे, शब्दके द्वारा अग्निका सामान्य ज्ञान होता है। अनुमानसे किसी नियत देशवर्ती अग्निका ज्ञान होता है। और प्रत्यक्षसे उसका रूप रंग आकार वगैरह ज्ञात हो जाता है। अतः भाट्टने जो प्रमाणका लक्षण कहा है वह ठीक नहीं है। उसने कहा है—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥"

—यदि अपूर्वार्थका ज्ञान प्रमाण है तो तैमिरिक रोगीको आकाशमें एकके दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं जो कभी किसीको दिखाई नहीं देते। अतः वह भी प्रमाण कहा जायेगा। अतः कथंचित् अपूर्वार्थग्राही ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिए।

इस तरह आचार्य प्रभाचन्द्रने अकलंकदेवकी सरणिका ही अनुसरण करके कथंचित् अपूर्वार्थग्राही ज्ञानके प्रामाण्यका समर्थन किया है और सर्वथा अपूर्वार्थ-ग्राहित्वका खण्डन किया है। यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि 'अनधि-गत' और 'अपूर्व' पद समानार्थक हैं। और बौद्ध तथा मीमांसकोंने अनधिगतार्थ-ग्राही या अपूर्वार्थग्राही विज्ञानको प्रमाण माना है। किन्तु बौद्ध धारावाही ज्ञानको प्रमाण नहीं मानते, जब कि मीमांसक[1]की प्रभाकरीय और कुमारिलीय दोनों परम्पराएँ धारावाहिक ज्ञानको प्रमाण मानती हैं किन्तु दोनों परम्पराओंने उसका समर्थन भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। एक ही घटमें प्रथम ज्ञानसे ही घट-विषयक अज्ञान दूर हो जानेपर फिर 'यह घट है, यह घट है' इस प्रकार लगातार उत्पन्न होनेवाले उत्तर ज्ञानोंको धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। भाट्टमतानुयायी

१. प्रमा० मी० का भाषा टिप्पण, पृ० १२।

जनोंका कहना है कि धारावाहिक ज्ञानोंमें भी उत्तरोत्तर जो कालभेद है वह अगृहीत है, उसका ग्रहण होनेसे उनका प्रामाण्य युक्त ही है। किन्तु प्रभाकर मतानुयायी क्षणभेद माने बिना ही उन्हें प्रमाण मानते हैं। इस भेदका कारण यह है कि भाट्टोंने प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्व' पदको स्थान दिया है, जब कि प्राभाकर अनुभूति मात्रको ही प्रमाण मानते हैं।

जैन दार्शनिकोंमें भी धारावाहिक ज्ञानोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यको लेकर दो विचारधाराएँ पायी जाती हैं। एक विचारधाराके अनुसार चूँकि अनधिगत अथवा अपूर्व अर्थका ग्राही ज्ञान प्रमाण है, अतः धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु अनधिगत अथवा अपूर्वसे सर्वथा अनधिगत या सर्वथा अपूर्व नहीं लेना चाहिए। किन्तु कथंचित् लेना चाहिए। अतः प्रथम ज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें प्रवृत्त हुआ उत्तर ज्ञान यदि उससे कुछ विशेष जानता है तो वह प्रमाण ही है।

दूसरी विचारधाराके अनुसार 'स्वार्थ[1] व्यवसायात्मज्ञान प्रमाण है' इतने लक्षणमें ही सब बातें आ जाती हैं। अतः इसमें 'अपूर्व' विशेषण लगाना व्यर्थ है। धारावाहिक ज्ञान गृहीतग्राही हो अथवा अगृहीतग्राही हो यदि वह 'स्वार्थ' का निश्चायक है तो प्रमाण है।....यदि गृहीतग्राही होनेसे स्मृति प्रमाण नहीं है तो धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकता।

जैन दर्शनमें पहली विचारधाराके प्रवर्तक भट्ट अकलंकदेव ही प्रतीत होते हैं और यह विचारधारा बौद्ध दर्शनसे जैन दर्शनमें प्रविष्ट हुई जान पड़ती है। अकलंकदेवकी यह सरणि रही है कि उन्होंने अन्य दर्शनोंके मन्तव्योंकी ऐकान्तिकताकी समीक्षा करके और उसमें अनेकान्तवादका पुट देकर उन्हें अपने अनुकूल बनानेका प्रयत्न भी किया है। उनके तत्त्वार्थवार्तिकका अवलोकन करनेसे पद-पदपर उक्त सरणिके दर्शन होते हैं। अतः बौद्ध दर्शनके 'अनधिगतार्थाधिगम लक्षण' से एकान्तवादको हटाकर उसमें अनेकान्तवादको घटित किया है। अन्यथा अकलंकदेव भी अपूर्वार्थग्राही ज्ञानको प्रमाण माननेके पक्षपाती नहीं हैं; क्योंकि उन्होंने तत्त्वार्थवार्तिकमें उसका खण्डन करते हुए लिखा[2] है—'प्रमाणका लक्षण 'अपूर्वाधिगम' ठीक नहीं है,....क्योंकि जैसे अन्धकारमें रखे हुए पदार्थों-

---

१. तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥७७॥ गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥७८॥ – तत्त्वार्थश्लो० १–१०।

२. अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः ॥१२॥

—तत्त्वार्थ०–१–१२

को दीपक तत्काल ही प्रकाशित कर देता है, फिर भी बादको भी वह प्रकाशक ही कहा जाता है। अर्थात् प्रकाशित पदार्थोंको ही प्रकाशित करते रहनेसे दीपक अप्रकाशक नहीं कहा जाता, किन्तु प्रकाशक ही कहा जाता है, क्योंकि उस दीपकसे ही उन पदार्थोंकी अवस्थितिका बोध होता रहता है। इसी तरह ज्ञान भी उत्पन्न होते ही घटादि पदार्थोंका अवभासक होकर प्रमाणपनेको प्राप्त करके बादको भी 'प्रमाण' इस नामको छोड़ नहीं देता।.....शायद कहा जाये कि प्रतिक्षण दीपक अन्य-अन्य होता है अतः वह अपूर्व-अपूर्व अर्थका ही प्रकाशक है, तो ज्ञान भी दीपककी तरह प्रतिक्षण बदलता है, अतः 'अपूर्वाधिगम लक्षण' उसमें भी मौजूद है। अतः यह कहना खण्डित हो जाता है कि स्मृतिकी तरह पहले जाने हुए पदार्थको पुनः-पुन जाननेवाला ज्ञान अप्रमाण है।'

अकलंकके अनुगामी विद्यानन्द तथा माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख सूत्रग्रन्थके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रके टीकाग्रन्थोंके देखनेसे भी उक्त नतीजेपर पहुँचना पड़ता है। ऊपर जो दूसरी विचारधारा दी गयी है, वह आचार्य विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकसे दी गयी है। उसमें उन्होंने स्पष्ट रूपसे 'अपूर्व' पदको निरर्थक बतलाया है। तथा प्रभाचन्द्रने परीक्षामुखके 'दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्' इस सूत्रका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि—'अनधिगत अर्थका जानना ही प्रमाणका लक्षण नहीं है। यदि भट्ट अकलंक अनधिगत अर्थके ज्ञाता ज्ञानको ही प्रमाण मानते होते तो उनके अनुयायी विद्यानन्द तथा प्रभाचन्द्र इस तरहसे उनके विरुद्ध न जाते। वे जानते थे कि अनेकान्तवादी अकलंक देवकी दृष्टि इस विषयमें भी एकान्तवादी नहीं है। अतः विद्यानन्दने अपूर्व पदको व्यर्थ बतलाया और प्रभाचन्द्रने सर्वथा अनधिगत अर्थके जाननेवाले ज्ञानको प्रमाण मानना अस्वीकृत कर दिया।

बौद्ध और मीमांसक स्मृतिको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। अतः उनके मतमें तो अनधिगत और अपूर्व पदका प्रयोजन स्पष्ट है। किन्तु जैन परम्परामें तो स्मृतिको स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। अतः अनधिगत या अपूर्व पदका वह प्रयोजन जैन परम्परामें नहीं है। इसीसे माणिक्यनन्दिके द्वारा प्रमाणके लक्षणमें जो 'अपूर्व' पद प्रविष्ट किया गया, दिगम्बर परम्परामें उसे समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। और श्वेताम्बर[1] परम्पराके तो सभी विद्वान् एक मतसे धारावाही ज्ञानको प्रमाण माननेके ही पक्षमें हैं। अतः किसीने भी प्रमाणके लक्षणमें 'अनधिगत' और

१. प्रमाणमीमांसाके भाषा टिप्पण पृ० १२-१३।

'अपूर्व' जैसे पदको स्थान नहीं दिया। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने स्पष्ट रूपसे यह कह दिया कि गृहीतग्राही ज्ञान भी अगृहीतग्राहीके समान ही प्रमाण है।

श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरिने तो अपनी [1]प्रमाणमीमांसामें एक सूत्रके द्वारा ग्रहीष्यमाण ग्राहीकी तरह ही ग्रहीतग्राहीको भी प्रमाण माना है। उनका कहना है कि 'द्रव्यकी अपेक्षासे गृहीतग्राहित्वके प्रामाण्यका निषेध करते हैं अथवा पर्यायकी अपेक्षासे ? पर्यायकी अपेक्षासे तो धारावाही ज्ञान भी गृहीतग्राही नहीं है, क्योंकि पर्याय क्षणिक होती है। अतः उसका निराकरण करनेके लिए प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्व' पद देना व्यर्थ है। यदि द्रव्यकी अपेक्षा गृहीतग्राहीको प्रमाण नहीं मानते तो यह पक्ष भी युक्त नहीं है। द्रव्य नित्य होता है अतः ग्रहीष्यमाण और गृहीत अवस्थाओंमें द्रव्यकी अपेक्षा कोई भेद नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें ग्रहीष्यमाण ग्राहीको प्रमाण मानना और गृहीतग्राहीको प्रमाण न मानना कैसे संगत है ? तथा जैनदर्शनमें गृहीतग्राही होनेपर भी अवग्रह, ईहा आदिको प्रमाण माना गया है। शायद कहा जाये कि उनका विषय भिन्न-भिन्न है, किन्तु ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अवग्रहसे गृहीत पदार्थमें ईहा ज्ञान नहीं होगा, और ईहासे गृहीत पदार्थका अवायज्ञान नहीं होगा। शायद कहा जाये कि पर्यायकी अपेक्षासे अवग्रह आदि ज्ञान अनधिगतको ही जानते हैं, अतः वे अपूर्वग्राही ही हैं, किन्तु इस तरहसे तो कोई भी ज्ञान गृहीतग्राही नहीं है, क्योंकि पर्याय तो प्रतिसमय बदलती रहती हैं।'

इस तरह प्रमाणके विषयमें अपूर्व पदको लेकर जैनदर्शनमें थोड़ा-सा मतभेद है। किन्तु प्रमाण अर्थका और 'स्व' का निश्चायक होता है इसमें कोई मतभेद नहीं है।

दर्शनान्तर सम्मत प्रमाण लक्षण और उनकी समीक्षा

१. सन्निकर्षवाद

पूर्वपक्ष—सन्निकर्षवादी नैयायिकोंका कहना है कि अर्थका ज्ञान करानेमें सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है। सब जानते हैं कि चक्षुका घटके साथ संयोग होनेपर ही घटका ज्ञान होता है। जिस अर्थका इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष नहीं होता, उसका ज्ञान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियोंसे असन्निकृष्ट अर्थका भी ज्ञान माना जायेगा तो सबको सब पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिए। किन्तु देखा जाता

---

१. १-१-४।

है कि जो पदार्थ दृष्टिसे ओझल होते हैं, उनका ज्ञान नहीं होता।[1]

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय कारक[2] है, और कारक दूर रहकर अपना काम नहीं कर सकता। अतः हमारा कहना है कि इन्द्रिय जिस पदार्थसे सम्बन्ध नहीं करती उसे नहीं जानती, क्योंकि वह कारक है, जैसे बढ़ईका बसूला लकड़ीसे दूर रहकर अपना काम नहीं करता। सब जानते हैं कि स्पर्शन इन्द्रिय पदार्थको छूकर ही जानती है, बिना छुए नहीं जानती। यही बात अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझ लेनी चाहिए।

वह सन्निकर्ष छह प्रकार[3]का है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय, और विशेषणविशेष्यभाव। चक्षुका घट आदि पदार्थोंके साथ संयोग सन्निकर्ष है, घट आदिमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले गुण, कर्म आदि पदार्थोंके साथ संयुक्त समवाय सन्निकर्ष है; क्योंकि चक्षुका घटके साथ संयोग सम्बन्ध है और उस घटमें समवाय सम्बन्धसे गुण कर्म आदि रहते हैं, तथा घटमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले गुण कर्म आदिमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले गुणत्व, कर्मत्व आदिके साथ संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष है। इसी तरह श्रोत्रका शब्दके साथ समवाय सन्निकर्ष है; क्योंकि कानके छिद्रमें रहनेवाले आकाशका ही नाम श्रोत्र है और आकाशका गुण होनेसे शब्द वहाँ समवाय सम्बन्धसे रहता है। शब्दत्वके साथ समवेत समवाय सन्निकर्ष है। 'इस घरमें घटका अभाव है' यहाँ घटाभावके साथ विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है; क्योंकि चक्षुसे संयुक्त घरका विशेषण घटाभाव है।

प्रत्यक्ष[4] ज्ञान चार, तीन अथवा दोके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है। बाह्य रूप आदिका प्रत्यक्ष चारके सन्निकर्षसे होता है – आत्मा मनसे सम्बन्ध करता है, मन इन्द्रियसे और इन्द्रिय अर्थसे। सुखादिका प्रत्यक्ष तीनके सन्निकर्षसे होता है; क्योंकि उसमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं। योगियोंको जो आत्माका प्रत्यक्ष होता है, वह केवल आत्मा और मनके सन्निकर्षसे ही होता है। अतः सन्निकर्षको ही प्रमाण मानना चाहिए।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना[5] है कि वस्तुका ज्ञान करानेमें सन्निकर्ष साधकतम नहीं है, इसलिए वह प्रमाण भी नहीं है। जिसके होनेपर ज्ञान हो और नहीं होनेपर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है; किन्तु सन्निकर्षमें यह बात नहीं है;

---

१. न्याय भा०, पृ० २५५।
२. न्यायमं० पृ० ७३ तथा ४७६।
३. न्याय वा० पृ० ३१। न्यायमं० पृ० ७२।
४. न्यायमं०, पृ० ७४।
५. न्या० कु०, पृ० २५–३२। प्रमेयक० मा०, पृ० १४–१८।

कहीं-कहीं सन्निकर्षके होनेपर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे, घटकी तरह आकाश आदिके साथ भी चक्षुका संयोग रहता है, फिर भी आकाशका ज्ञान नहीं होता। अतः जो जहाँ बिना किसी व्यवधानके कार्य करता है, वही वहाँ साधकतम होता है, जैसे घरमें रखे हुए पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें दीपक। एक ज्ञान ही ऐसा है जो बिना किसी व्यवधानके अपने विषयका ज्ञान कराता है। अतः वही प्रमितिमें साधकतम है, और इसलिए वही प्रमाण है, सन्निकर्ष नहीं।

सन्निकर्षवादियोंकी ओरसे इसका यह समाधान दिया जाता है कि चक्षु सन्निकर्षमें घटादिका ज्ञान करानेकी योग्यता है, आकाश आदिका ज्ञान करानेकी योग्यता नहीं है। इसलिए वह आकाश आदिका ज्ञान नहीं कराता। जैन कहेंगे—तो फिर योग्यताको ही साधकतम मानो। किन्तु यह सन्निकर्षकी योग्यता है क्या वस्तु? विशिष्ट शक्तिका नाम ही योग्यता है। तो वह सन्निकर्षके सहकारियोंकी निकटता कहलायी, क्योंकि उद्योतकरने 'सहकारियोंकी निकटताको ही शक्ति बतलाया है। अब प्रश्न यह होता है कि सन्निकर्षके सहकारी कारण द्रव्य हैं, गुण है, अथवा कर्म है? आत्म-द्रव्य तो सहकारी कारण हो नहीं सकता; क्योंकि आकाश और चक्षुके सन्निकर्षके समय आत्मा मौजूद रहता है फिर भी ज्ञान नहीं होता। इसी तरह काल, दिशा आदि भी सन्निकर्षके सहकारी कारण नहीं हो सकते, क्योंकि आकाश और चक्षुके सन्निकर्षके समय वे भी मौजूद रहते हैं, फिर भी आकाशका ज्ञान नहीं होता। मन भी सन्निकर्षका सहायक नहीं हो सकता; क्योंकि चक्षु और आकाशके सन्निकर्षके समय पुरुषका मन उस ओर हो तब भी आकाशका ज्ञान नहीं होता। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि आत्मा मन इन्द्रिय और अर्थ इन चारोंका सन्निकर्ष अर्थका ज्ञान करानेमें साधकतम है; क्योंकि यह सब सामग्री आकाशके साथ सन्निकर्षके समय मौजूद रहती है। यदि कहा जाये कि तेज द्रव्य प्रकाश सन्निकर्षका सहायक है, क्योंकि उसके होनेपर ही आँखोंसे ज्ञान होता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि घरकी तरह आकाशके साथ सन्निकर्षके समय प्रकाशके रहते हुए भी आकाशका ज्ञान नहीं होता। यदि अदृष्ट गुणको सहायक माना जायेगा तो भी कभी-न-कभी आकाशका चक्षुसे ज्ञान होनेका प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि सहकारी अदृष्ट आकाश और चक्षु सन्निकर्षके समय भी वर्तमान रहता है। इसी तरह कर्मको सन्निकर्षका सहकारी माननेसे भी वही दोष आता है; क्योंकि आकाश और इन्द्रियके सन्निकर्षके समय भी चक्षुका उन्मीलन-निमीलन कर्म जारी रहता है। अतः सहकारी कारणोंकी सहायता रूप शक्ति अर्थका ज्ञान करानेमें साधक नहीं है, किन्तु ज्ञाताकी अर्थको ग्रहण कर सकनेकी शक्ति या योग्यता ही वस्तुका ज्ञान

करानेमें साधकतम है।

सन्निकर्षवादीका तर्क हो सकता है कि यदि अर्थका ज्ञान करानेमें साधकतम होनेसे योग्यताको ही जैन प्रमाण मानते हैं तो ज्ञानके प्रमाण होनेकी बात तो छूट ही जाती है। जैन कहेंगे—स्व और अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम योग्यता है। वह योग्यता स्व और अर्थको जाननेवाले ज्ञानरूप प्रमाणकी सामग्री होनेसे प्रमाणकी उत्पत्तिमें ही साधकतम है। अर्थात् उक्त योग्यता स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमाणको उत्पन्न करती है, प्रमाण तो ज्ञान ही है, किन्तु ज्ञानकी उत्पत्ति तभी होती है जब ज्ञातामें उस अर्थको ग्रहण करनेकी शक्ति होती है। अतः शक्तिरूप योग्यता ज्ञानोत्पत्तिमें साधकतम है और ज्ञान स्व और अर्थकी परिच्छित्ति करानेमें साधकतम है। अतः ज्ञान ही प्रमाण है।

चक्षुका अप्राप्यकारित्व

चक्षु अपने विषयको छूकर नहीं जानती।[1] यदि छूकर जानती होती तो आँखमें लगे अंजनको भी जान लेती। किन्तु दर्पणमें देखे बिना अंजनका ज्ञान नहीं होता अतः वह अप्राप्यकारी है। चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए कहा जाता है कि चक्षु ढकी हुई वस्तुको नहीं देख सकती; इसलिए प्राप्यकारी है। वस्तुतः यह कथन उचित नहीं है। काँच, अभ्रक और स्फटिकसे ढके हुए पदार्थोंको भी चक्षु देख लेती है। चुम्बक दूरसे ही लोहेको खींच लेता है। फिर भी वह किसी चीज़से ढके हुए लोहेको नहीं खींचता। इसलिए जो ढकी हुई वस्तुको ग्रहण न कर सके वह प्राप्यकारी होता है, ऐसा नियम बनाना ठीक नहीं है।

शंका—यदि चक्षु अप्राप्यकारी है तो उसे अतिदूरवर्ती और ओटमें रखी हुई वस्तुको भी जान लेना चाहिए।

उत्तर—यह आपत्ति तो चुम्बक पत्थरके दृष्टान्तसे ही खण्डित हो जाती है। चुम्बक लोहेसे दूर रहकर ही लोहेको अपनी ओर खींचता है, फिर भी न वह अतिदूरवर्ती लोहेको खींचता है और न किसी वस्तुके बीचमें आ जानेपर ही लोहेको खींचता है।

शंका—यदि चक्षु दूरसे ही वस्तुको ग्रहण कर लेती है तो फिर किसी वस्तुमें संशय या विपरीत ग्रहण क्यों होता है?

उत्तर—यह आपत्ति तो चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें ही विशेष रूपसे आती है। क्योंकि जब चक्षु पदार्थके पास जाकर उसे जानती है तब तो संशयको या विपरीत ग्रहणको कोई स्थान ही नहीं रहता।

---

१. त०रा०वा० पृ० ४८। न्या०कु०च०, पृ० ७५-८२। प्रमेयक० मा०, पृ० २२०-२२६।

शंका—चक्षुसे[१] किरणें निकलती हैं और वे पदार्थके पास जाती हैं, इसलिए चक्षु प्राप्यकारी है।

उत्तर—यदि हमारी आँखसे किरणें निकलती होतीं तो कमसे कम रात्रिके अन्धकारमें तो वे अवश्य दिखाई देतीं।

शंका—बिल्लीकी आँखसे किरणें निकलती हुई दिखाई देती हैं?

उत्तर—बिल्लीकी आँखमें किरणें होनेसे हमारी आँखमें किरणोंका होना तो सिद्ध नहीं हो सकता। सुवर्णको पीला देखकर यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि जो जो पीला होता है वह सब सुवर्ण होता है। इसी तरह बिल्लीकी आँखमें किरणें देखकर यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि सब आँखोंसे किरणें निकलती हैं।

शंका—चक्षु तैजस है और तैजस होनेसे उसमें किरणोंका होना सिद्ध ही है।

उत्तर—यदि चक्षु तैजस है तो उसे गरम होना चाहिए; क्योंकि तेजका लक्षण उष्णता है। तथा चमकीली भी होना चाहिए।

शंका—यद्यपि चक्षु तैजस है फिर भी उसमें उष्ण स्पर्श और चमकीला रूप प्रकट नहीं है।

उत्तर—ऐसा तैजस द्रव्य देखा जाता है जिसमें उष्ण स्पर्श प्रकट नहीं रहता किन्तु चमकीला रूप रहता है; जैसे दीपककी प्रभामें। और ऐसा भी तैजस द्रव्य देखा जाता है जिसमें उष्ण स्पर्श रहता है, किन्तु चमक नहीं रहती जैसे गरम पानी। किन्तु ऐसा तैजस द्रव्य नहीं देखा गया जिसमें रूप और स्पर्श दोनों ही प्रकट न हों।

शंका—ऐसा सुवर्ण है।

उत्तर—सुवर्ण तैजस नहीं है। अतः तैजस होनेसे चक्षुमें किरणोंका होना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

शंका—चक्षु तैजस है; क्योंकि वह रूपका ही प्रकाशन करती है।

उत्तर—आपके इस हेतुमें चन्द्रमाके उद्योतसे व्यभिचार आता है। चन्द्रमाका प्रकाश भी केवल रूपका ही प्रकाशन करता है किन्तु वह तैजस नहीं माना जाता, पार्थिव माना जाता है।

शंका—चन्द्रमाका प्रकाश भी तैजस है।

---

१. न्यायवा० पृ० ३८१।

उत्तर—जिसका मूल भी उष्ण होता है और प्रभा भी उष्ण होती है, उसे आगममें तैजस कहा है। चन्द्रमाके प्रकाशमें ये दोनों बातें नहीं हैं। अतः चन्द्रमाका प्रकाश तैजस नहीं है। चक्षुको तैजस न माननेमें एक और कारण है—

जो तैजस होता है, वह अन्धकारको नहीं प्रकट करता। जैसे सूर्यका प्रकाश। चक्षु अन्धकारको भी बतलाती है; अतः वह तैजस नहीं है। और तैजस न होनेसे उसमें किरणोंका होना भी सिद्ध नहीं है। जो-जो किरणोंवाली वस्तुएँ हैं वे अपनेसे सम्बद्ध पदार्थका प्रकाश अवश्य करती हैं, जैसे दीपक। यदि चक्षु भी रश्मिवाली होती तो आँखमें लगे अंजनको और काच-कामल आदि रोगोंको अवश्य देख लेती क्योंकि उनका चक्षुके साथ सम्बन्ध है ही; किन्तु नहीं देखती, इससे सिद्ध है कि चक्षुमें रश्मियाँ नहीं हैं। थोड़ी देरके लिए यदि चक्षुमें रश्मियाँ मान भी ली जायें तो उनसे बड़े पर्वत वगैरहका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि मनसे अधिष्ठित होकर ही चक्षुरश्मि पदार्थका प्रकाशन कर सकती है। सन्निकर्षवादी नैयायिक मनको अणु रूप मानता है, अणुरूप मन चक्षुसे बाहर फैली हुई रश्मियोंका अधिष्ठातृत्व कैसे कर सकता है?

तथा यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो अँधेरी रातमें दूरपर अग्नि जलती हो तो उसके पासके पदार्थ तो दिखाई देते हैं किन्तु चक्षु और आगके अन्तरालमें जो पदार्थ होते हैं वे दिखाई क्यों नहीं देते?

शंका—बीचमें प्रकाश नहीं है।

उत्तर—जब चक्षु अग्निकी तरह तैजस है तो उसे किसी प्रकाशकी आवश्यकता ही क्या है? तथा यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो क्या पदार्थ चक्षुके पास आता है या चक्षु पदार्थके पास जाती है? दोनों बातें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं; क्योंकि न तो पदार्थ चक्षुके पास जाता देखा जाता है और न चक्षु पदार्थके पास जाती देखी जाती है। यदि चक्षु पदार्थके पास जाकर उसे जानती तो अमुक पदार्थ दूर है और अमुक पदार्थ समीप है, यह व्यवहार ही न होता। अतः चक्षु प्राप्यकारी नहीं है। इसीलिए पदार्थके साथ उसका सन्निकर्ष भी नहीं होता।

सन्निकर्ष[1]को प्रमाण माननेमें एक आपत्ति और भी है—सर्वज्ञका अभाव। यदि सर्वज्ञ सन्निकर्षके द्वारा ही पदार्थोंको जानता है तो उसका ज्ञान या तो मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य होगा। मन और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति अपने विषयमें क्रमशः होती है तथा इनका विषय भी नियत है, जब कि त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थोंका अन्त

१. स० सि० पृ० ५७; त० रा० वा० पृ० ३६; न्या० कु० च० पृ० ३२;

नहीं है और उनमें भी कुछ पदार्थ सूक्ष्म हैं, जैसे परमाणु। कुछ पदार्थ अतीत हो चुके हैं, जैसे राम रावण। कुछ पदार्थ सुदूरवर्ती हैं, जैसे सुमेरु। इन सबके साथ मन और इन्द्रियोंका सन्निकर्ष नहीं होता और बिना सन्निकर्षके हुए ज्ञान नहीं होता।

शंका—आत्मा व्यापक है अतः समस्त पदार्थोंके साथ उसका सन्निकर्ष होनेसे वह सबको जानता है।

समाधान—आत्माको व्यापक माननेमें भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं जिनपर यथावसर प्रकाश डाला जायेगा। अतः सन्निकर्षको प्रमाण मानना उचित नहीं है।

२. कारकसाकल्यवाद

पूर्वपक्ष—जो साधकतम[1] होता है उसे करण कहते हैं। और अर्थका व्यभिचाररहित ज्ञान करानेमें जो करण है, उसे प्रमाण कहते हैं। अर्थका निर्दोष ज्ञान किसी एक कारकसे नहीं होता, किन्तु कारकोंके समूहसे होता है। देखा जाता है कि एक-दो कारकोंके होनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, और समग्र कारकोंके होनेपर नियमसे उत्पन्न होता है। इसलिए कारकसाकल्य ही ज्ञानकी उत्पत्तिमें करण है। अतः वही प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो फल है और फलको प्रमाण मानना उचित नहीं है; क्योंकि प्रमाण और फल भिन्न होते हैं। यदि ज्ञानको ही प्रमाण माना जायेगा तो लोगोंने जो अज्ञान स्वरूप शब्द-लिंग आदिको प्रमाण माना है, वे अप्रमाण ठहरेंगे। ज्ञान भी पदार्थका ज्ञान करानेमें कारण है। जैसे विशेष्यके प्रत्यक्षमें विशेषण ज्ञान, अग्निके जाननेमें धूमका ज्ञान, अर्थके जाननेमें शब्द-ज्ञान, अतः सकल कारकोंमें ज्ञान भी लिया गया है। इसलिए वह भी प्रमाण है। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान स्वरूप कारकोंका साकल्य ही प्रमाण है।

उत्तर-पक्ष—कारकसाकल्य[2] मुख्य रूपसे प्रमाण है या उपचारसे। मुख्य रूपसे तो वह प्रमाण हो नहीं सकता क्योंकि कारकसाकल्य अज्ञानरूप है। जो अज्ञानरूप होता है वह स्व और परकी प्रमितिमें मुख्यरूपसे साधकतम नहीं हो सकता। उनकी प्रमितिमें मुख्यरूपसे साधकतम तो अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही हो सकता

१. न्यायमं०, पृ० १२ आदि।

२. कारकसाकल्यकी विस्तृत समीक्षाके लिए देखो—न्या० कु० च० पृ० ३५-३६ तथा प्र० क० मा० पृ० ७–१३।

है; क्योंकि ज्ञान और प्रमितिके बीचमें किसी दूसरेका व्यवधान नहीं है। ज्ञानके होते ही पदार्थकी प्रमिति (जानकारी) हो जाती है। किन्तु कारकसाकल्यमें यह बात नहीं है। कारकसाकल्य ज्ञानको उत्पन्न करता है, तब पदार्थकी जानकारी होती है। अतः कारकसाकल्य और प्रमितिके बीचमें ज्ञानका व्यवधान है। अतः कारकसाकल्य मुख्यरूपसे प्रमाण नहीं है। क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस कार्यमें जो-जो दूसरेसे व्यवहित होता है, वह उस कार्यमें मुख्यरूपसे साधकतम नहीं कहा जाता; जैसे लकड़ीको यद्यपि बढ़ई काटता है, किन्तु बिना कुल्हाड़ीके बढ़ई लकड़ी नहीं काट सकता। अतः बढ़ई मुख्य रूपसे उसमें साधकतम नहीं है। इसी तरह कारकसाकल्य भी स्व और परकी प्रमिति स्वयं नहीं कराता, किन्तु ज्ञानके द्वारा ही वह होती है, अतः कारकसाकल्य मुख्यरूपसे प्रमाण नहीं हो सकता। हाँ, उसे उपचारसे प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि स्व और परकी प्रमितिमें मुख्यरूपसे साधकतम जो ज्ञान है, उस ज्ञानका उत्पादक होनेसे कारकसाकल्य भी साधकतम है और इसलिए उसे भी प्रमाण माना जा सकता है। लिंग, शब्द आदि भी उपचारसे ही प्रमाण हैं।

३. इन्द्रियवृत्ति समीक्षा

[1]सांख्यका कहना है कि सन्निकर्ष और कारकसाकल्य भले ही प्रमाण न हों, किन्तु इससे ज्ञान प्रमाण सिद्ध नहीं होता। अर्थकी प्रमितिमें इन्द्रियवृत्ति ही साधकतम है, अतः उसे ही प्रमाण मानना चाहिए। इन्द्रियाँ जब विषयके आकार परिणमन करती हैं, तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द आदिका ज्ञान कराती हैं। अतः पदार्थका सम्पर्क होनेसे पहले इन्द्रियोंका विषयाकार होना इन्द्रियवृत्ति है। वही प्रमाण है।

सांख्यका[2] उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियवृत्ति अचेतन है, और जो अचेतन होता है, वह पदार्थको जाननेमें साधकतम नहीं हो सकता। इन्द्रियवृत्ति क्या है—इन्द्रियोंका पदार्थके पास जाना, पदार्थकी ओर अभिमुख होना, अथवा पदार्थके आकार होना? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि सन्निकर्षकी समीक्षा करते हुए बताया है कि इन्द्रियाँ पदार्थके पास नहीं जातीं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंका पदार्थकी ओर अभिमुख होना ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होनेसे उपचारसे प्रमाण हो सकता है, वास्तवमें तो प्रमाण ज्ञान ही है। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंका पदार्थके आकार होना प्रतीतिविरुद्ध है।

१. सांख्य का० २८। माठरवृ० पृ० ४७। योगद० व्यासभा०, पृ० २७। २. न्या० कु० च०, पृ० ४०-४१, प्रमेय क० मा०, पृ० १६।

जैसे दर्पण पदार्थके आकारको अपनेमें धारण करता है, वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ पदार्थके आकारको धारण करती नहीं देखी जातीं। यदि ऐसा होता तो जैसे दर्पणमें पदार्थके झलकनेको लेकर कोई विवाद नहीं है, वैसे ही इन्द्रियोंके विषयमें भी कोई विवाद न होता; क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध होती है, उसमें विवादको स्थान नहीं रहता।

यह मान भी लिया जाये कि इन्द्रियवृत्ति कोई चीज़ है, तो भी यह प्रश्न होता है कि वह वृत्ति इन्द्रियोंसे भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो वह वृत्ति इन्द्रियरूप ही कहलायी, अर्थात् इन्द्रियाँ और उनकी वृत्ति एक ही हुई। किन्तु इन्द्रियाँ तो सोते समय भी मौजूद रहती हैं, अतः उस समय भी उनका व्यापार चालू रहनेसे सुप्त और जागृत अवस्थामें कोई अन्तर ही नहीं रहेगा।

यदि इन्द्रिय वृत्तिको इन्द्रियोंसे भिन्न मानें तो प्रश्न होता है कि वह वृत्ति इन्द्रियोंसे सम्बद्ध है या असम्बद्ध है? यदि असम्बद्ध है तो उस वृत्तिको इन्द्रियोंकी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जो जिससे सम्बद्ध नहीं होता उसे उसका नहीं कहा जा सकता। जैसे सह्य और विन्ध्य पर्वत बिलकुल अलग-अलग हैं, अतः न सह्यको विन्ध्यका कहा जा सकता है और न विन्ध्यको सह्यका। इसी तरह श्रोत्र वगैरह इन्द्रियोंसे वृत्तिका कोई सम्बन्ध न माननेपर वृत्तिको इन्द्रियोंका नहीं कहा जा सकता।

यदि वृत्ति इन्द्रियोंसे सम्बद्ध है, तो इन दोनोंका कौन-सा सम्बन्ध है? समवाय, संयोग अथवा विशेषण-विशेष्यभाव। समवाय सम्बन्धको तो जैन सम्बन्ध ही नहीं मानते, इसका विचार यथावसर किया जायेगा। संयोग सम्बन्ध भी नहीं बनता; क्योंकि संयोग सम्बन्ध द्रव्य-द्रव्यका ही होता है। अतः यदि इन्द्रिय और उसकी वृत्तिका संयोग सम्बन्ध माना जायेगा तो वृत्ति भी एक द्रव्य हो जायेगी। फिर वृत्तिको इन्द्रियका धर्म नहीं माना जा सकता। इन्द्रिय और उसकी वृत्तिका विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध भी नहीं बनता क्योंकि सम्बन्धान्तरसे सम्बद्ध वस्तुमें ही यह सम्बन्ध होता है। अतः विचार करनेसे इन्द्रिय वृत्ति ही नहीं बनती। तब उसको प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

४. ज्ञातृव्यापार

पूर्वपक्ष—मीमांसक प्रभाकरके अनुयायियोंका कहना है कि सन्निकर्ष, कारकसाकल्य और इन्द्रियवृत्ति भले ही प्रमाण न हों; क्योंकि उनको प्रमाण माननेमें अनेक दोष आते हैं, किन्तु ज्ञातृव्यापार तो अवश्य ही प्रमाण है; क्योंकि ज्ञातृव्यापारके बिना पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। कारक तभी कारक कहा जाता

है जब उसमें क्रिया होती है; इसीलिए क्रियासे युक्त द्रव्यको ही कारक कहा गया है। जिसमें क्रिया नहीं, वह तो वस्तु मात्र है, उसे कारक नहीं माना जा सकता। फलार्थी पुरुष केवल वस्तु मात्रको नहीं अपनाते, किन्तु जो इष्ट प्रयोजनका साधक होता है उसे ही अपनाते हैं। इसलिए जैसे रसोई पकानेके लिए चावल, पानी, आग और बटलोई इन कारकोंको, जो कि पहलेसे तैयार होते हैं, अपनाया जाता है और इनके मेलसे रसोई तैयार हो जाती है, वैसे ही आत्मा, इन्द्रिय, मन और पदार्थ इन चारोंका मेल होनेपर ज्ञाताका व्यापार होता है। और वह ज्ञाताका व्यापार पदार्थका ज्ञान करानेमें कारण होता है। अतः ज्ञाताका व्यापार ही प्रमाण है, क्योंकि पदार्थका ज्ञान कराने रूप फलको उत्पन्न करनेमें वही साधकतम है। जो प्रमाण नहीं होता वह साधकतम भी नहीं होता, जैसे सन्निकर्ष वगैरह। किन्तु ज्ञातृव्यापार साधकतम है। अतः वही प्रमाण है।[1]

उत्तरपक्ष–जिसकी सत्ता किसी प्रमाणसे सिद्ध होती है, वही प्रमाण हो सकता है। ज्ञातृव्यापारकी सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। अतः वह प्रमाण नहीं हो सकता।

यदि ज्ञातृ[2]व्यापार प्रत्यक्षसे सिद्ध है, तो किस प्रत्यक्षसे सिद्ध है—इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे होनेवाले प्रत्यक्षसे, आत्मा और मनके सन्निकर्षसे होनेवाले प्रत्यक्षसे अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे? पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि इन्द्रियाँ उसी पदार्थका ज्ञान कराती हैं, जो उनसे सम्बद्ध होता है तथा उनके ग्रहण करनेके योग्य होता है। न तो ज्ञातृव्यापारके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध ही होता है और न अत्यन्त परोक्ष होनेके कारण वह इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जानेके ही योग्य है। इन्द्रियाँ तो रूप रस आदि अपने नियत विषयोंको ही जान सकती हैं, वे ज्ञातृव्यापारको क्या जानें। इसीसे दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं ठहरता; क्योंकि जो वस्तु ग्रहण किये जानेके अयोग्य है, उसमें आत्मा और मनके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष कैसे प्रवृत्ति कर सकता है। वह तो अपने योग्य सुख आदिको ही जान सकता है। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि मीमांसक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं मानते। साथ ही अत्यन्त परोक्ष वस्तुका स्वसंवेदन हो भी नहीं सकता। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञातृव्यापारकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।

---

१. मीमांसा श्लो० पृ० १५१; शास्त्रदी० पृ० २०२।

२. न्या० कु०, पृ० ४२-४५, प्रमेयक० मा०, पृ० २०-२५।

अनुमान प्रमाणसे भी ज्ञातृव्यापारकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। साध्य और साधनका सम्बन्ध जानकर साधनसे साध्यके जाननेको अनुमान कहते हैं। जैसे, ज्ञातृव्यापार है, क्योंकि उसके बिना अर्थका बोध नहीं हो सकता। यहाँपर ज्ञातृव्यापार साध्य है और 'उसके बिना अर्थका बोध नहीं हो सकता' यह साधन है। साधन और साध्यके सम्बन्धका ज्ञान अर्थात् 'जहाँ-जहाँ अर्थबोध होता है वहाँ-वहाँ ज्ञातृव्यापार होता है' इस नियमका ज्ञान किस प्रमाणसे होता है प्रत्यक्षसे या अनुमानसे। प्रत्यक्षसे तो हो नहीं सकता, क्योंकि जैसे धूम और अग्निको देखकर उसका सम्बन्ध जाना जाता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है। इसी तरह प्रत्यक्षसे ज्ञातृव्यापार और अर्थबोधको जानकर ही उनके सम्बन्धका ज्ञान हो सकता है किन्तु प्रत्यक्षसे ज्ञातृव्यापारका बोध नहीं होता। यदि होता तो फिर उसके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए अनुमानकी ही क्यों आवश्यकता होती। और यदि साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान अनुमानसे मानते हैं तो 'ज्ञातृव्यापार है, क्योंकि उसके बिना अर्थका बोध नहीं हो सकता। इसी अनुमानसे मानते हैं या किसी दूसरे अनुमानसे। यदि इसीसे मानते हैं तो परस्पराश्रय नामका दोष आता है। क्योंकि साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान हो तो अनुमान बने और अनुमान बने तो साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान हो। यदि इस अनुमानके साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान दूसरे अनुमानसे मानते तो दूसरा अनुमान भी बिना साध्य-साधनके सम्बन्ध ज्ञानके नहीं बन सकता। अतः उसका ज्ञान तीसरे अनुमानसे करना होगा। और तीसरे अनुमानके साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान चौथे अनुमानसे करना होगा। इस तरह अनवस्था नामका दोष आता है।

अर्थापत्ति नामके प्रमाणसे ज्ञातृव्यापारका अस्तित्व सिद्ध करनेमें भी यही दोष आता है; क्योंकि अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थका अपने साध्यके साथ सम्बन्ध सिद्ध हो जानेपर ही अर्थापत्ति प्रमाण गमक हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः ज्ञातृव्यापारका अस्तित्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता।

किसी भी प्रमाणसे सिद्ध न होनेपर भी यदि ज्ञातृव्यापारका अस्तित्व मानते हैं तो प्रश्न होता है कि वह कारकोंसे जन्य है अथवा अजन्य। अजन्य तो हो नहीं सकता; क्योंकि वह एक व्यापार है। व्यापार तो कारकोंसे जन्य ही हुआ करता है। अथवा यदि वह अजन्य है तो भावरूप है या अभावरूप? अभावरूप माननेपर वह अर्थ प्रकाशन रूप फलका जनक नहीं हो सकता। यदि अभावरूप ज्ञातृव्यापारसे भी पदार्थोंका बोध हो जाता है तो फिर उसके लिए कारकोंकी खोज करना ही व्यर्थ है। फिर तो अभावसे ही सबकी इष्टसिद्धि हो जाया

करेगी। यदि ज्ञातृव्यापार भावरूप है तो नित्य है या अनित्य। अनित्य तो हो नहीं सकता क्योंकि जो अजन्य है और भावरूप है उसके अनित्य होनेमें विरोध है। यदि वह नित्य है तो सबको सब पदार्थोंका ज्ञान होनेका प्रसंग आयेगा और ज्ञातृव्यापारकी उत्पत्तिके लिए प्रदीप आदि कारकोंको खोजना व्यर्थ होगा। यदि ज्ञातृव्यापार कारकोंसे जन्य है तो क्रियारूप है या अक्रियारूप है? यदि क्रियारूप है तो व्यापक आत्मा हलन-चलनरूप क्रियाका आश्रय नहीं हो सकता; क्योंकि मीमांसक आत्माको व्यापक मानता है। यदि वह अक्रियारूप है तो ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप? यदि वह ज्ञानरूप है तो अत्यन्त परोक्ष नहीं हो सकता, जैसा कि मीमांसक मानता है। और यदि अज्ञानरूप है तो घट-पटकी तरह प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि जो अज्ञानरूप है वह प्रमाण नहीं हो सकता। इस तरह विचार करनेसे ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानना समुचित प्रतीत नहीं होता।

५. निर्विकल्पक ज्ञान

[1]पूर्वपक्ष—बौद्ध भी जैनोंकी तरह ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं; किन्तु ज्ञानके दो भेद हैं—निर्विकल्पक और सविकल्पक। बौद्ध मतमें प्रत्यक्षरूप ज्ञान निर्विकल्पक होता है और अनुमानरूप ज्ञान सविकल्पक। ये दो ही प्रमाण बौद्ध दर्शनमें माने गये हैं। क्योंकि बौद्ध मतानुसार विषय दो प्रकारका होता है—एक स्वलक्षण रूप और दूसरा सामान्य लक्षण रूप। स्वलक्षणका अर्थ है वस्तुका स्व-रूप, जो शब्द आदिके बिना ही ग्रहण किया जाता है। सामान्य लक्षणका अर्थ है—अनेक वस्तुओंके साथ गृहीत वस्तुका सामान्य रूप। इसमें शब्दका प्रयोग होता है। स्वलक्षण प्रत्यक्षका विषय है और सामान्य लक्षण अनुमानका विषय है। जो कल्पनासे रहित निर्भ्रान्त ज्ञान होता है उसे बौद्ध दर्शनमें प्रत्यक्ष[2] कहते हैं। और अभिलाप अर्थात् शब्द विशिष्ट प्रतीतिको कल्पना[3] कहते हैं। बौद्धका कहना है कि प्रत्यक्षमें शब्दसंसृष्ट अर्थका ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षका विषय स्वलक्षण है और वह क्षणिक है। जब हम उसे कोई नाम देते हैं तबतक वह हमारे सामनेसे विलीन हो जाता है। और उसके विलीन हो जानेपर जब हम उसे अमुक नामसे पुकारते हैं तो उस समय वह अर्थ वर्तमान नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष शब्द विशिष्ट अर्थको ग्रहण नहीं करता। तब वह सविकल्पक कैसे हो सकता है।

---

१. न्या० कु० च० पृ० ४६। २. न्यायबि० पृ० ११। ३. न्यायबि० पृ० १३।

अर्थमें शब्दोंका रहना सम्भव नहीं है और न अर्थ और शब्दका तादात्म्य सम्बन्ध हो है। ऐसी दशामें अर्थसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें ज्ञानको उत्पन्न न करनेवाले शब्दके आकारका संसर्ग कैसे रह सकता है? क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता, वह उसके आकारको धारण नहीं करता। जैसे रससे उत्पन्न होनेवाला रसज्ञान अपने अजनक रूप आदिके आकारको धारण नहीं करता। और इन्द्रिय ज्ञान केवल नील आदि अर्थसे ही उत्पन्न होता है, शब्दसे उत्पन्न नहीं होता। तब वह शब्दके आकारको धारण नहीं कर सकता। और जब वह शब्दके आकारको धारण नहीं करता, तब वह शब्दग्राही कैसे हो सकता है क्योंकि बौद्ध मतके अनुसार जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं होता। अतः जो ज्ञान अर्थसे संसृष्ट शब्दको वाचकरूपसे ग्रहण करता है, वही सविकल्पक है, अन्य नहीं। यह बात प्रत्यक्ष ज्ञानमें सम्भव नहीं है, अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

शंका—यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है, तो उससे लोक-व्यवहार कैसे चल सकता है? विचारक पुरुष प्रत्यक्षसे यह निश्चय करता है कि अमुक वस्तु सुखका कारण है और अमुक दुःखका कारण है, तभी वह उनमें-से एकको छोड़ता है और दूसरी-को ग्रहण करता है।[1]

उत्तर—निर्विकल्पक ज्ञानमें सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति है अतः वह उसके द्वारा समस्त व्यवहारोंमें कारण होता है। आशय यह है कि यद्यपि प्रत्यक्ष कल्पना रहित है फिर भी वह सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे भिन्न अग्नि आदिको विषय करता हुआ ही उत्पन्न होता है। और चूँकि वह नियत रूप वस्तुको ग्रहण करता है और विजातीय वस्तुओंसे भिन्न वस्तुके आकार-का अनुगामी होता है; अतः वह उसी वस्तुमें विधि और निषेधका आविर्भाव करता है—यह अग्नि है, फूल वगैरह नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अनन्तर होनेवाले ये दोनों विकल्प परम्परासे वस्तुसे सम्बद्ध होनेके कारण यद्यपि अवि-संवादी हैं—इनमें कोई विसंवाद नहीं है, फिर भी ये प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि ये विकल्प दृश्य और विकल्प्यमें एकत्वाध्यवसाय होनेसे होते हैं। अतः ये वस्तुके जाने हुए रूपको ही जानते हैं। आशय यह है—निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयको लेकर ही पीछेसे विकल्प उत्पन्न होते हैं। अतः विकल्पका विषय कोई नवीन नहीं होता तथा ज्ञाता भ्रमवश निर्विकल्प प्रत्यक्षके विषय दृश्यको और

---

१. तत्त्वसं०, पृ० ३९० ।

विकल्पके विषय विकल्प्यको एक मान बैठता है। अतः विकल्पको प्रमाण नहीं माना जाता।

शंका—यदि उपर्युक्त कारणसे सविकल्पक ज्ञानको अप्रमाण माना जाता है तो अनुमानको भी प्रमाण नहीं मानना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्षसे गृहीत विषयमें ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है।

उत्तर—प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेपर भी जिस अंशमें वह सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करता है वही अंश गृहीत कहा जाता है। और जिस अंशमें भ्रान्ति होनेसे सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता वह अंश गृहीत होनेपर भी अगृहीतके तुल्य होता है। उस अंशमें वर्तमान समारोपको दूर करनेके लिए अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। अतः अनुमान प्रमाण है, किन्तु प्रत्यक्षके अनन्तर होनेवाला सविकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह वर्तमान समारोपको दूर करनेमें असमर्थ है।

शंका—स्वलक्षण रूप वस्तुका अनुभव होनेपर भी उसका निश्चय क्यों नहीं होता?

उत्तर—निश्चयकी उत्पत्तिके लिए अन्य कारणोंकी अपेक्षा होती है। अर्थात् केवल अनुभवके होनेसे ही निश्चय नहीं होता, उसके लिए अभ्यासकी, अर्थित्वकी और पाटव आदि कारणोंकी अपेक्षा आवश्यक होती है। अतः सविकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।

उत्तर पक्ष—बौद्धाचार्य कमलशीलने तत्त्वसंग्रहकी टीका (पृ० ३९४)में लिखा है कि—'कुछ अपने ही पक्षके लोगोंको प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अभ्रान्त' पद इष्ट नहीं है, क्योंकि पीत शंखका ज्ञान भ्रान्त होनेपर भी प्रत्यक्ष है।····इसीसे आचार्य दिग्नागने प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्तपद ग्रहण नहीं किया।' आशय यह है कि दिग्नागने 'कल्पनारहित ज्ञानको प्रत्यक्ष' माना है और धर्मकीर्तिने उसमें 'अभ्रान्त' पद बढ़ाकर 'कल्पनारहित अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष' माना है। जैनाचार्य अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] दिग्नागके प्रत्यक्षके लक्षणकी आलोचना करते हुए लिखा है—'प्रत्यक्ष सर्वथा कल्पनासे रहित है या कथंचित् कल्पनासे रहित है? यदि वह सर्वथा कल्पनासे रहित है तो 'प्रमाण ज्ञान सर्वथा कल्पनारहित है' यह भी तो एक कल्पना ही है, इससे भी रहित होनेसे 'प्रमाण ज्ञान सर्वथा कल्पनारहित है' यह भी कह सकना सम्भव न होगा। और यदि वह इस कल्पनासे रहित नहीं है तो भी 'प्रमाण ज्ञान सर्वथा कल्पनारहित है' ऐसा कहना गलत है। यदि कहते हो

१. तत्त्वार्थवा०, पृ० ३९।

कि 'प्रमाण ज्ञान कथंचित् कल्पनारहित' है तो बौद्ध तो एकान्तवादी हैं, और ऐसा माननेसे एकान्तवादको छोड़कर अनेकान्तवाद स्वीकार करना होता है। अत: ऐसा माननेमें भी बौद्धोंपर आपत्ति ही आती है।

आचार्य विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्तिकमें[1] तथा आचार्य प्रभाचन्द्रने न्याय-[2] कुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डमें[3] कल्पनाके लक्षण 'अभिलापवती प्रतीति' को लेकर आलोचना की है। प्रभाचन्द्राचार्यका[4] कहना है कि बौद्ध निर्विकल्पक दर्शनको निश्चयात्मक नहीं मानते; क्योंकि निश्चय भी कल्पना ही है। ऐसी स्थितिमें वह प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि जो ज्ञान स्वयं अनिश्चयस्वरूप है और अर्थका भी निश्चय नहीं करता वह प्रमाण नहीं हो सकता। संशय आदिको दूर करके अर्थके स्वरूपका निर्णय करना ही निश्चय है। यह निश्चय प्रमाणका स्वरूप है; क्योंकि 'प्रकर्षेण' अर्थात् संशय आदिको दूर करके 'मीयते' अर्थात् जिससे अर्थको जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं, यह प्रमाण शब्दकी निरुक्ति है। यह बात निर्विकल्पक ज्ञानमें सम्भव नहीं है, तब उसे प्रमाण कैसे कहा जा सकता है। दूसरे निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहारमें उपयोगी नहीं है। इससे भी वह प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि जो ज्ञान व्यवहारमें उपयोगी नहीं है वह प्रमाण नहीं है। जैसे चलते हुए मनुष्यको तृण आदिके स्पर्शसे होनेवाला ज्ञान। बौद्धोंका निर्विकल्पक ज्ञान भी इसीके तुल्य है। अतः वह प्रमाण नहीं हो सकता। बौद्धोंने यह स्वयं स्वीकार किया है कि व्यवहारके लिए ही प्रमाणकी आवश्यकता है, किन्तु बौद्धोंका निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहारका साधक नहीं है; क्योंकि वह न तो अपना निश्चय कर पाता है और न अर्थका निश्चय कर पाता है। अत: ऐसे निर्विकल्पक ज्ञानसे अनध्यवसाय आदि मिथ्याज्ञानोंकी तरह व्यवहारी मनुष्यकी किसी विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

बौद्ध—यद्यपि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है फिर भी वह अपनेसे भिन्न एक सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करता है, अतः वह प्रवर्तक है और प्रवर्तक होनेसे प्रमाण है।

जैन—यह केवल श्रद्धामात्र है। इस तरहसे तो नैयायिकका सन्निकर्ष भी प्रमाण हो सकता है, और निर्विकल्पकमें और सन्निकर्षमें कोई भेद ही नहीं रहता। शायद यह कहा जाये कि सन्निकर्ष अचेतन होता है और निर्विकल्पक ज्ञान चेतन है, अतः उसमें और सन्निकर्षमें भेद है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष चेतन नहीं हो सकता। जो दूसरेकी अपेक्षा न करके

---

१. पृ० १८५। २. पृ० ४७। ३. पृ० ४६। ४. न्या० कु० च०, पृ० ४८।

स्वयं अपने स्वरूपका उपदर्शक होता है, उसे चेतन कहा जाता है। किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वप्नमें भी दूसरेकी अपेक्षा न करके अपने स्वरूपका प्रदर्शन नहीं करता। अतः वह चेतन कैसे हो सकता है? और चेतन न होनेसे उसमें और सन्निकर्षमें कोई अन्तर नहीं रहता। अतः यदि आप सन्निकर्षसे अपने निर्विकल्पक ज्ञानमें कुछ भेद रखना चाहते हैं तो उसे निश्चयात्मक मानना चाहिए। ऐसा माने बिना उसके स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता और स्वरूपका अनुभव हुए बिना सन्निकर्षसे निर्विकल्पक ज्ञान भिन्न सिद्ध नहीं हो सकता।

बौद्ध—'मैं देखता हूँ' इस प्रकारके विकल्पको उत्पन्न करना ही निर्विकल्पक प्रत्यक्षका व्यापार है तब वह निर्व्यापार कैसे है?

जैन—यह भी ठीक नहीं है; ऐसा माननेसे तो निर्विकल्पक प्रत्यक्षको निश्चयात्मक मानना होगा। क्योंकि आप (बौद्ध) व्यापारको व्यापारवान्से भिन्न नहीं मानते; क्योंकि व्यापार व्यापारवान्का स्वरूप है।

बौद्ध—व्यापार व्यापारवान्का कार्य है अतः वह उससे भिन्न है।

जैन—यदि वह कार्य है, तो उसे व्यापारवान्का व्यापार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पिताका व्यापार पुत्र नहीं होता। यदि थोड़ी देरके लिए यह मान भी लिया जाये कि व्यापार व्यापारवान्का कार्य है फिर भी यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वयं निश्चयात्मक नहीं है तो उससे उत्पन्न होनेवाले विकल्पमें निश्चयात्मकता कैसे हो सकती है? यदि कहा जाये कि विकल्प ज्ञानरूप है अतः वह निश्चयात्मक होता है, तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी ज्ञानरूप है अतः उसे भी निश्चयात्मक होना चाहिए। दोनोंके ज्ञानरूप होनेपर भी जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष साक्षात् रूपसे स्वयं अर्थका ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति करता है, वह तो अर्थका निश्चय नहीं करता, और जो उस निर्विकल्पकसे उत्पन्न होनेवाला विकल्प है वह अर्थका निश्चय करता है। यह तो वही कहावत हुई कि तलवार तीक्ष्ण नहीं है किन्तु उसका म्यान बहुत तीक्ष्ण है।

निर्विकल्पसे विकल्पकज्ञानकी उत्पादक सामग्री विलक्षण है अतः विकल्पक निश्चयात्मक है, यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि यह तो तभी सिद्ध हो सकता है जब निर्विकल्पक और सविकल्पकका भेद सिद्ध हो जाये। किन्तु विकल्पकज्ञानके सिवा निर्विकल्पकको प्रतीति तो स्वप्नमें भी नहीं होती। हमें तो इन्द्रिय आदि सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले केवल एक ही ज्ञानकी प्रतीति होती है जो अपना और अर्थका निश्चय कराता है। फिर भी यदि निर्विकल्पक और सविकल्पकके भेदको माना जाता है, तब तो बौद्धोंको बुद्धि और चैतन्यको भिन्न-भिन्न माननेवाले

सांख्योंका खण्डन नहीं करना चाहिए। क्योंकि जैसे निर्विकल्पक और सविकल्पककी भिन्न-भिन्न प्रतीति नहीं होनेपर भी बौद्ध दोनोंको दो जुदा ज्ञान मानता है, वैसे ही बुद्धि और चैतन्यमें भेदप्रतीति नहीं होनेपर भी सांख्य उन्हें भिन्न मानता है। शायद बौद्ध कहें कि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानमें एकताका अध्यवसाय होनेसे भेदकी प्रतीति नहीं होती, तो यह बात तो सांख्य भी कह सकता है।

जैसे आगको और बच्चेको अलग-अलग जानकर बच्चेमें आगकी-सी तेजस्विता देखकर दोनोंका एकत्वाध्यवसाय कर दिया जाता है कि यह बच्चा तो आग है। वैसे ही यदि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानका स्वरूप अलग-अलग अनुभवमें आये तो एकमें दूसरेका अध्यारोप करके एकत्वाध्यवसाय करना उचित है, किन्तु सविकल्पक और निर्विकल्पकका बोध कहींपर कभी किसीको नहीं होता। फिर इन दोनोंका एकत्वाध्यवसाय करेगा कौन? इन्हीं दोनोंमें-से कोई एक अथवा कोई तीसरा? यदि इन्हीं दोनोंमें-से कोई एक ज्ञान दोनोंका एकत्वाध्यवसाय करता है तो वह सविकल्पक अथवा निर्विकल्पक है? निर्विकल्पकसे तो यह काम हो नहीं सकता; क्योंकि वह विचारक नहीं है। और न सविकल्पक ही इस कामको कर सकता है; क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान उसका विषय नहीं है। और जो जिसको विषय नहीं करता वह किसीके साथ उसका एकत्वाध्यवसाय नहीं कर सकता। जैसे घटका ज्ञान परमाणुको नहीं जानता, अतः वह परमाणुके साथ घटका एकत्वाध्यवसाय नहीं कर सकता। उसी तरह निर्विकल्पकज्ञान सविकल्पकका विषय नहीं है। यदि निर्विकल्पकज्ञान सविकल्पकज्ञानका विषय हो जायेगा तो सविकल्पकज्ञान भी 'स्वलक्षण'को विषय कर सकेगा। यदि इन दोनोंको छोड़कर किसी तीसरे ज्ञानसे दोनोंका एकत्वाध्यवसाय माना जायेगा, तो वह ज्ञान भी या तो सविकल्पक होगा या निर्विकल्पक। अतः वह भी दोनोंका एकत्वाध्यवसाय नहीं कर सकता। इसलिए यदि प्रतीतिके अनुसार ही वस्तुकी व्यवस्था करना चाहते हो तो अनुभव सिद्ध और 'स्व' तथा अर्थका निश्चय करनेवाला एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान मानना चाहिए। वही अपना और परका निश्चय करानेवाला होनेसे सब व्यवहारोंका मूल है। हाँ, उसीका एक नाम निर्विकल्पक रखना चाहो तो उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि नामभेद होनेसे अर्थभेद नहीं हो[1] जाता।

[2]जो स्वयं निर्विकल्पक है, वह विकल्पको कैसे उत्पन्न कर सकता है क्योंकि निर्विकल्पकपनेका और विकल्पको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यका परस्परमें विरोध है। यदि कहा जाये कि विकल्पवासनाकी अपेक्षा लेकर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी विकल्प-

---

१. न्यायकु०, पृ० ४८-५० । २. प्रमेयक० मा०, पृ० २३ ।

को उत्पन्न कर सकता है तो विकल्पवासनासापेक्ष अर्थ ही विकल्पको उत्पन्न कर देगा, दोनोंके बीचमें एक अन्तर्गडु निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी आवश्यकता ही क्या है ?

बौद्ध—अज्ञात अर्थ विकल्पको कैसे उत्पन्न कर सकता है ?

जैन—तो अनिश्चयात्मक निर्विकल्पक विकल्पको कैसे उत्पन्न कर सकता है ?

बौद्ध—अनुभूति मात्रसे ही निर्विकल्पक सविकल्पकको उत्पन्न कर सकता है ।

जैन—तो जैसे वह नील आदि पदार्थोंमें विकल्पको उत्पन्न करता है, वैसे ही उसमें रहनेवाले क्षणिकत्वमें भी विकल्पको उत्पन्न क्यों नहीं करता ? यदि करे तो जैसे यह नील है ऐसा विकल्प होता है वैसे ही 'यह क्षणिक है' ऐसा भी विकल्प होना चाहिए । और ऐसा होनेसे उत्तरकालमें क्षणिकत्वकी सिद्धिके लिए जो अनुमान प्रमाणका आश्रय लिया जाता है, वह व्यर्थ पड़ेगा । तथा गृहीतग्राही होनेसे जैसे बौद्ध दर्शनमें सविकल्पकको प्रमाण नहीं माना जाता वैसे ही अनुमान भी गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण ठहरेगा ।

बौद्ध—जिस विषयमें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विकल्पवासनाको प्रबुद्ध करता है, उसी विषयमें वह सविकल्पकज्ञानको उत्पन्न करता है । चूँकि क्षणिकत्वके विषयमें वह विकल्पवासनाको प्रबुद्ध नहीं करता, अतः उसमें वह सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता ।

जैन—जब निर्विकल्पक अनुभव मात्रसे ही विकल्पवासनाका प्रबोधक होता है तो जैसे वह नील आदिमें विकल्पवासनाको प्रबुद्ध करता है वैसे ही उसे क्षणिकत्व वगैरहमें भी विकल्पवासनाको प्रबुद्ध करना ही चाहिए; क्योंकि अनुभूति मात्र दोनोंमें समान है ।

बौद्ध—जिस विषयमें अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव और अर्थित्व होता है, उसी विषयमें निर्विकल्पक विकल्पवासनाका प्रबोधक होता है । क्षणिकत्वके विषयमें ये बातें नहीं पायी जातीं । अतः वह उसमें विकल्पवासनाका प्रबोधक नहीं होता ।

जैन—यदि ऐसा है तो कृपया यह बतलाइए कि यह अभ्यास क्या वस्तु है—बार-बार दर्शन होना अथवा बहुत बार विकल्पको उत्पन्न करना ? यदि अभ्याससे मतलब बार-बार दर्शन होनेसे है तो इस प्रकारका अभ्यास तो जैसे नील आदिके विषयमें है, वैसे ही क्षणिकत्व आदिके विषयमें भी है; क्योंकि बौद्ध दर्शनमें कहा है कि 'यह मानव क्षणिकत्वको ही देखता है ।' यदि अभ्याससे मतलब बहुत बार विकल्पको उत्पन्न करनेसे है तो क्षणिकत्व आदिके दर्शनमें उसका अभाव

क्यों है ? यदि कहा जायेगा कि उस विषयमें निर्विकल्पक विकल्पवासनाका प्रबोधक नहीं है तो अन्योन्याश्रय नामका दोष आयेगा; क्योंकि 'क्षणिकत्व वगैरहके विषयमें निर्विकल्पक दर्शन विकल्प वासनाका प्रबोधक नहीं है यह सिद्ध होनेपर 'बहुत-बार विकल्पको उत्पन्न करने रूप' अभ्यासके अभावकी सिद्धि होगी और इस प्रकारके अभ्यासका अभाव सिद्ध होनेपर 'क्षणिकत्वके विषयमें निर्विकल्पक दर्शन विकल्प वासनाका प्रबोधक नहीं है' यह बात सिद्ध होगी। अतः अभ्यासके न होनेसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षणिकत्वके विषयमें विकल्प वासनाका उद्‌बोधक नहीं है, यह बात बनती नहीं। प्रकरणकी बात भी ठीक नहीं क्योंकि क्षणिक और अक्षणिकका विचार करते समय क्षणिकका प्रकरण भी है ही। बुद्धि पाटवसे आपका क्या मतलब है—नील आदिमें दर्शनका विकल्प उत्पन्न करना, अथवा स्पष्टतर अनुभवका होना ? प्रथम पक्षमें तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि 'क्षणिक आदिके विषयमें निर्विकल्पक दर्शन विकल्पवासनाका प्रबोधक नहीं है' इस बातके सिद्ध हो जानेपर विकल्पको उत्पन्न करने रूप पाटवके अभावकी सिद्धि होगी। और पाटवके अभावकी सिद्धि हो जानेपर 'क्षणिक आदिके विषयमें दर्शन विकल्पवासनाका प्रबोधक नहीं है' यह बात सिद्ध होगी। दूसरे पक्षमें तो क्षणिकत्व आदिमें भी निर्विकल्पको विकल्प वासनाका प्रबोधक होना ही चाहिए क्योंकि जैसे नीलादिका स्पष्टतर अनुभव होता है, वैसे ही क्षणिकत्वका भी स्पष्टतर अनुभव बौद्ध मानते ही हैं। इसी तरह अर्थित्वसे आपका क्या तात्पर्य है ? अभिलाषाका होना अथवा जिज्ञासाका होना ? पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि कभी-कभी अनभिलषित वस्तुमें भी विकल्पवासनाका प्रबोध देखा जाता है। जैसे साँप और काँटा वगैरहसे सब बचते हैं, फिर भी पैरमें काँटा लगनेपर विकल्प उत्पन्न होता ही है। दूसरे पक्षमें तो क्षणिकत्वमें भी विकल्पवासनाके प्रबोधका प्रसंग उपस्थित होता है; क्योंकि जैसे नील आदि पदार्थोंको जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) रहती है वैसे ही क्षणक्षयको भी जाननेकी इच्छा रहती ही है। अतः 'अभ्यास आदिके न होनेसे निर्विकल्पक दर्शन क्षणिकत्वके विषयमें विकल्पवासनाको प्रबुद्ध नहीं करता' ऐसा मानना समुचित नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध—अभ्यासादि[1] सापेक्ष अथवा निरपेक्ष दर्शन विकल्पका उत्पादक नहीं है। विकल्प तो शब्द और अर्थ रूप विकल्पवासनासे उत्पन्न होता है। और वह शब्दार्थ वासनारूप विकल्प पूर्व वासनासे उत्पन्न होता है। इस तरह विकल्प और वासनाकी सन्तान अनादि है, और यह सन्तान निर्विकल्पक प्रत्यक्षको

---

१. प्रमेयक०, पृ० ३५।

सन्तानसे भिन्न है। अतः विजातीय निर्विकल्पक दर्शनसे विजातीय विकल्पकी उत्पत्ति होना हमें इष्ट नहीं है।

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है। यदि निर्विकल्पक दर्शन विकल्पको उत्पन्न नहीं करता तो बौद्ध दर्शनमें ऐसा क्यों कहा है—

"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता।"

अर्थात्—जिस विषयमें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करता है उसी विषयमें वह प्रमाण है।

आपके उक्त कथनसे इस मान्यतामें विरोध आता है। अतः जब सविकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करनेपर ही निर्विकल्पकका प्रामाण्य अभीष्ट है तो सविकल्पकको ही प्रमाण क्यों नहीं मान लेते। क्योंकि वह संवादक है, अर्थकी परिच्छित्तिमें साधकतम है, अनिश्चित अर्थका निश्चायक है और ज्ञाता उसीकी अपेक्षा करता है। निर्विकल्पमें ये बात नहीं हैं अतः वह सन्निकर्षकी तरह प्रमाण नहीं हो सकता।

हाँ, यदि [1]गृहीतग्राही होनेसे सविकल्पकको अप्रमाण मानते हैं तो अनुमान भी अप्रमाण ठहरता है; क्योंकि व्याप्तिज्ञान और योगिप्रत्यक्षसे गृहीत अर्थको अनुमान ग्रहण करता है तथा क्षणिकत्वको सिद्ध करनेवाला अनुमान भी ऐसी स्थितिमें कैसे प्रमाण हो सकता है; क्योंकि जिस समय यह कहा जाता है—'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्—' सब पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सत् हैं; उसी समय ये शब्द श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषय हो जाते हैं और उसी प्रत्यक्षके द्वारा जाने गये क्षणिकत्वको अनुमान प्रमाण विषय करता है। अतः वह भी गृहीतग्राही है। यदि कहा जाये कि वह प्रत्यक्ष तो केवल शब्दको ही ग्रहण करता है उसके क्षणिकत्व धर्मको ग्रहण नहीं करता तो एक ही वस्तुका ग्रहण और अग्रहण होनेसे शब्द रूप धर्मीसे उसका क्षणिकत्व धर्म भिन्न हो जायेगा। और ऐसा होनेसे शब्द अक्षणिक ठहरेगा। अतः सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।' [2]जैसे संशय ज्ञान, विपरीतज्ञान आदि मिथ्याज्ञान भी यद्यपि ज्ञान हैं, फिर भी ज्ञान होने मात्रसे ही उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता; क्योंकि वे समीचीन व्यवहारमें अनुपयोगी हैं, उनके द्वारा किसीको भी वस्तुका सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसी तरह बौद्धोंका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी यद्यपि ज्ञानरूप है, किन्तु ज्ञानरूप होनेमात्रसे ही उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अन्य मिथ्याज्ञानोंकी तरह वह भी संव्यवहारमें अनुपयोगी है।

१. वही०, पृ० ३७।
२. न्यायकु०, पृ० ५२।

मिथ्याज्ञानके तीन भेद हैं[1]—संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान और अनध्यवसाय। किसी पदार्थके देखनेपर यह पदार्थ स्थाणु (ठूँठ) है अथवा मनुष्य है, इस प्रकार अनेक अर्थोंका आलम्बन लेनेवाले अनिश्चित ज्ञानको संशयज्ञान[2] कहते हैं। स्थाणुको पुरुष समझ लेना अथवा सीपको चाँदी या चाँदीको सीप समझ लेना विपर्ययज्ञान है। इस विपर्ययज्ञानको लेकर भारतीय दार्शनिकोंमें बहुत मतभेद है। कोई इसे विवेकाख्याति कहता है तो दूसरे अख्याति, असत्ख्याति, प्रसिद्धार्थख्याति, आत्मख्याति, सदसत्त्वाद्यनिर्वचनीयार्थख्याति, विपरीतार्थख्याति, और अलौकिकार्थख्यातिके रूपमें मानते हैं। जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्राचार्य आदिने इनकी आलोचना की है। उसका सार यह है—

विपर्ययज्ञान

१. विवेकाख्याति

पूर्व पक्ष—मीमांसक प्रभाकरके अनुयायी विपर्ययज्ञानमें विवेकाख्यातिको स्वीकार करते हैं। उनका कहना[3] है—सीपमें 'यह चाँदी है' यह एक ज्ञान नहीं है, किन्तु ये दो ज्ञान हैं। इनमें एक प्रत्यक्षज्ञान है, दूसरा स्मरणज्ञान है। क्योंकि इन दोनों ज्ञानोंके कारण भी भिन्न-भिन्न हैं और विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। 'यह' प्रत्यक्षज्ञान है, उसका कारण इन्द्रिय है। और 'चाँदी' स्मरणज्ञान है, उसका कारण संस्कार है। तथा 'यह' इस ज्ञानका आलम्बन सामने पड़ी हुई सीप है और 'चाँदी' इस ज्ञानका आलम्बन पहले देखी हुई चाँदी है। अतः भिन्न विषय और भिन्न कारण होनेसे 'यह चाँदी है' यहाँ दो ज्ञान ही मानना चाहिए। विशेष इस प्रकार है—'यह' सामने पड़े हुए अर्थको ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्षज्ञान है और 'चाँदी' यह पहले देखी हुई चाँदीका स्मरण है, क्योंकि चाँदीके ज्ञानका विषय चाँदी ही हो सकती है, सीप नहीं। अन्याकार प्रतीतिका विषय अन्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो सब ज्ञानोंका विषय सब पदार्थ हो जायेंगे। अतः यहाँ 'चाँदी' इस ज्ञानका विषय चाँदी ही है; किन्तु चाँदी सामने मौजूद नहीं है अत; सीपको देखकर पहले देखी हुई चाँदीका ही स्मरण हो आता है।

शंका—यदि पहले देखी हुई चाँदीका स्मरण हुआ मानते हैं तो अतीत वस्तुका स्मरण तो अतीत रूपसे ही होना चाहिए, सामने चाँदी पड़ी है इस तरह वर्तमान रूपसे तो नहीं होना चाहिए।

१. मिथ्याज्ञानत्वेऽपि संशयविपर्ययानध्यवसायात्मकं स्यात्—तत्त्वार्थवा०, पृ० ४४।
२. अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकः संशयः। तत्त्वा० वा०, पृ० ४३।
३. बृह० टी०, पृ० ५१। प्रकरण पं०, पृ० ४३।

उत्तर—यह शंका उचित नहीं है। अतीत चाँदीका भी दोषकी वजहसे अतीत रूपसे प्रतिभास नहीं होता। कारण यह है कि सामने वर्तमान सीपमें और पहले देखी हुई चाँदीमें समानता होनेसे उस समानताका अवलम्बन पाकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान सीप और चाँदीमें भेद ग्रहण न होनेसे चाँदीके स्मरणमें कारण होता है, किन्तु 'मैं चाँदीका स्मरण करता हूँ' उस कालमें यह बोध नहीं होता इसीलिए इसे [1]स्मृतिप्रमोष अथवा विवेकाख्याति कहते हैं। जो दार्शनिक सीपमें होनेवाले चाँदीके ज्ञानको स्मृतिप्रमोष न मानकर विपरीतख्याति मानते हैं, उनके मतमें बाह्य अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे चाँदीके न होने-पर भी चाँदीका ज्ञान चाँदोकी प्रतीति करा देता है वैसे ही सभी ज्ञान बाह्य अर्थोंके अभावमें भी उनका ज्ञान करा देंगे। अतः इसे स्मृतिप्रमोष ही मानना चाहिए।

उत्तर पक्ष—सीपमें 'यह[2] चाँदो है' यह ज्ञान दो नहीं हैं, किन्तु एक ही ज्ञान है, इसका कारण भी एक ही है—चक्षु आदि सामग्री। और विषय भी एक ही है, सोपका टुकड़ा। सामने पड़े हुए सीपके टुकड़ेको काच कामल आदि दोषोंके कारण चक्षु चाँदीके रूपमें दिखला देती है। दोषोंका काम ही यह है कि वे अविद्यमान वस्तुका भी ज्ञान करा देते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाता तो यह प्रश्न होता है कि 'यह चाँदी है' इस ज्ञानमें सीप किस रूपसे काम करती है, कारण रूपसे अथवा विषय रूपसे। पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि 'यह चाँदो है' इस ज्ञानका कारण यदि सीपको माना जायेगा तो जहाँ वास्तवमें चाँदी है वहाँ जैसे चक्षु आदिके न होनेपर चाँदीका ज्ञान नहीं होता वैसे ही सीपके न होने-पर भी चाँदीका ज्ञान नहीं हो सकेगा; क्योंकि आप चाँदोके ज्ञानमें सीपको कारण मानते हैं। यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि इस ज्ञानका विषय सीप ही है, अतीत चाँदी नहीं। अतः 'यह चाँदो है' यह एक ही ज्ञान है और इसका विषय भी एक है। 'यह' शब्द केवल पुरोवर्तीपनेको बतलाता है और 'चाँदी शब्द 'चाँदी'को ही बतलाता है, न कि किसी विषयान्तरको। अतः इस ज्ञानमें भेदकी आशंका कैसे हो सकती है। अन्यथा वास्तविक चाँदीके ज्ञानमें भी उसका प्रसंग आयेगा। क्योंकि चाँदीके स्वरूपमात्रका प्रतिभास दोनों ज्ञानोंमें समान है।

---

१. बृहती, पृ० ५३-५५।

२. न्यायकु०, पृ० ५५-६०। प्रमेयक० मा०, पृ० ५३-५८।

यदि[1] सीपमें 'यह चाँदी है' इस ज्ञानका विषय पहले देखी हुई चाँदी है तो वहाँ चाँदीका प्रतिभास अतीत रूपसे ही होना चाहिए। और उस अवस्थामें ज्ञाताकी प्रवृत्ति उस चाँदीमें नहीं होनी चाहिए; क्योंकि अतीत वस्तुको प्राप्त करना शक्य नहीं है। अतः इस ज्ञानका विषय सामने वर्तमान सीपको ही मानना चाहिए; क्योंकि यह ज्ञान उसीमें प्रवृत्ति कराता है। जो जिसमें प्रवृत्ति कराता है, उसका विषय वही वस्तु होती है। जैसे वास्तविक चाँदीका ज्ञान वास्तविक चाँदीमें प्रवृत्ति कराता है, अतः उसका विषय वही है। उसी तरह सीपमें होनेवाला 'यह चाँदी है' यह ज्ञान सामने विद्यमान सीपमें ही प्रवृत्ति कराता है अतः उसका विषय वही है, अतीत चाँदी नहीं।

पूर्ववादी—यद्यपि इस ज्ञानका विषय पहले देखी हुई चाँदी ही है किन्तु दोषके कारण अतीत चाँदीका और सीपका भेद प्रतीत न होनेसे वह ज्ञान सामने वर्तमान सीपमें ही प्रवृत्ति कराता है।

जैन—यह समाधान समुचित नहीं है, भेदका प्रतीत न होना मात्र प्रवृत्तिमें कारण नहीं हो सकता। ज्ञाताकी प्रवृत्तिका कारण सामने चाँदीका दिखाई देना है न कि भेदकी प्रतीति न होना।

पूर्ववादी—यद्यपि इस ज्ञानका विषय अतीत चाँदी है, फिर भी चाँदीका यह ज्ञान सामने वर्तमान वास्तविक चाँदीके ज्ञानके समान ही होता है, इसीसे उसमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है।

जैन—तब तो चूँकि यह ज्ञान वर्तमान वस्तुका ज्ञान नहीं कराता, इसलिए अतीत चाँदीका प्रतिभास करानेवाले ज्ञानके ही तुल्य हुआ, अतः उसके तुल्य होनेसे पुरोवर्ती वस्तुमें उसे प्रवृत्ति नहीं करानी चाहिए; क्योंकि अतीत चाँदीके ज्ञानमें ऐसा नहीं देखा जाता। ऐसी स्थितिमें सीपमें चाँदीको जाननेवाला मनुष्य सामने पड़े हुए सीपके टुकड़ेमें प्रवृत्ति करे या न करे। शायद कहा जाये कि सामने वर्तमान सत्य चाँदीके ज्ञान और अतीत चाँदीको जाननेवाले मिथ्या ज्ञान-दोनों ज्ञानोंमें समानता होनेपर भी एक प्रवृत्तिमें हेतु है, दूसरा नहीं, किन्तु यह कथन संगत नहीं है। अतः सीपमें 'यह चाँदी है' इस ज्ञानका विषय सीप ही है। इसलिए 'यह चाँदी है' इस ज्ञानमें विषयभेद न होनेसे इसे दो ज्ञान नहीं माना जा सकता।

---

१. न्या० कु०, पृ. ५६।

अथवा[1], यदि ये दो ज्ञान हैं तो इनकी उत्पत्ति एक साथ होती है या क्रमसे ? एक साथ दो ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकते, अन्यथा ज्ञानोंके यौगपद्यका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। तथा मीमांसकोंकी मान्यता—इन्द्रियोंमें क्रमसे ही ज्ञानको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है–उसको भी क्षति पहुँचेगी। यदि दोनों ज्ञान क्रमसे उत्पन्न होते हैं तो 'यह' इस प्रत्यक्ष ज्ञानसे पहले चाँदीका स्मरण होता है, अथवा बादमें ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि 'यह' इस प्रत्यक्ष ज्ञानके होनेसे पहले स्मरणका बीज जो संस्कार है, उस संस्कारका प्रबोधक कोई कारण हो नहीं है, जिससे पहले देखी चाँदीका स्मरण हो आये। और पूर्व संस्कारके प्रबुद्ध होनेपर ही स्मृति होती है, उसके बिना नहीं होती।

वादी—'यह' इस सविकल्पक ज्ञानसे पहले होनेवाले निर्विकल्पक ज्ञानसे संस्कारका प्रबोध होता है।

जैन—तब तो निर्विकल्पकके बाद ही 'यह' सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होगा और उसी समय चाँदीकी स्मृति होनेसे ज्ञानोंके यौगपद्यका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'यह' इस प्रत्यक्ष ज्ञानके पश्चात् उत्पन्न होनेवाला चाँदीका ज्ञान चक्षुव्यापारके रुक जानेपर भी उत्पन्न हुआ कहलाया। ऐसी स्थितिमें आँखें बन्द कर लेनेपर भी 'यह चाँदी है' ज्ञानका अनुभव होना चाहिए। तथा यह क्रम प्रतीतिविरुद्ध भी है; क्योंकि पहले सामने पड़ी हुई सीपको ग्रहण करके पीछे 'मैं चाँदीका स्मरण करता हूँ' इस तरह स्वप्नमें भी दोनों ज्ञानोंके क्रमकी प्रतीति नहीं होती। सबको यही प्रतीति होती है कि सामने पड़ी हुई वस्तु एकदम चाँदी रूपसे प्रतिभासित होती है। अन्यथा उत्तर कालमें उस ज्ञानके बाधक कारणोंके उपस्थित होनेपर 'यह चाँदी नहीं है' इस प्रकार जो तादात्म्य रूपसे चाँदीका प्रतिषेध किया जाता है वह नहीं होना चाहिए; क्योंकि आपके कथनानुसार तो वह अतीत चाँदीका स्मरण है। किन्तु लोकमें देखा जाता है कि सीपकी ओर अंगुलीसे निर्देश करके यह कहा जाता है कि यह चाँदी नहीं है। अतः सामने पड़ी हुई सीपकी जो चाँदीरूपसे प्रतीति होती है वह सामने अवस्थित वस्तु-स्वरूपसे विरुद्ध होनेके कारण विपरीतख्याति है, स्मृतिप्रमोष नहीं है।

अथवा[2] स्मृतिप्रमोष भी हो, पर यह स्मृतिका प्रमोष है क्या ? स्मृतिके

---

१. न्या० कु०, पृ० ५७।

२. वही, पृ० ५८।

विनाशको स्मृतिप्रमोष कहते हैं या स्मृतिका प्रत्यक्षके साथ एकत्वाध्यवसाय होना स्मृतिप्रमोष है, अथवा स्मृतिका प्रत्यक्ष रूप होना स्मृतिप्रमोष है, अथवा 'वह' इस अंशका अनुभव नहीं होना स्मृतिप्रमोष है, अथवा स्मृतिके तिरोभावका नाम स्मृतिप्रमोष है ?

यदि स्मृतिके विनाशका नाम स्मृतिप्रमोष है तो जब धूमको देखकर अग्निको जान लेते हैं तब धूम और अग्निके सम्बन्धका स्मरण विनष्ट हो जाता है, यह भी स्मृतिप्रमोष कहा जायेगा। यदि प्रत्यक्षके साथ स्मृतिके एकत्वाध्यवसायको स्मृतिप्रमोष कहते हैं तो प्रश्न होता है कि दोनोंका एकत्वाध्यवसाय हुआ कैसे—विषयका एकत्वाध्यवसाय होनेसे अथवा स्वरूपका एकत्वाध्यवसाय होनेसे ? प्रथम पक्षमें यह विषयैकत्वाध्यवसाय क्या है—यदि एकके विषयका दूसरेमें आरोप करनेका नाम एकत्वाध्यवसाय है तो प्रत्यक्षके विषयका स्मृतिके विषयमें आरोप होता है या स्मृतिके विषयका प्रत्यक्षके विषयमें आरोप होता है ? यदि प्रत्यक्षके विषयका स्मृतिके विषयमें आरोप होता है तो स्मृतिका विषय तो पहले देखी हुई चाँदी है। अतः जिस देशमें उस चाँदीको देखा था वहींपर सीपका स्पष्ट प्रतिभास होना चाहिए, न कि 'यह' इस उल्लेखके साथ सामने; क्योंकि जहाँपर जिसका आरोप होता है उसका प्रतिभास उसी देशमें होता है, जैसे मरीचिकामें आरोपित जलका प्रतिभास मरीचिका देशमें ही होता है। इसी तरह आप स्मृतिके विषयभूत चाँदीमें प्रत्यक्षके विषयभूत सीपका आरोपण करते हैं। अतः उसका प्रतिभास वहीं होना चाहिए। दूसरे पक्षमें अर्थात् यदि स्मृतिके विषयका प्रत्यक्षके विषयमें आरोप होता है तो 'यह' इस रूपसे सीपका स्पष्ट प्रतिभास नहीं होना चाहिए, क्योंकि सीपमें आरोपित जो स्मृतिका विषय है, वह अस्पष्ट है। अतः विषयका एकत्वाध्यवसाय होनेसे तो स्मृतिका प्रत्यक्षके साथ एकत्वाध्यवसाय नहीं बनता।

स्वरूपका एकत्वाध्यवसाय होनेसे भी नहीं बनता; क्योंकि उसमें यह प्रश्न पैदा होता है कि वह स्वरूपैकत्वाध्यवसाय कोई दूसरा करता है अथवा स्मृति और प्रत्यक्ष ही करते हैं ? स्मृति और प्रत्यक्ष तो कर नहीं सकते; क्योंकि जो स्मृति और प्रत्यक्ष अ-स्वसंविदित स्वभाव होनेके कारण अपने स्वरूपका भी अध्यवसाय करनेमें असमर्थ हैं वे अन्यके साथ एकत्वाध्यवसाय कैसे कर सकते हैं ? इसी तरह कोई दूसरा ज्ञान भी उनका एकत्वाध्यवसाय नहीं कर सकता; क्योंकि वह भी अ-स्वसंविदित स्वभाव (अपनेको न जान सकनेवाला; क्योंकि मीमांसक ज्ञानको स्वसंवेदी नहीं मानते) होनेके कारण जब अपने स्वरूपमात्रको भी नहीं

जान सकता तो वह अन्यके साथ एकत्वाध्यवसायकी बातको कैसे जान सकता है ? अतः प्रत्यक्षके साथ एकत्वाध्यवसायका नाम भी स्मृतिप्रमोष नहीं हो सकता।

स्मृतिका प्रत्यक्षरूप होना भी स्मृतिप्रमोष नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होनेपर जब स्मृति स्मृतिरूपको छोड़कर प्रत्यक्षरूप हो जायेगी, स्मृतिरूप नहीं रहेगी, तब उसे कैसे स्मृतिका प्रमोष कहा जा सकता है ? यदि कहा जाये कि 'वह चाँदी' इस प्रकारकी प्रतीतिका नाम स्मृति है। यहाँ जो 'वह' शब्द है वह पहले जाने गये अर्थको कहता है जो इस समय परोक्ष है। जहाँपर इस 'वह' शब्दका अनुभव नहीं होता वहाँ स्मृतिका प्रमोष कहा जाता है। किन्तु यह भी समुचित नहीं है, क्योंकि स्मृतिप्रमोषवादी मीमांसक 'वह चाँदी' इसको एक ही स्मरण मानता है। उसमें-से 'वह' शब्दका प्रमोष होनेपर 'चाँदी' शब्दका भी प्रमोष होना चाहिए; क्योंकि निरंश ज्ञानका एक देशसे प्रमोष नहीं हो सकता। अतः 'वह' की तरह चाँदीका भी अनुभव नहीं हो सकेगा।

अब रहा तिरोभाव, अर्थात् स्मृतिके तिरोभावको स्मृतिप्रमोष कहते हैं। यह तिरोभाव भी ज्ञानका यौगपद्य सिद्ध होनेपर ही सिद्ध हो सकता है। किन्तु मीमांसक ऐसा मानते नहीं हैं कि एक साथ दो ज्ञान हो सकते हैं। तब तिरोभावकी बात भी नहीं बनती। यदि तिरोभावको मान भी लिया जाये तो प्रश्न होता है कि स्मृतिके तिरोभावसे आपका क्या अभिप्राय है—अपना काम न करना, स्मृतिका आवृत होना अथवा उसके स्वरूपका अभिभूत होना ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि स्मृतिका कार्य है जानना, सो 'यह चाँदी' इस ज्ञानके होते हुए चाँदीका ज्ञान हो ही रहा है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि चिरस्थायी पदार्थ ही आवृत देखा जाता है, ज्ञान तो चिरस्थायी देखा नहीं जाता और न यह आपको इष्ट ही है। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। बलवान्के द्वारा दुर्बलके स्वरूपका अभिभव देखा जाता है, जैसे सूर्यसे तारागणोंका। अब प्रश्न यह होता है कि स्मृति दुर्बल है तो क्यों है ? उसका विषय अतीत होता है इसलिए, अथवा वह बाध्यमान होती है इसलिए। प्रथम पक्षमें स्मृतिका ही उच्छेद हो जायेगा; क्योंकि सभी स्मृतियोंका विषय अतीत ही होता है अतः सभी स्मृतियाँ दुर्बल कहलायेंगी। और उस अवस्थामें प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उनके स्वरूपका अभिभव होनेका प्रसंग उपस्थित होगा। दूसरे पक्षमें स्मृतिकी बाध्यमानता विपरीत ख्यातिको माने बिना बन नहीं सकती। अतः स्मृतिप्रमोषके आग्रहको छोड़कर विपरीतख्याति ही मानना चाहिए। इसलिए विपरीत ज्ञानके विषयमें प्रभाकर मतानुयायियोंका विवेकाख्याति अथवा स्मृतिप्रमोष पक्ष समुचित नहीं प्रतीत होता।

२. अख्यातिवाद

चार्वाक[1] मतानुयायी विपर्ययज्ञानको अख्यातिके रूपमें मानते हैं। उनका कहना है—सीपमें 'यह चाँदी है' इस ज्ञानका विषय चाँदी तो नहीं है, अन्यथा फिर इस ज्ञानको भ्रान्त कैसे कहा जा सकता है? तथा 'चाँदीका अभाव' भी इस ज्ञानका आलम्बन नहीं है; क्योंकि चाँदीका अस्तित्व मानकर ही वह ज्ञान प्रवृत्त होता है। इसीलिए सीप भी इस ज्ञानका आलम्बन नहीं है। शायद कहा जाये कि चाँदीके रूपमें सीप ही इस ज्ञानका आलम्बन है, किन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अन्यका अन्यरूपसे ग्रहण होना नहीं देखा जाता; क्या कहीं घटरूपसे पटका ग्रहण होता देखा गया है? इसलिए इस ज्ञानमें कुछ भी प्रतिभासमान नहीं होता। इसीलिए इसे अख्याति कहते हैं।

यह अख्यातिवादियोंका कथन भी अविचारित ही है, क्योंकि यदि इस ज्ञानमें कुछ भी प्रतिभासमान नहीं होता तो 'यह चाँदी है' इस रूपमें उसका कथन कैसे किया जा सकता है? दूसरे फिर यह अख्याति है क्या वस्तु—ख्यातिके अभावका नाम अख्याति है अथवा ईषत् ख्यातिको अख्याति कहते हैं? प्रथम पक्षमें भ्रान्तिमें और सुप्तावस्थामें कोई भेद नहीं रहेगा—क्योंकि भ्रान्तिमें सुप्तावस्थासे यही भेद होता है कि भ्रान्ति एक ज्ञानविशेषरूप होती है जब कि सुप्तावस्थामें यह बात नहीं होती। यदि भ्रान्तिको भी ज्ञानविशेषरूप नहीं माना जायेगा तो दोनों समान हो जायेंगे। दूसरे पक्षमें ख्यातिके ईषत्पनेसे क्या अभिप्राय है? यदि जो अर्थ जिस रूपमें अवस्थित है उसका उस रूपमें प्रतिभास न होनेका नाम ईषत्ख्याति अथवा अख्याति है तो यह तो विपरीतार्थख्याति हुई, न कि अख्याति। अतः अख्याति पक्ष भी समुचित नहीं है।

३. असत्ख्यातिवाद

[2]बौद्धदर्शनकी सौत्रान्तिक और माध्यमिक शाखाके अनुयायी विपर्ययज्ञानको असत्ख्यातिवाद मानते हैं। उनका कहना है—सीपमें 'यह चाँदी है' इस प्रकार जो वस्तुस्वरूप प्रतिभासित होता है वह ज्ञानका धर्म है अथवा अर्थका? ज्ञानका धर्म तो वह हो नहीं सकता; क्योंकि उसकी प्रतीति अहंकारके रूपमें न होकर बाहरमें 'यह' इस रूपसे होती है तथा अर्थका भी धर्म नहीं है; क्योंकि उसके द्वारा जो काम होना चाहिए वह नहीं होता। इसके सिवा उत्तर कालमें होनेवाले

---

१. न्या० कु० च०, पृ० ६० । प्रमेयक० मा०, पृ० ४८ ।

२. न्या० कु०, पृ० ६० ।

बाधक ज्ञानसे उस वस्तु रूपका अर्थका धर्म होना बाधित हो जाता है। अतः उक्त 'यह चाँदी है' इस ज्ञानमें असत्का ही प्रतिभास होता है। इसलिए उसे असत्ख्याति कहते हैं।

असत्ख्यातिवादियोंका उक्त कथन भी विचारपूर्ण नहीं है। क्योंकि आकाश-कुसुमकी तरह असत्का प्रतिभास होना ही सम्भव नहीं है। तथा असत् भी हो और उसका प्रतिभास हो, ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। पदार्थोंका प्रतिभासमान होना ही उनका अस्तित्व है। क्या सर्वथा असत् गधेके सींग-जैसी वस्तुओंका स्वप्नमें भी प्रतिभास होता है? तथा यदि भ्रान्त ज्ञानोंका विषय असत् माना जायेगा तो भ्रान्तियोंमें जो अनेकरूपता देखी जाती है, उसका अभाव हो जायेगा, क्योंकि उस नानारूपताका कोई कारण ही नहीं रहता। आशय यह है कि असत्ख्याति-वादी न तो ज्ञानमें वैचित्र्य मानते हैं और न अर्थमें वैचित्र्य मानते है तब उस वैचित्र्यके निमित्तसे जो अनेक प्रकारकी भ्रान्तियाँ होती हैं, वे कैसे हो सकेंगी?

ऐसे ज्ञानोंमें अर्थक्रियाकारित्व नहीं देखा जाता, इस आपत्तिपर जैनोंका यह प्रश्न है कि कौन-सा अर्थक्रियाकारित्व ऐसे ज्ञानोंमें नहीं पाया जाता—ज्ञानसाध्य अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता अथवा ज्ञेयसाध्य अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता? प्रथम पक्षमें तो 'यह चाँदी है' इस रूपसे प्रतिभासित होनेवाले वस्तु-स्वरूपका सर्वथा असत्त्व सिद्ध नहीं होता, हाँ वह ज्ञानका धर्म नहीं है, इसलिए आप उसे असत् कह सकते हैं, न कि सर्वथा असत्। क्योंकि यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुका काम न कर सके तो, इससे उस वस्तुका असत्त्व सिद्ध नहीं होता, अन्यथा घट पटका काम नहीं कर सकता, इसलिए घटके भी असत्त्वका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः प्रथम पक्ष ठीक नहीं है।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि मरीचिकामें जलका ज्ञान होनेपर जलके निमित्तसे होनेवाली अर्थक्रिया—जल पीनेकी इच्छा, उसमें प्रवृत्ति आदि होती ही है। इसपर आप यह पूछ सकते हैं कि फिर उस ज्ञानको भ्रान्त क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि उसमें स्नान आदि नहीं किया जा सकता। वास्तवमें अर्थक्रिया दो प्रकारकी होती है—एक तो अर्थमात्रसे होनेवाली और एक सच्चे अर्थसे होनेवाली। वस्तुको देखकर उसकी अभिलाषा आदि होना, अर्थमात्रसे होनेवाली अर्थक्रिया है और स्नान, पान आदि कर सकना, सत्य अर्थसे होनेवाली अर्थक्रिया है। अतः जो ज्ञान इस दूसरे प्रकारकी अर्थक्रियाको कर सकनेमें समर्थ अर्थको ही ग्रहण करता है, वही ज्ञान अभ्रान्त होता है, दूसरा नहीं। अतः असत्ख्याति पक्ष भी नहीं बनता।

४. प्रसिद्धार्थख्यातिवाद

[1]सांख्यदर्शन विपर्ययज्ञानमें प्रसिद्धार्थख्यातिवादको मानता है। उसका कहना है—विपर्ययज्ञानमें प्रतीति सिद्ध अर्थका ही प्रतिभास होता है। शायद कहा जाये कि 'विचार करनेपर उस अर्थका असत्त्व सिद्ध होता है' किन्तु यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि प्रतीतिके सिवा और विचार है क्या। और विपर्ययज्ञानमें प्रतिभासित अर्थ प्रतीतिसे अबाधित है। अतः जो अर्थ प्रतीति सिद्ध हो उसका विचार करना ही अयुक्त है। हथेलीपर रखे हुए आँवलेका अस्तित्व भी प्रतीतिपर ही निर्भर है। वही प्रतीति विपर्ययज्ञानके विषयमें भी है। शायद कहा जाये कि मरीचिकामें जलका प्रतिभास होनेपर जब ज्ञाता उस स्थानपर पहुँचता है तो वहाँ जलका प्रतिभास नहीं होता अतः वहाँ जलका असत्त्व ही ठहरा। यह कथन भी युक्त नहीं है क्योंकि यद्यपि उस स्थानमें जानेपर वह अर्थ नहीं रहता, किन्तु जिस समय वहाँ जलका ज्ञान हुआ उस समय तो है ही। यदि उत्तरकालमें उस अर्थका अभाव होनेसे प्रतिभास कालमें भी अभाव माना जायेगा तो ऐसी स्थितिमें बिजलीका अपने ज्ञान कालमें भी अभाव सिद्ध होगा; क्योंकि बिजली एक बार चमककर लुप्त हो जाती है। इसलिए यह प्रसिद्धार्थख्याति ही है।

सांख्यका उक्त मत अविचारित है; क्योंकि ऐसा माननेसे भ्रान्त और अभ्रान्त प्रतीतिका व्यवहार ही नष्ट हो जायेगा; क्योंकि जब प्रत्येक प्रतीति यथावस्थित अर्थको ग्रहण करती है, तब 'कोई प्रतीति भ्रान्त और कोई अभ्रान्त' यह व्यवस्था बिना हेतुके कैसे बन सकती है? ऐसा करनेसे तो स्वेच्छाचार ही कहलायेगा। तथा मरीचिकामें भी प्रतिभास कालमें यदि जलका अस्तित्व रहता है तो उत्तरकालमें जलके नहीं होनेपर भी कमसे कम जलके चिह्न—जमीनका गीला वगैरह होना—तो अवश्य ही मिलने चाहिए; क्योंकि बिजलीकी तरह जलका भी तत्काल निरन्वय विनाश नहीं देखा जाता। अतः प्रसिद्धार्थख्याति पक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है।

५. आत्मख्यातिवाद

बौद्ध[2]दर्शनकी योगाचार शाखाके अनुयायी विपरीत ज्ञानको आत्मख्याति मानते हैं। उनका कहना है—सीपमें 'यह चाँदी है' इस प्रकार चाँदीका प्रतिभास होता है। किन्तु बाहरमें स्थित चाँदीका यह प्रतिभास बाधक प्रत्ययके कारण

---

१. न्या० कु० पृ० ६१। प्रमेयक० मा०, पृ० ४९-५०।
२. न्या० कु०, पृ० ६२। प्रमेयक० मा०, पृ० ५०-५१।

ठीक नहीं है, 'जिस रूपसे प्रतिभास होता है वैसा ही अर्थ है' ऐसा मानना समुचित नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे भ्रान्तताका अभाव हो जायेगा। अतः 'यह चाँदी है' यह ज्ञानका ही आकार है जो अनादिकालीन अविद्या वासनाके बलसे बाहरमें प्रतिभासित होता है। इसलिए इसे आत्मख्याति कहना ही समुचित है।

योगाचारका यह कथन भी समुचित नहीं है; यतः जब यह सिद्ध हो जाये कि ज्ञान अपने स्वरूपमें ही निष्ठ होता है और अर्थका आकार धारण करता है तभी आत्मख्याति सिद्ध हो सकती है। किन्तु यह सिद्ध नहीं है। इसका विचार यथास्थान किया जायेगा। तथा यदि सभी ज्ञान अपने आकार मात्रको ग्रहण करते हैं तो उनमें भ्रान्त और अभ्रान्तका भेद तथा बाध्य-बाधकपना नहीं बनता क्योंकि वैसी स्थितिमें कोई भी ज्ञान व्यभिचारी हो नहीं सकता। तथा यदि 'यह चाँदी है' यह ज्ञानाकार ही है तो इसका संवेदन 'मैं चाँदी' इस रूपमें स्वात्मनिष्ठ ही होना चाहिए न कि 'यह चाँदी' इस प्रकार बहिर्निष्ठ। क्योंकि जिसका स्वात्मरूपसे संवेदन होता है, उसका बहिर्निष्ठ रूपसे संवेदन नहीं होता, जैसे ज्ञानके स्वरूपका। किन्तु आत्मख्यातिवादीके मतमें चाँदी वगैरहका आकार स्वात्मरूपसे जाना जाता है अतः उसका बहिःस्थित रूपसे बोध नहीं होना चाहिए। यदि अनादि अविद्या वासनाके कारण स्वात्मनिष्ठ ज्ञानाकारका प्रतिभास बहिःस्थित रूपसे हुआ मानते हैं तब तो यह विपरीतख्याति ही हुई; क्योंकि ज्ञानसे अभिन्न चाँदी वगैरहके आकारका विपरीत रूपसे अर्थात् बहिःस्थित रूपसे अध्यवसाय होता है।

तथा यदि योगाचार बाह्य अर्थोंको ज्ञानका विषय नहीं मानता तो जैसे सीपमें 'यह चाँदी है' इस प्रकार चाँदीके उल्लेखपूर्वक ज्ञान होता है वैसे 'यह नील है' इस प्रकार नीलके उल्लेखपूर्वक ज्ञान क्यों नहीं होता? कोई नियामक तो है नहीं? यदि अविद्या वासना नियामक है तो अमुक देश वगैरहमें ही ऐसा ज्ञान क्यों होता है? शायद कहें कि अविद्याका यही माहात्म्य है कि देश आदिके नियमके असत् होने पर भी वह ज्ञानमें उसकी प्रतीति करा देती है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि ऐसा माननेसे तो असत्ख्यातिवाद ही सिद्ध होता है। अतः आत्मख्याति पक्ष भी समुचित नहीं है।

६. अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद

ब्रह्माद्वैतवादी विपर्ययज्ञानमें अनिर्वचनीयार्थख्याति मानते हैं। उनका कहना है—सीप आदिमें जो चाँदी आदिका आकार प्रतिभासमान होता है वह सत् है या

असत् है अथवा उभय रूप है ? सत् तो हो नहीं सकता, क्योंकि यदि वहाँ चाँदी होती तो उत्तरकालमें बाधक ज्ञान उत्पन्न न होता और चाँदीका ज्ञान अभ्रान्त कहा जाता। असत् भी नहीं हो सकता; क्योंकि आकाशकुसुमकी तरह असत्का प्रतिभास नहीं होता। उभय रूप भी नहीं है, क्योंकि उभय रूप माननेमें उभय पक्षके दोष आयेंगे तथा सत् और असत् ये दोनों एक रूप नहीं हो सकते। अतः ज्ञानके द्वारा दर्शित अर्थको सत् असत् अथवा उभयरूपसे कहना शक्य नहीं है, अतः इसे अनिर्वचनीयार्थख्याति कहते हैं।

यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो प्रतिभासमान है उसे अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता। जो सत् है उसका सत् रूपसे ग्रहण और कथन होता ही है और जो असत् है उसका असत् रूपसे ग्रहण और कथन होता है। यदि ऐसा न हो तो घट-पट आदि और उनका अभाव भी अनिवर्चनीय हो जायेगा। तथा यदि उक्त विपरीत ज्ञानको आप अनिर्वचनीय मानते हैं तो 'यह चाँदी है' इस प्रकारका ज्ञान और शब्द-व्यवहार हो नहीं सकता। पहले सत् रूपसे देखी हुई चाँदी देश आदिका व्यवधान होने पर भी समानताके कारण सीपमें प्रतिभासित होती है। अतः उसका 'यह वह है' इस रूपसे उल्लेख होना ही वचनीयता है और उसका उल्लेख न होना ही अवचनीयता है, अतः अनिर्वचनीयार्थख्याति पक्ष भी ठीक नहीं है।

७. अलौकिकार्थख्यातिवाद

कुछ दार्शनिक इसे अलौकिकार्थ ख्यातिके रूपमें मानते हैं। उनका कहना है कि चूँकि उक्त प्रकारसे विचार करनेपर अन्य ख्यातियाँ ठीक नहीं बैठतीं, अतः इसे अलौकिकार्थ ख्याति मानना चाहिए। अलौकिक अर्थात् अन्तः अथवा बाह्यरूपसे जिसके स्वरूपका निरूपण नहीं किया जा सकता ऐसे अर्थकी ख्यातिका नाम अलौकिकार्थख्याति है। यह पक्ष भी विचारसह नहीं है; क्योंकि अर्थके अलौकिकपनेसे आपका क्या आशय है ? अर्थका अन्य रूप होना, अन्य क्रिया करना, अन्य कारणसे उत्पन्न होना अथवा बिना कारणके उत्पन्न होनेका नाम अलौकिकपना है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि सत्यका जैसा रूप प्रतिभासित होता है वैसा ही रूप असत्यका भी प्रतिभासित होता है। यदि अन्य रूपसे प्रतिभासित होनेका नाम अलौकिकार्थख्याति है तो विपरीतख्यातिका ही नाम अलौकिकार्थख्याति हुआ। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। यदि अन्य अर्थ अन्य अर्थका काम करने लगेगा तो उसके लिए अन्य कारणोंकी परिकल्पना करना ही व्यर्थ हो जायेगा, फिर तो एक ही कारणसे सब कार्य

उत्पन्न होने लगेंगे। इसीसे तीसरा पक्ष भी असंगत ठहरता है। चतुर्थ पक्षमें यदि बिना कारणके अर्थ उत्पन्न होता है तो वह सत् रूप है अथवा असत् रूप है? यदि सत् रूप है तो वह नित्य कहलाया; क्योंकि जो सत् है और कारणोंसे उत्पन्न नहीं होता वह अनित्य नहीं हो सकता। यदि वह असत् रूप है तो 'यह चाँदी है' इस प्रकार विधि रूपसे उसकी प्रतीति क्यों होती है? क्योंकि घटका अभाव होनेपर 'यह घट है' इस प्रकार विधि रूपसे उसकी प्रतीति स्वप्नमें भी नहीं होती। शायद कहा जाये कि असत् रूप अर्थकी भी किसी भ्रान्तिके कारण सत् रूपसे प्रतीति होती है। तब तो यह विपरीतख्याति हुई न कि अलौकिकार्थ-ख्याति? अतः अलौकिकार्थख्याति पक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है।

इस तरह सीपमें चाँदीका ज्ञान होनेके विषयमें अन्य दार्शनिकोंके द्वारा कथित ख्यातियाँ विचार करनेपर नहीं ठहरतीं। अतः इसे विपरीतख्याति ही मानना चाहिए।

८. विपरीतार्थख्यातिवाद पक्षका समर्थन

विपरीतख्याति न माननेवाले दार्शनिकोंका कहना है कि इस तरहसे विचार करनेपर तो विपरीतख्याति भी नहीं टिकती। क्योंकि उसमें भी यह प्रश्न उठता है कि विपरीतख्यातिका आलम्बन क्या है—चाँदी अथवा सीप? यदि चाँदी है तो यह असत्ख्याति हुई, न कि विपरीतख्याति; क्योंकि उसमें असत् चाँदीका प्रतिभास होता है। शायद कहा जाये कि अन्य देश और अन्य कालमें जो चाँदी सत् है वही सीपमें प्रतिभासित होती है, अतः उक्त दोष नहीं आता। तो 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो चाँदी उस देश और उस काल-में वर्तमान नहीं है और जिसका चक्षुके साथ सन्निकर्ष भी नहीं है, उसका चाक्षुष ज्ञान नहीं हो सकता। यदि ऐसे पदार्थका भी चाक्षुष ज्ञान होने लगे तो सब पदार्थोंका चाक्षुष ज्ञान होने लगेगा और इस तरह चाक्षुष ज्ञान समस्त विश्वको ग्रहण कर सकेगा। अतः चाँदी तो इस ज्ञानका आलम्बन नहीं है। और न सीप ही है; क्योंकि वह ज्ञान चाँदीके आकारके रूपमें उत्पन्न होता है। जो ज्ञान अन्यके आकार हो उसका आलम्बन अन्य नहीं हो सकता। तथा यदि सीप ही इस ज्ञानका आलम्बन है तो उसे भ्रान्त कैसे कहा जा सकता है?

विपरीतख्यातिमें उठायी गयी उक्त विप्रतिपत्तियोंका समाधान इस प्रकार है—उक्त ज्ञानका आलम्बन चाँदी ही है, किन्तु इतने मात्रसे इसे असत्ख्याति नहीं कहा जा सकता। असत्ख्यातिमें तो सर्वथा असत् अर्थका प्रतिभास माना जाता

है किन्तु वहाँ तो देशान्तरमें विद्यमान अर्थका प्रतिभास होता है। अतः विपरीतख्याति और असत्ख्यातिमें बहुत भेद हैं।

शङ्का—जो चाँदी वहाँ नहीं है और न जिसका चक्षुके साथ सन्निकर्ष ही है उसका 'यह चाँदी' इस रूपमें प्रतिभास कैसे होता है?

उत्तर—दोषके कारण देशान्तर और कालान्तरमें विद्यमान वस्तु भी निकट रूपसे ज्ञानका विषय हो सकती है। इसीसे तो इसे विपरीतख्याति कहते हैं। किन्तु ऐसा होनेसे विश्वको भी जान लेनेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता; क्योंकि सदृश पदार्थके दर्शनसे उद्भूत हुई स्मृतिके द्वारा उपस्थापित पदार्थ ही विपरीत ज्ञानका विषय होता है। और उपस्थापनका अर्थ है चित्तमें स्फुरायमान अर्थकी बाहरमें प्रतीति होना। किन्तु इतने मात्रसे इसे आत्मख्याति अथवा असत्ख्याति नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञानसे भिन्न अर्थका यहाँ प्रतिभास होता है इसलिए इसे आत्मख्याति नहीं कहा जा सकता और अत्यन्त असत् अर्थका प्रतिभास नहीं होता, इसलिए इसे असत्ख्याति नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—'यह चाँदी है' यह ज्ञान तो प्रत्यक्ष रूप है। उसमें, स्मृतिकी कोई अपेक्षा नहीं है, अतः स्मृतिके द्वारा उपस्थापित अर्थका प्रतिभास इसमें कैसे हो सकता है?

उत्तर—यह ज्ञान प्रत्यक्ष रूप नहीं है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान रूप है। इसमें पहले देखी हुई और वर्तमानमें दृश्य वस्तुका जोड़ रूप ज्ञान होता है। जैसे 'यह वही देवदत्त है।' और प्रत्यभिज्ञानमें दर्शन और स्मरण दोनों कारण होते हैं। इसलिए इसमें स्मृतिकी अपेक्षा होना उचित ही है। शायद कहा जाये कि सीपमें 'यह चाँदी है' इस प्रकारके ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहना सिद्धान्तविरुद्ध है; किन्तु ऐसी बात नहीं है। आगे बतलाया जायेगा कि 'यह वृक्ष है' इत्यादि ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान ही है।

अतः स्मृतिके द्वारा उपस्थापित चाँदी इस ज्ञानका आलम्बन है अथवा अपने आकारको छिपाकर चाँदीका आकार धारण करनेवाली सीप ही इसका आलम्बन है; क्योंकि उस समय सीपका त्रिकोण आदि विशिष्ट आकार तो दृष्टिगोचर नहीं होता और चमक आदि जो धर्म चाँदी और सीपमें समान हैं, उनपर दृष्टि पड़ते ही पहले देखी हुई चाँदीका स्मरण हो आता है। अतः अपने आकारको छिपाकर चाँदीका आकार धारण करनेवाली सीप इस ज्ञानका आलम्बन है।

शङ्का—चाँदीको ग्रहण करनेवाले ज्ञानका आलम्बन सीप कैसे हो सकती है?

समाधान—अंगुलि वगैरहसे जिस वस्तुकी ओर निर्देश किया जाता है, वही

ज्ञानका आलम्बन होता है। सीपको चाँदीके रूपमें जाननेवालोंका संकेत 'यह चाँदी' इस तरह सामने पड़ी हुई सीपकी ओर ही होता है। बिना सीप-जैसी वस्तुके इस प्रकारका ज्ञान हो नहीं सकता। अतः इस ज्ञानमें विषय रूपसे सीपकी अपेक्षा होती है। सीप और चाँदीमें समान रूपसे पाये जानेवाले चमकते हुए सफेद आकारको लेकर ही यह विपरीत ज्ञान होता है। अतः इसे विपरीत-ख्याति ही कहना उचित है। इसीसे ऐसे ज्ञानको अप्रमाण माना है। अतः जो ज्ञान संशय, विपर्यय आदिसे रहित होता है वही प्रमाण है।

इस तरह जैनदर्शनमें अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि और उसीके समकक्ष निर्विकल्पक ज्ञान भी प्रमाण नहीं हैं। उन्हें यदि प्रमाण माना जा सकता है तो उपचारसे ही प्रमाण माना जा सकता है; क्योंकि परम्परासे ये सब सविकल्पक ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। अतः मुख्यरूपसे तो ज्ञान ही प्रमाण है।

साकार ज्ञानवादकी समीक्षा

पूर्वपक्ष—सौत्रान्तिक[1] मतावलम्बी बौद्धका कहना है कि यह तो ठीक है कि ज्ञान अर्थका ग्राहक होता है; किन्तु विचारणीय यह है कि वह सम्बद्ध अर्थका ग्राहक है अथवा असम्बद्ध अर्थका ? असम्बद्ध अर्थका ग्राहक तो हो नहीं सकता. क्योंकि ऐसा होनेसे ज्ञान सभी अर्थोंका ग्राहक हो जायेगा। यदि सम्बद्ध अर्थका ग्राहक है तो यह प्रश्न होता है कि ज्ञान और अर्थका कौन सम्बन्ध है – तादात्म्य सम्बन्ध है अथवा तदुत्पत्ति सम्बन्ध है ? तादात्म्य सम्बन्ध माननेसे तो विज्ञानाद्वैतवादी योगाचारका मतानुयायी होना पड़ेगा, क्योंकि योगाचारके मतसे विज्ञान ही परमार्थ सत् है और बाह्य पदार्थ स्वप्नके समान हैं। तथा ज्ञान और अर्थ चूँकि समकालीन होते हैं, इसलिए उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक गायके एक साथ पैदा होनेवाले दोनों सींगोमें जैसे कार्यकारण भाव नहीं होता वैसे ही समान समयवर्ती दो पदार्थोंमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। यदि ज्ञान और अर्थको भिन्न समयवर्ती माना जायेगा तो अर्थके नष्ट हो जानेपर बिना आकारके अर्थका ग्रहण कैसे हो सकता है ? यही बात धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिकमें कही है –

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः तदाकारार्पणक्षमम् ॥"[2]

१. न्या० कु० च०, पृ० १६५। प्रमेयक० मा०, पृ० १०३-११०।
२. प्रमाणवा०, ३।२४७।

बौद्ध दर्शनमें प्रत्येक अर्थ क्षणिक है। अतः प्रथम क्षणमें तो अर्थ उत्पन्न ही होता है। दूसरे क्षणमें वह ज्ञानको उत्पन्न करता है। किन्तु ऐसा होनेसे कारणभूत अर्थका कार्यभूत ज्ञानके होनेपर अभाव हो जाता है, क्योंकि वह क्षण स्थायी है ऐसी स्थितिमें यह आशङ्का होती है कि वह अर्थ ज्ञानके द्वारा कैसे ग्राह्य हो सकता है? उसीका समाधान करते हुए बतलाया है कि जिस क्षणमें किसी वस्तुके साथ हमारी इन्द्रियोंका सम्पर्क होता है उस क्षणमें वह वस्तु अतीतके गर्भमें चली जाती है। केवल तज्जन्य ज्ञान शेष रहता है। प्रत्यक्ष होते ही वस्तुके नील पीत आदि आकार चित्तपर अंकित हो जाते हैं। इन आकारोंको ही ज्ञान जानता है। अतः बौद्धोंका कहना है कि चूँकि ज्ञान अर्थसे उत्पन्न होता है, इसलिए उसे अर्थके आकार ही मानना चाहिए। तथा यह नियम है कि जो जिसका ग्राहक होता है वह उसके आकार होता है। जैसे स्वरूपका ग्राहक ज्ञान स्वरूपके आकार होता है वैसे ही नील आदि अर्थका ग्राहक ज्ञान नील आदि अर्थोंके आकार होता है। और जो जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक भी नहीं होता। जैसे शुक्लज्ञान नीलका ग्राहक नहीं होता, क्योंकि वह उसके आकार नहीं है। किन्तु ज्ञान अर्थका ग्राहक होता है, इसलिए उसे अर्थाकार मानना चाहिए।

यदि ज्ञानको निराकार माना जायेगा तो उसके स्वरूपका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; क्योंकि जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो 'यह नील है', 'यह पीत है' इत्यादि आकार रूपसे उसकी प्रतीति होती है। इन आकारोंके अभावमें ज्ञानका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? तथा निराकार माननेपर ज्ञानोंका परस्परमें भेद भी दुर्लभ हो जायेगा। क्योंकि नील आदि आकार ही एक ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे भिन्न करते हैं, उनके अभावमें किससे किसे भिन्न किया जायेगा? अतः जिसके कारण 'यह नीलका[1] ज्ञान है', 'यह पीतका ज्ञान है', इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानका विषय नियत होता है, वही अर्थाकारता इस क्रियामें साधकतम होनेसे प्रमाण[2] है, और वही एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञानको भिन्न करती है। यदि अर्थाकारताको नहीं माना जायेगा तो 'नीलका यह ज्ञान है' इस प्रकार ज्ञानका अर्थके साथ सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता और उसके न होनेसे सब पदार्थोंके प्रति समान होनेके कारण निराकार ज्ञानमें वह व्यवस्था कैसे बनेगी कि अमुक ज्ञानका अमुक ही विषय है? और इस व्यवस्थाके अभावमें अर्थक्रियार्थी ज्ञाता पुरुषकी नियत अर्थमें प्रवृत्ति कैसे हो

१. प्रमाणवा० अलं०, पृ० २।

२. प्रमाणस०, का० १०। प्रमाणवा० अलं०, पृ० ११६।

सकेगी, क्योंकि निराकार होनेसे उसका ज्ञान सभी पदार्थोंके प्रति समान है। इसीसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमें कहा है—

"अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्[1]।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता॥"[2]

अर्थात् अर्थाकारताको छोड़कर अन्य कोई ज्ञानको अर्थके साथ सम्बद्ध नहीं करता। अतः ज्ञानकी अर्थाकारता ही प्रमाण है। शायद कहा जाये कि जैसे अर्थ ज्ञानका कारण है वैसे ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी कारण हैं, अतः अर्थकी तरह चक्षु आदिके आकारका अनुकरण ज्ञानमें क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जैसे पुत्रकी उत्पत्तिमें भोजन आदि भी कारण है, किन्तु पुत्र भोजनके आकारका अनुकरण न करके माता-पिताके ही आकारका अनुकरण करता है, वैसे ही ज्ञान भी अर्थके आकारका ही अनुकरण करता है, चक्षु आदिका नहीं। अतः ज्ञानको साकार मानना चाहिए।

उत्तर पक्ष—जैनोंका कहना है कि यद्यपि ज्ञान सम्बद्ध अर्थका ही ग्राहक है, किन्तु ज्ञान और अर्थमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है, बल्कि योग्यता लक्षण सम्बन्ध है। उस सम्बन्धके ही कारण ज्ञान समकालीन अथवा भिन्नकालीन अर्थको ग्रहण करता है। अतः 'भिन्नकालमें ग्राह्य-ग्राहक भाव कैसे बनता है' यह कथन असंगत है। यहाँ इतना और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैन दर्शन बौद्धोंके निर्विकल्पक ज्ञानको तो स्वीकार ही नहीं करता। अतः प्रवृत्ति और निवृत्तिमें कारण जिस सविकल्पक ज्ञानका अनुभव बालकसे लेकर वृद्ध तकको होता है, उसीको जैन दर्शन निराकार सिद्ध करता है। किसी भी मनुष्यको यह अनुभव नहीं होता कि सब ज्ञान अपने आकारको ही जानते हैं बल्कि अपनेसे भिन्न पदार्थके अभिमुख होकर ही वे पदार्थोंको जानते हैं। यही लौकिकी प्रतीति है; और लोकव्यवहारका उल्लंघन करनेसे पदार्थकी व्यवस्था हो नहीं सकती। अन्यथा धर्मकीर्तिका 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' कथन असंगत ठहरेगा। तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे भी विरोध आयेगा; क्योंकि प्रत्यक्षसे तो प्रत्येक पुरुषको आकाररहित ज्ञानका ही अनुभव होता है न कि दर्पणकी तरह साकार ज्ञानका। अतः जो जिसके द्वारा अपनेसे भिन्न जाना जाता है वह उसके द्वारा अतदाकार रूपसे ही जाना जाता है। जैसे स्तम्भकी जड़ताको ज्ञान जड़रूप होकर नहीं जानता। ज्ञान अपनेसे भिन्न नील आदि पदार्थोंको जानता है। अतः ज्ञान निराकार है।

---

१. प्रमाणवा०, ३।३०५।

२. न्या० कु० च०, पृ० १६७। प्रमेयक० मा०, पृ० १०३-११०।

यदि ज्ञानको साकार माना जाता है तो ज्ञानकी साकारतासे क्या आशय है।—ज्ञानका स्वसंविद् रूप होना, अथवा उसका वैशद्य आदि स्वभाव, अथवा 'यह नील है' इस प्रकार अर्थाकारका उल्लेख, अथवा अर्थके आकारको धारण करना। प्रथम तीन विकल्पोंमें तो कोई आपत्ति हमें नहीं है; क्योंकि ज्ञानमें ये तीनों बातें होती हैं, इनमें-से एकका भी अभाव होनेपर ज्ञान ज्ञान ही नहीं रह सकता। हाँ, ज्ञानका अर्थके आकारको धारण करना असंगत है; क्योंकि नील आदि आकार ज्ञानमें संक्रान्त नहीं होता, क्योंकि वह जड़का ही धर्म है। जो जड़का ही धर्म होता है वह ज्ञानमें संक्रान्त नहीं होता, जैसे जड़ता। उसी तरह नील आदि आकार भी जड़का ही धर्म है। शायद कहा जाये कि सत्त्वसे व्यभिचार आयेगा। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, सत्त्व जड़का ही धर्म नहीं है अजड़ (चेतन) सुखादिमें भी सत्त्व धर्म रहता है।

इसी तरह यदि ज्ञान साकार है तो अर्थके साथ ज्ञानका पूरी तरहसे सारूप्य है, अथवा एकदेशसे ? पूरी तरहसे सारूप्य माननेपर चूँकि अर्थ जड़ है, अतः ज्ञान भी जड़ ही हो जायेगा। और फिर ज्ञान प्रमाणरूप न रहकर प्रमेय रूप हो जायेगा; क्योंकि अर्थ प्रमेय होता है, प्रमाण नहीं होता। किन्तु ऐसा होना युक्त नहीं है; क्योंकि प्रमाणका अन्तर्मुख रूपसे और अर्थका बाह्य रूपसे अलग-अलग प्रतिभास होता है। इस दोषके भयसे यदि अर्थके साथ ज्ञानका एकदेशसे सारूप्य मानते हैं तो अजड़ाकार ज्ञानके द्वारा अर्थकी जड़ताकी प्रतीति नहीं हो सकेगी क्योंकि ज्ञान जड़ाकार नहीं है और जो जिसके आकार नहीं होता वह उसको ग्रहण नहीं कर सकता। तथा जड़ताकी प्रतीति न होनेसे 'अर्थ जड़ है' यह बोध कैसे हो सकेगा ? और जड़ताकी प्रतीति न होनेपर नीलताकी भी प्रतीति नहीं हो सकेगी। अन्यथा नीलताकी प्रतीति होने और जड़ताकी प्रतीति न होनेसे नीलता और जड़तामें भेद हो जायेगा।

तथा, यदि बुद्ध दूसरोंके रागादिको जानते समय तदाकार हो जाते हैं तो दूसरे मनुष्योंके समस्त कल्पनासमूहका अनुकरण करनेसे वह वीतराग और कल्पनाजालसे रहित कैसे हो सकेंगे ? शायद कहा जाये कि परकीय रागादिके आकारका अनुकरण करनेपर भी 'यह मेरे रागादि हैं' यह बुद्धि नहीं होती, अतः कोई दोष नहीं है ? तो प्रश्न होता है कि 'वे रागादि दूसरोंके कैसे हैं' शायद कहा जाये कि दूसरोंको उस प्रकारकी बुद्धि होती है कि वे रागादि हमारे हैं ? तो यदि बुद्ध दूसरोंकी इस बुद्धिके आकारका अनुकरण करते हैं तो वही दोष पुनः आता है। अतः इस दोषके भयसे यदि यह मानते हैं कि ज्ञान अतदाकार होकर

भी जड़ताको जानता है तो अतदाकार ज्ञान ही नील आदि आकारको भी जान लेगा, फिर ज्ञानको साकार माननेका आग्रह क्यों किया जाता है ?

तथा, जैसे एक देशसे सारूप्य होनेके कारण ज्ञान नील पदार्थको जानता है वैसे ही वह समस्त अर्थोंको भी जान लेगा; क्योंकि सत्त्व आदि रूपसे सभी पदार्थोंके साथ ज्ञानका सारूप्य है। शायद कहा जाये कि सभी पदार्थोंके साथ एकदेशसे सारूप्य होनेपर भी वे पदार्थ नील आदि आकारसे विलक्षण होते हैं, अतः उनका ग्रहण नहीं होता तो समान आकारवाले सब पदार्थोंके ग्रहणका प्रसंग उपस्थित होगा। शायद कहा जाये कि ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है, उसीके आकारका अनुकरण करनेपर उसका ग्राहक होता है, केवल सारूप्य मात्रसे ग्राहक नहीं होता, तो प्रथम क्षणमें 'नील' यह ज्ञान उत्पन्न हुआ। यह ज्ञान द्वितीय ज्ञानका जनक है किन्तु द्वितीय ज्ञान पूर्व क्षणवर्ती ज्ञानसे उत्पन्न होनेपर भी तथा तदाकार होनेपर भी पूर्वक्षणवर्ती ज्ञानका ग्राहक नहीं होता। अतः उक्त कथन भी संगत नहीं है।

तथा, आकार ज्ञानसे भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो ज्ञान निराकार ही रहा। यदि अभिन्न है तो ज्ञान और आकारमें-से कोई एक ही रहा। कथंचिद् भेद माननेपर जैनमतानुयायी होनेका प्रसंग उपस्थित होगा। तथा यदि ज्ञान अपनेसे अभिन्न आकारको ही ग्रहण करता है तो 'पर्वत दूर है', 'मकान समीप है' इस प्रकारका व्यवहार नहीं होना चाहिए। शायद कहा जाये कि ज्ञानमें अपना आकार देनेवाले पदार्थके दूर या समीप होनेके कारण ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु दर्पण वगैरहमें ऐसा व्यवहार नहीं पाया जाता। अतः विचार करनेपर ज्ञानका अर्थाकार होना घटित नहीं होता। इसलिए 'जो जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक भी नहीं होता' इत्यादि कथन अयुक्त है।

तथा जो यह आपत्ति की गयी है कि 'ज्ञानको निराकार माननेपर स्वरूपका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, वह भी उचित नहीं है। ज्ञानका आकार उसका स्वपर प्रकाशकत्व है न कि नीलादिपना। नीलादिपना तो अर्थका धर्म है। अतः स्वपर प्रकाशकत्व रूप आकारके साथ ज्ञानका प्रत्यक्ष होता ही है; क्योंकि 'मैं नीलको जानता हूँ' यह प्रतीति सभीको होती है। रह जाता है यह प्रश्न कि निराकार होनेपर ज्ञानोंमें भेद कैसे किया जायेगा ? सो प्रत्येक ज्ञान प्रतिनियत अर्थका ग्राहक होता है। उसका यह स्वरूप ही एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञानको भिन्न करता है। स्वगत धर्मकी अपेक्षासे ही पदार्थोंमें परस्पर भेद करना युक्त है, न न कि अन्यके धर्मकी अपेक्षासे। यदि अन्यके धर्मकी अपेक्षासे भी भेद किया जायेगा तो बड़ी गड़बड़ी उपस्थित होगी।

यह भी आपत्ति की गयी है कि यदि ज्ञानको निराकार माना जायेगा तो सब ज्ञान सब पदार्थोंके ग्राहक हो जायेंगे; क्योंकि उनमें परस्परमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। किन्तु यह आपत्ति भी समीचीन नहीं है; दीपककी तरह ज्ञान स्वकारणोंसे सामने विद्यमान अर्थमें ही नियमित रहता है। जैसे दीपक घटादिके आकारको धारण करके उनका प्रकाशक नहीं होता। फिर भी वह घरके अन्दर रहनेवाले प्रतिनियत पदार्थोंका ही प्रकाशन करता है, क्योंकि उसकी शक्ति नियत है। उसी तरह ज्ञान अर्थाकार न होनेपर भी प्रतिनियत सामग्रीके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण तथा प्रतिनियत सामर्थ्य रखनेके कारण प्रतिनियत अर्थको ही जानता है, सबको नहीं जानता। अतः ज्ञानकी साकारताका पक्ष अनेक दोषोंसे दुष्ट होनेके कारण समुचित नहीं है।

ज्ञान स्वसंवेदी होता है

जैनदर्शन ज्ञानको स्वसंवेदी मानता है। दूसरे ज्ञानकी सहायताके बिना अपने स्वरूपके जाननेका नाम स्वसंवेदन है। जैनदर्शनका कहना है कि ज्ञान स्वको जानता है; क्योंकि वह अर्थको जानता है। जो 'स्व' को नहीं जानता वह अर्थको भी नहीं जानता। जैसे, घट-पट आदि। किन्तु ज्ञान अर्थका ग्राहक है अतः वह 'स्व' का भी ग्राहक है।

परोक्षज्ञानवाद

पूर्वपक्ष—मीमांसक ज्ञानको स्वसंवेदी नहीं मानते[1]। उनका कहना[2] है—ज्ञानका स्वसंवेदन प्रमाणविरुद्ध है, ज्ञान तो परोक्ष ही है; क्योंकि उसकी कर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती। जिसका प्रत्यक्ष होता है, उसकी प्रतीति कर्मरूपसे होती है, जैसे अर्थकी। चूँकि ज्ञानकी प्रतीति कर्मरूपसे नहीं होती, अतः वह परोक्ष है।

शायद कहा जाये कि यदि ज्ञान सर्वदा परोक्ष है तो उसके ग्राहक प्रमाणका अभाव होनेसे ज्ञानका ही अभाव हो जायेगा? किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है। प्रत्यक्षरूपसे ज्ञानकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए हम उसे नित्य परोक्ष मानते हैं, [3]अर्थापत्ति नामका प्रमाण उसका ग्राहक है। वह बतलाता है कि कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती, इसलिए ज्ञानक्रिया अर्थमें प्रकटनरूप फलको

१. न्या० कु०, पृ० १७५।

२. शावर भा०. १।१।५।, बृहती १।१।५।, पञ्जिका, पृ० ६४-६७।

३. मी० श्लो० टी०, सूत्र १।१।५।

उत्पन्न करती है, अर्थात् ज्ञानसे अर्थ प्रकट हो जाता है। और प्रत्येक प्राणीसे सुपरिचित यह अर्थ प्रकटनरूप फल बिना ज्ञानके हो नहीं सकता। अतः इस फलसे आत्मामें नित्य परोक्षज्ञानका अस्तित्व माना जाता है : कहा भी है—

अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थः, स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्।" [शाबर भा० १।१।५]
हमारा ज्ञान अप्रत्यक्ष है और अर्थ प्रत्यक्ष है, क्योंकि बहिर्देशवर्ती अर्थका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अर्थका ज्ञान होनेपर अनुमानसे बुद्धिका ज्ञान होता है।

जैसे जलका ज्ञान होनेपर उसमें प्रवृत्ति होती है। यदि प्रवृत्तिका विषय जल अज्ञात हो तो उसमें प्रवृत्ति हो नहीं सकती। अतः प्रवृत्तिको देखकर ही ज्ञानका अनुमान किया जाता है। प्रयोजनार्थी मनुष्य कभी प्रवृत्ति करता है, और कभी प्रवृत्ति नहीं करता। इसमें ज्ञानके सिवा उसकी प्रवृत्तिका अन्य कोई कारण नहीं है। जो अर्थ इष्टसाधक है, वह भी स्वभावसे ही प्रवृत्तिमें हेतु नहीं है, अन्यथा सर्वत्र उसमें प्रवृत्ति हुआ करे। अतः चूँकि प्रयोजन होनेपर भी मनुष्यकी अर्थमें प्रवृत्ति कदाचित् ही होती है, इसलिए अर्थके सिवा अन्य भी कोई इसका कारण है, जिसके होनेपर अर्थमें प्रवृत्ति करनेकी योग्यता आती है, वह कारण ज्ञान है। अतः ज्ञान परोक्ष है।

उत्तर—मीमांसकका[1] उक्त मत जैनदर्शनको अभीष्ट नहीं है। उसका कहना है—जैसे मीमांसक आत्मा और फलज्ञानकी कर्म रूपसे प्रतीति नहीं होने-पर भी उनका प्रत्यक्ष होना मानता है, वैसे ही उसे प्रमाण रूपसे अभिमत करण-ज्ञानको भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए; क्योंकि जैसे आत्माकी कर्तारूपसे और फल-ज्ञानकी फलरूपसे प्रतीति होती है, अतः वे प्रत्यक्ष हैं, उसी प्रकार ज्ञानकी कर्म-रूपसे प्रतीति नहीं होनेपर भी करणरूपसे प्रतीति होती है, अतः उसे भी प्रत्यक्ष मानो। यदि करण रूपसे प्रतीयमान ज्ञानको करण ही मानते हो, प्रत्यक्ष नहीं मानते, तो कर्तारूपसे और फलरूपसे प्रतीयमान आत्मा और फलज्ञानको भी कर्ता और फल ही मानना होगा, न कि प्रत्यक्ष। दोनों पक्षोंमें आक्षेप और समा-धान तुल्य हैं।

मीमांसकोंका कहना है कि ज्ञानकी कर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती, इसलिए वह परोक्ष है। सो देखना यह है कि समस्त प्रमाणोंकी अपेक्षा ज्ञानकी कर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती अथवा स्वरूपकी अपेक्षा कर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती? प्रथम-पक्षमें तो ज्ञानका अस्तित्व ही दुर्लभ हो जायेगा; क्योंकि जो समस्त प्रमाणोंकी

१. न्या० कु०, पृ० १७६–१८०। प्रमेय क० मा०, पृ० १२१–१२८।

अपेक्षा कर्म नहीं है, अर्थात् जो किसी भी प्रमाणका विषय नहीं है, वह सत् भी नहीं है, जैसे गधेके सींग। अतः ज्ञानको प्रत्यक्ष न होनेपर भी प्रमाणान्तरसे ज्ञानकी प्रतीति माननी चाहिए। और उसके माननेपर 'ज्ञानकी कर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती' यह बात असिद्ध हो जाती है। शायद कहा जाये कि प्रमाणान्तरसे ज्ञानकी प्रतीति तो होती है, किन्तु वह कर्म नहीं है। किन्तु ऐसा कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि जिसकी प्रतीति होती है वह 'कर्म न हो' यह सम्भव नहीं है। प्रतीयमानताका नाम ही ग्राह्यता है, और किसीके द्वारा ग्राह्य होना ही कर्म है। इसी तरह दूसरा पक्ष भी अनुभवविरुद्ध होनेके कारण अयुक्त है। क्योंकि 'घटादिको ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे विशिष्ट आत्माका मैं स्वयं अनुभव करता हूँ' यह अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको होता है। और इस अनुभवसे ज्ञानमें कर्मताकी सिद्धि होती है। अतः ज्ञानमें कर्मताकी असिद्धि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

तथा, यदि बुद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अविषय है तो मीमांसक उसकी सत्ता कैसे सिद्ध करते हैं—प्रत्यक्षसे अथवा अनुमानसे। प्रत्यक्षसे बुद्धिकी सत्ता सिद्ध करनेपर तो उन्हींके मतकी हानि होती है, क्योंकि मीमांसक यदि ऐसा मानते तो यह चर्चा ही क्यों उठायी जाती। यदि अनुमान प्रमाणसे बुद्धिका अस्तित्व सिद्ध करते हैं तो अनुमानकी उत्पत्ति लिंगसे होती है। किन्तु ज्ञानका अविनाभावी कोई लिंग (चिह्न) नहीं है। यदि है तो वह विषय है, इन्द्रिय है, मन है अथवा विज्ञान है? विषय[1], इन्द्रिय और मन तो लिंग हो नहीं सकते; क्योंकि ये ज्ञानके हेतु हैं इनके होनेपर ज्ञान हो ही, ऐसा कोई नियामक नहीं है। अतः ये हेतु व्यभिचारी भी हो सकते हैं। शायद कहा जाये कि अप्रतिबद्ध शक्तिवाले हेतुको ही लिंग मानते हैं, इसलिए व्यभिचार सम्भव नहीं है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब इन हेतुओंसे होनेवाले ज्ञानरूपी कार्यको हम देख नहीं सकते तब उन हेतुओंकी अप्रतिबद्ध शक्तिका ज्ञान हमें कैसे हो सकता है?

मीमांसक—आकाशमें चमकनेवाली बिजलीके अन्तिम क्षणका कोई कार्य देखनेमें नहीं आता। फिर भी यह हम जानते हैं कि वह कार्यका उत्पादक अवश्य है?

जैन—आपका कथन ठीक है, जहाँ सजातीय कार्यको उत्पन्न करनेकी बात है, वहाँ ऐसा ज्ञान होना सम्भव है, क्योंकि पूर्व क्षणसे उत्तर क्षणकी उत्पत्ति अवश्य होती है, अन्यथा उनकी सन्तान अवस्तु हो जायेगी। किन्तु जहाँ विजातीय कार्यको उत्पन्न करनेकी बात है, वहाँ इस प्रकारका ज्ञान होना सम्भव नहीं है;

१. न्या० वि० वि०, पृ० २०८।

क्योंकि ऐसे स्थानपर प्रायः विजातीय कार्यके अभावमें भी उसके उत्पादक हेतु रह सकते हैं। विषय, इन्द्रिय और मनका ज्ञानको उत्पन्न करना एक विजातीय कार्य है, अतः ज्ञानके विषयमें वे अप्रतिहत शक्ति कैसे हो सकते हैं ? अतः व्यभिचार-की सम्भावना होनेसे ज्ञानके विषयमें विषयादि लिंग नहीं हो सकते। इसके सिवा जो ज्ञानको परोक्ष मानता है, उसको कभी विषयादिका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानका बोध न होनेपर उसके विषयका बोध नहीं हो सकता। अकलंक-देवने कहा भी है—

"परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् ।।" ११ ।। —[न्या० वि०]

ऐसी स्थितिमें वे लिंग कैसे हो सकते हैं ?

ज्ञान भी लिंग नहीं हो सकता; क्योंकि परोक्षज्ञानवादी मीमांसकोंके लिए विज्ञान स्वयं ही असिद्ध है। और असिद्ध लिंग नहीं हो सकता।

इसी बातको अकलंक देवने कहा है—

"विषयेन्द्रिय-विज्ञान-मनस्कारादिलक्षणः ॥१६॥
अहेतुरात्मसंवित्तेरसिद्धेर्व्यभिचारतः ॥" – [न्या० वि०]

अर्थात् आत्मज्ञानके लिए विषय, इन्द्रिय, ज्ञान, मन वगैरह हेतु नहीं हो सकते क्योंकि ये असिद्ध हैं तथा व्यभिचारी हैं।

अथवा ज्ञानका अनुमान करनेके लिए यदि कोई लिंग मान भी लिया जाये तो विज्ञान और उस लिंगके अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान होना आवश्यक है। उसके बिना उस लिंगसे परोक्ष बुद्धिका अनुमान नहीं हो सकता। किन्तु ज्ञानके परोक्ष होते हुए उसका लिंगके साथ अविनाभाव सम्बन्ध जानना शक्य नहीं है। अतः अनुमानसे ज्ञानका परिज्ञान माननेवाले मीमांसकको ज्ञानका प्रत्यक्ष मानना चाहिए। जैसा कि अकलंक देवने कहा है—

"तावत्परत्र शक्तोऽयमनुमातुं कथं धियम् ॥१५॥
यावदात्मनि तच्चेष्टासम्बन्धं न प्रपद्यते ।" – [न्या० वि०]

अर्थात् जबतक यह परोक्षज्ञानवादी मीमांसक मेरी आत्मामें व्यवहार आदि चेष्टाएँ ज्ञानपूर्वक होती हैं, ऐसा प्रत्यक्षसे नहीं जानेगा तबतक वह दूसरोंमें व्यवहार आदि चेष्टाओंको देखकर उनके द्वारा दूसरोंमें बुद्धिका अनुमान कैसे कर सकता है ?

इसके अतिरिक्त जब मीमांसक आत्माका प्रत्यक्ष मानता है, तब उसकी क्रियाको सदा परोक्ष कैसे मान सकता है; क्योंकि जैसे स्वयं प्रकाशमान दीपककी प्रभारूप क्रिया परोक्ष नहीं होती, वैसे ही स्वयं प्रकाशमान आत्माकी ज्ञानरूप

क्रिया भी परोक्ष नहीं हो सकती। तथा, ज्ञान जब उत्पन्न होता है तो स्वानुभव विशिष्ट ही उत्पन्न होता है और अर्थ उसका विषयभूत होता है। तभी तो 'मैं अर्थको जानता हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। यदि ज्ञानको सर्वदा अनुमेय माना जायेगा तो यह प्रतीति नहीं हो सकती। अतः ज्ञानको परोक्ष न मानकर स्वसंविद्रूप ही मानना उचित है।

ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवाद

पूर्वपक्ष—नैयायिक[1] का मन्तव्य है कि ज्ञानको स्वसंविदित मानना अयुक्त है; ज्ञानको तो दूसरा ज्ञान ही जानता है; जैसे घट वगैरह प्रमेय होनेसे ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है। शायद यह आपत्ति दी जाये कि ईश्वरका ज्ञान भी प्रमेय है, किन्तु वह ज्ञानान्तरवेद्य नहीं है, अतः उससे उक्त कथनमें दोष आयेगा। किन्तु ऐसा कहना समुचित नहीं है, क्योंकि यह चर्चा हम लोगोंके ज्ञानके विषयमें हैं, ईश्वरज्ञानके विषयमें नहीं है। ईश्वरका ज्ञान हम लोगोंके ज्ञानसे विशिष्ट है। विशिष्टमें जो धर्म पाया जाता है, उसे साधारण ज्ञानमें भी मानना बुद्धिमानी नहीं है। अतः ईश्वरका ज्ञान तो अपनेको स्वयं ही जान लेता है, किन्तु हमारे ज्ञानको उसके अनन्तर होनेवाला दूसरा ज्ञान जानता है। शायद यह आपत्ति की जाये कि यदि अर्थज्ञान और उसका ज्ञान क्रमसे उत्पन्न होते हैं तो उसी क्रमसे उनका अनुभव होना चाहिए? किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है; क्योंकि यद्यपि ये दोनों ज्ञान क्रमसे ही होते हैं फिर भी ये दोनों सौ कमलके पत्तोंको ऊपर-नीचे रखकर एक साथ वेधनेकी तरह इतनी जल्दी होते हैं कि उसमें भेदकी प्रतीति नहीं हो पाती।

शायद कहा जाये कि यदि अर्थज्ञानका प्रत्यक्ष दूसरे ज्ञानसे होता है तो उस दूसरे ज्ञानका प्रत्यक्ष तीसरेसे होगा और तीसरेका प्रत्यक्ष चौथेसे होगा। इस तरह अनवस्था हो जायेगी। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अर्थज्ञानका दूसरे ज्ञानसे और दूसरेका तीसरे ज्ञानसे प्रत्यक्ष हो जानेसे काम हो जाता है, फिर चौथे आदि ज्ञानोंकी कल्पना निरर्थक होनेसे अनवस्था सम्भव नहीं होती। अर्थकी जिज्ञासा होनेपर अर्थका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और ज्ञानकी जिज्ञासा होनेपर ज्ञानका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यह बात प्रतीति सिद्ध है। इसके विरुद्ध जो लोग ज्ञानको स्वसंविदित मानते हैं उनसे हम पूछते हैं कि स्वसंवेदनसे क्या मतलब है—'स्व'के द्वारा संवेदनका नाम स्वसंवेदन

१. न्या० कु०, पृ० १८१। विधिवि० न्यायकणि०, पृ० २६७। प्रशस्त० व्योम० पृ० ५२९।

है अथवा स्वकीयके द्वारा संवेदनका नाम स्वसंवेदन है ? यदि स्वकीयके द्वारा संवेदनको स्वसंवेदन कहते हो तब तो हमें उसमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि स्वकीय उत्तर ज्ञानके द्वारा पूर्वज्ञानका संवेदन होता है, यह हम मानते ही हैं। हाँ, यदि 'ज्ञान स्वयं ही अपनेको जानता है' यह स्वसंवेदनसे मतलब है, तब तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं अपनेमें ही क्रियाके होनेमें विरोध है। कैसी ही तीक्ष्ण तलवार हो, क्या वह स्वयं अपनेको ही काट सकती है ? कैसा ही सुशिक्षित नट हो, क्या वह स्वयं अपने कन्धेपर चढ़ सकता है ? अतः 'ज्ञान स्वप्रकाशक है; क्योंकि वह अर्थका प्रकाशक है, जैसे दीपक' जैनोंका यह कथन अयुक्त है।

उत्तर पक्ष—[1]नैयायिकका कहना है कि हम लोगोंके ज्ञानको ही ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं, ईश्वरज्ञानको नहीं। तो इसपर प्रश्न यह है कि ईश्वरका ज्ञान स्वसंविदित है, यह आप किसी युक्तिके आधारपर मानते हैं अथवा यों ही मानते हैं ? यदि यों ही मानते हैं तब तो सभी दार्शनिकोंके अभिमत यों ही सिद्ध हो जायेंगे फिर उनमें विवाद उठाना ही व्यर्थ है। यदि युक्तिके आधारपर ईश्वरके ज्ञानको स्वसंविदित मानते हैं तो वह युक्ति क्या है—ईश्वरका ज्ञान अर्थको ग्रहण करता है इसीलिए वह स्वसंविदित है अथवा ज्ञान होनेसे वह स्वसंविदित है ? ये दोनों बातें हम लोगोंके ज्ञानमें भी पायी जाती हैं, अतः या तो दोनोंको ही स्वसंविदित मानना चाहिए या फिर किसीको भी स्वसंविदित नहीं मानना चाहिए।

नैया०—ईश्वरका ज्ञान हमारे ज्ञानसे विशिष्ट है। अतः वही स्वसंविदित है, हमारा ज्ञान नहीं। विशिष्ट वस्तुके धर्मको साधारण वस्तुमें मानना बुद्धिमानी नहीं है ?

जैन—तब तो ज्ञानपना और अर्थग्रहणपना भी ईश्वरज्ञानमें पाया जाता है अतः हमारे ज्ञानमें उनका भी निषेध करना पड़ेगा।

नैया०—इन दोनों धर्मोंके अभावमें तो कोई ज्ञान ज्ञान ही नहीं रहेगा; क्योंकि ज्ञानपना और अर्थग्राहकपना तो ज्ञानके स्वभाव हैं ?

जैन—जैसे इन दोनों धर्मोंके अभावमें ज्ञान ज्ञान नहीं रह सकता वैसे ही स्वसंविदित स्वभावके अभावमें भी ज्ञान ज्ञान नहीं रह सकता, वह भी ज्ञानका स्वभाव ही है। जैसे ईश्वरज्ञानमें ज्ञानत्व और अर्थग्राहकत्व धर्मोंकी तरह स्वसंविदितत्वके भी बिना ज्ञानपना नहीं है वैसे ही हम लोगोंके ज्ञानोंमें भी स्वसं-

---

१. न्या० कु०, पृ० १८३। प्रमेयक० मा०, पृ० १३२–१४६।

विदित माने बिना ज्ञानपना नहीं बन सकता। कोई भी स्वभाव एकदेशवर्ती नहीं होता। जैसे प्रकाशका स्वभाव स्व और परका प्रकाशन करना है, उसमें यह भेद नहीं है कि सूर्यके प्रकाशमें तो यह स्वभाव हो और दीपकके प्रकाशमें न हो। दोनोंमें ही स्वपरप्रकाशकपना समान रूपसे पाया जाता है।

नैया०—यदि ईश्वरज्ञानकी तरह हम लोगोंका ज्ञान भी स्वपरव्यवसायी है तो उसी तरह वह समस्त पदार्थोंका ज्ञाता भी हो जायेगा ?

जैन—यह आपत्ति अनुचित है। जैसे दीपक सूर्यकी तरह स्वपरप्रकाशक होते हुए भी समस्त पदार्थोंका प्रकाशन नहीं करता; किन्तु अपने योग्य नियत देशवर्ती पदार्थोंका ही प्रकाशन करता है, वैसे ही हम लोगोंका ज्ञान ईश्वरज्ञानकी तरह स्वपरव्यवसायी होते हुए भी अपने योग्य पदार्थको ही जानता है। सब ज्ञानोंकी योग्यता अपने-अपने ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार होती है। उसके बिना ज्ञानोंमें विषयग्रहणमें जो तारतम्य पाया जाता है, वह नहीं बनता। अतः स्वसंविदितत्वको लेकर ईश्वरज्ञान और हम लोगोंके ज्ञानमें भेद नहीं माना जा सकता। जैसे 'यह नील है' इस उल्लेखसे अर्थका ग्रहण होता है वैसे ही 'मैं' इस उल्लेखसे आत्माका ग्रहण होता है। नीलज्ञानसे आत्मज्ञान भिन्न कालमें नहीं होता। जिस समय नीलका ज्ञान होता है उसी क्षणमें स्पष्ट रूपसे आत्मसंवेदन भी होता है। अतः अर्थसंवेदन आत्मसंवेदनसे भिन्न नहीं है इसलिए अर्थका संवेदन होनेपर आत्मसंवेदन भी तत्काल हो जाता है। अतः 'अर्थज्ञानको उत्तरज्ञान जानता है' यह मान्यता गलत है। क्योंकि 'पहले अर्थज्ञान होता है और पीछे उस ज्ञानका ज्ञान होता है, इस प्रकारकी प्रतीतिका अनुभव नहीं होता। कहा गया है कि जैसे कमलके सौ पत्तोंको ऊपर नीचे रखकर सुईसे छेदनेपर कालका अन्तर प्रतीत नहीं होता वैसे ही यहाँ भी अन्तर प्रतीत नहीं होता। किन्तु यह कथन संगत नहीं है। कमलके पत्ते तो मूर्तिक हैं। अतः एक पुरुष-द्वारा मूर्तिक सूईसे मूर्तिक पत्तोंका छेद तो क्रमसे ही हो सकता है। किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है, स्वपरप्रकाशन स्वभाववाला है, अप्राप्त अर्थका भी प्रकाशक है। वह यदि एक साथ अपना और विषयका प्रकाशन करता है तो उसमें क्या विरोध है ?

नैया०—स्वात्मामें क्रियाका विरोध है।

जैन—स्वात्मामें ज्ञानकी किस क्रियाका विरोध है—उत्पत्तिरूप क्रियाका विरोध है, अथवा हलन-चलन रूप क्रियाका अथवा धात्वर्थरूप क्रियाका अथवा जानने रूप क्रियाका ? यदि उत्पत्ति रूप क्रियाका विरोध है तो हो, क्योंकि हम यह नहीं मानते कि ज्ञान स्वयं अपनेको उत्पन्न करता है ? उसकी उत्पत्ति तो अपनी सामग्रीसे होती है।

इसी तरह हलन-चलन रूप क्रिया भी हम ज्ञानमें नहीं मानते; क्योंकि ऐसी क्रिया तो द्रव्यमें होती है। धात्वर्थ रूप क्रिया दो प्रकारकी होती है—अकर्मक और सकर्मक। इनमें-से अकर्मक क्रिया तो स्वात्मामें होती ही है—जैसे 'वृक्ष खड़ा है'। यहाँ 'खड़ा' रूप क्रियाका कर्ता वृक्ष है, उसीमें यह क्रिया विद्यमान है। शायद कहा जाये कि इसमें हमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि वैसी प्रतीति होती है, तो 'ज्ञान प्रकाशित होता है' यहाँ भी प्रतीति होनेसे कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

नैया०—'ज्ञान अपनेको जानता है' यह सकर्मक क्रिया स्वात्मामें नहीं हो सकती क्योंकि कर्तासे कर्म जुदा होता है ?

जैन—तब तो 'आत्मा अपना घात करता है' 'दीपक अपना प्रकाशन करता है' इत्यादिमें विरोध उपस्थित होगा।

इसी तरह जानने रूप क्रियाका स्वात्मामें विरोध नहीं है यह भी समझ लेना चाहिए। स्वरूपके साथ किसीका विरोध नहीं हो सकता, अन्यथा दीपकका भी स्वपरप्रकाशकत्व रूप अपने स्वभावके साथ विरोध मानना पड़ेगा। अतः जैसे दीपक अपने कारणोंसे स्वपरप्रकाशन स्वभावको लेकर उत्पन्न होता है वैसे ही ज्ञान भी स्वपरव्यवसायी होकर ही जन्म लेता है। इसके विपरीत यदि यही माना जायेगा कि पूर्व ज्ञानको उत्तर ज्ञान जानता है तो ज्ञानके उत्पन्न करनेमें ही मन लगा रहेगा, अतः न कभी अर्थका ज्ञान हो पायेगा और न अर्थ-ज्ञानका; क्योंकि अर्थज्ञान-ज्ञानके अप्रत्यक्ष होनेपर अर्थज्ञानका और अर्थज्ञानके अप्रत्यक्ष होनेपर अर्थका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता, अन्यथा दूसरे मनुष्यके ज्ञानसे भी अर्थका प्रत्यक्ष हो जायेगा; क्योंकि हमारे लिए जैसे अपना ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, वैसे ही दूसरोंका ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है।

नैया०—अर्थकी जिज्ञासा होनेपर अर्थका ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञानकी जिज्ञासा होनेपर ज्ञानका। अतः अनवस्था दोष नहीं आता ?

जैन—जिज्ञासासे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। घोड़ेके अभावमें घोड़ेको देखनेकी इच्छा होनेपर भी घोड़ेका दर्शन नहीं होता और सामने गौके आ जानेपर गौको देखनेकी इच्छा न होते हुए भी गौका दर्शन हो जाता है। तथा ज्ञानको ज्ञानान्तरके द्वारा ग्राह्य माननेपर ज्ञान अज्ञान हो जायेगा, जैसे प्रकाशके लिए प्रकाशान्तरकी अपेक्षा होनेपर वह प्रकाश न कहा जाकर अप्रकाश ही कहा जायेगा। क्योंकि अपनी सिद्धिमें जो परकी अपेक्षा करता है वही तो जड़ है, अन्यथा फिर जड़ और अजड़में भेद ही क्या रहेगा। अतः ज्ञानको ज्ञानान्तरवेद्य न मानकर स्वसंविदित ही मानना उचित है।

ज्ञानका अचेतनत्व

पूर्वपक्ष—[1]सांख्यका मत है कि घट-पटकी तरह ज्ञान भी अचेतन है; क्योंकि वह भी प्रधानका ही परिणाम है। जो चेतन होता है वह प्रधानका परिणाम नहीं होता, जैसे आत्मा। किन्तु ज्ञान प्रधानका परिणाम है। सांख्य दर्शनमें कहा है कि जब प्रधान नामका तत्त्व जगत्की रचनामें लगता है तो सबसे प्रथम उससे एक व्यापक 'महान्' तत्त्वका जन्म होता है। यह महान् नामका तत्त्व विषयोंका अध्यवसाय कराता है। यह प्रलयकाल पर्यन्त स्थायी होता है। इस तत्त्वको हम नहीं जान सकते। इस तत्त्वसे प्रत्येक प्राणीकी बुद्धि निःसृत होती है। ये बुद्धियाँ दूसरे प्रमाणोंके द्वारा जानी जाती हैं। चूँकि बुद्धि जड़ है, अतः उसमें ज्ञानका उदय नहीं हो सकता। इसलिए अकेले न तो पुरुषमें और न बुद्धिमें अनुभवकी उपलब्धि होती है; किन्तु दोनोंके मेलसे होती है। जब इन्द्रियाँ पदार्थोंको बुद्धिके सामने उपस्थित करती हैं तो बुद्धि उस पदार्थके आकारको धारण कर लेती है। इतनेपर भी तबतक अनुभवका उदय नहीं होता जबतक बुद्धिमें चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित पुरुषका पदार्थोंसे सम्पर्क होनेका नाम ही ज्ञान[2] है। जबतक दर्पणके तुल्य बुद्धिमें पदार्थका आकार संक्रान्त नहीं होता तबतक पुरुषको उसका भान नहीं होता। कहा भी है—'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते।'—अर्थात् बुद्धिमें प्रतिबिम्बित अर्थका अनुभव पुरुष करता है। यह अनुभव बुद्धि तथा पुरुषके संयोगका परिणाम है। जैसे लोहेका गोला और आग पृथक्-पृथक् हैं किन्तु जब लोहेका गोला अग्निरूप हो जाता है तो मूढ़ पुरुष उन्हें (अग्नि और गोलेको) एक समझ लेता है। वैसे ही बुद्धि और चैतन्य पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु अचेतन भी बुद्धि चेतनके संसर्गसे चेतनकी तरह प्रतीत होती है। बुद्धिके अचेतन होनेसे उसमें पदार्थकी उपस्थिति होनेपर जो ज्ञान सुख आदि उत्पन्न होते हैं वे भी अचेतन ही हैं। अतः अचेतन ज्ञान स्वसंविदित नहीं हो सकता।

उत्तर पक्ष—जैनोंका[3] कहना है कि ज्ञान जड़का धर्म नहीं है, वह तो आत्माका धर्म है। आत्मा ज्ञान परिणामवाला है, चूँकि वह द्रष्टा है। जो ज्ञान परिणामवाला नहीं होता वह द्रष्टा भी नहीं होता, जैसे घर वगैरह। चूँकि आत्मा द्रष्टा है, अतः वह ज्ञानपरिणामवाला है।

---

१. न्या० कु०, पृ० १८९। सांख्यका० २२। सांख्य प्र० भा० १। ७१।

२. सांख्यका० ३६–३७। सांख्य प्र० भा० १। ८७।

३. न्या० कु०, पृ० १९१। प्रमेयक० मा० ९८–१०३।

सांख्य—यदि अनित्य ज्ञानको आत्माका परिणाम माना जायेगा तो आत्मा अनित्य ठहरेगा।

जैन—यदि अनित्य ज्ञानको प्रधानका परिणाम माना जायेगा तो प्रधान भी अनित्य हो जायेगा।

सांख्य—व्यक्त और अव्यक्त प्रधानमें अभेद होनेपर भी व्यक्त प्रधान ही अनित्य है, क्योंकि वह परिणाम रूप है, अव्यक्त प्रधान अनित्य नहीं है, क्योंकि वह परिणामी है?

जैन—तो ज्ञान और आत्मामें अभेद होनेपर भी ज्ञान ही अनित्य है, क्योंकि वह परिणाम है। आत्मा अनित्य नहीं है; क्योंकि वह परिणामी है। यदि आत्माको अपरिणामी माना जायेगा तो वह अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती और अर्थक्रियाकारी न होनेपर आत्माका अभाव हो जायेगा; क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुत्वका लक्षण है।

बुद्धिको प्रलय काल तक स्थायी और व्यापी मानना भी असंगत है; क्योंकि वह प्रधानका परिणाम है। जैसे पट प्रधानका परिणाम होनेपर भी न तो व्यापी है और न प्रलयकाल तक स्थायी है, वैसे ही बुद्धिको भी मानना चाहिए। शायद कहा जाये कि आकाश प्रधानका परिणाम होनेपर भी व्यापक और स्थायी है, इसी तरह बुद्धि भी है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आकाश भी प्रधानका परिणाम नहीं है। यदि उसे भी प्रधानका परिणाम माना जायेगा तो वह भी व्यापक और स्थायी नहीं हो सकता।

सांख्य—प्रधानका परिणाम होनेपर भी कोई परिणाम तो व्यापक और प्रलयकाल तक स्थायी होता है और कोई नहीं होता।

जैन—तो प्रधानका परिणाम होनेपर भी ज्ञानको स्वसंविदित और घटादिको अस्वसंविदित क्यों नहीं मान लेते? तथा, यह बुद्धिरूप परिणाम पहले-पहले प्रकृतिसे कैसे होता है? यदि स्वभावसे ही होता है तो जो स्वाभाविक होता है, वह अनित्य नहीं हो सकता। अतः बुद्धिरूप परिणाम सदा स्थायी रहेगा; क्योंकि स्वभाव सदा रहता है।

सांख्य—'मुझे आत्माके लिए भोगका सम्पादन करना चाहिए' इस भावसे प्रकृति 'महत्' आदि रूपसे परिणमन करती है?

जैन—प्रकृति तो जड़ है। उसमें इस प्रकारका अनुसन्धान नहीं हो सकता। बुद्धिवृत्तिके उत्पन्न होनेपर और उसमें चेतनकी छायाके पड़नेपर ही अनुसन्धान

होता है। सृष्टिकालके आरम्भमें 'मैं पुरुषके लिए प्रवृत्त होऊँ' यह अनुसन्धान किसे होगा; क्योंकि प्रकृति जड़ है और पुरुष उस समय तक अभिलाषासे शून्य है। इसके सिवा जैसे दर्पणमें मुख प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही पुरुषका बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होना ही चिच्छायासंक्रान्ति कहलाता है। किन्तु व्यापक पदार्थ किसीमें प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता, जैसे आकाश। उसी तरह आत्मा भी सांख्यदर्शनमें व्यापक है। अतः उसका बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होना सम्भव नहीं है। मुख अस्वच्छ होता है और दर्पण स्वच्छ होता है, अतः मुखका दर्पणमें प्रतिबिम्बित होना उचित है। किन्तु बुद्धि तो त्रिगुणात्मक होनेसे अत्यन्त मलिन है और पुरुष अत्यन्त निर्मल है। तब पुरुष बुद्धिमें प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है ? यदि होता भी हो तो हम उसे जान कैसे सकते हैं ? यदि जान लें तो प्रकृति और पुरुषका भेद ज्ञान होनेसे सब सदाके लिए मुक्त हो जायेंगे।

ऊपर कहा गया है कि चेतनके संसर्गसे अचेतन बुद्धि भी चेतनकी तरह प्रतीत होती है सो यहाँ संसर्ग शब्दका क्या अर्थ है—बुद्धिमें चेतनका प्रतिबिम्बित होना अथवा प्रकृतिका भोग्य और पुरुषका भोक्ता होना ? प्रथम पक्षकी आलोचना ऊपर की जा चुकी है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि पुरुष निरभिलाष है। पुरुषके निरभिलाष होनेपर प्रकृतिकी योग्यता और पुरुषकी भोक्तृता नहीं बनती क्योंकि सुख-दुःखकी अनुभूति रूप भोगके अभावमें भोग्य और भोक्तापना नहीं होता। बुद्धि और चैतन्यके लिए अग्नि और लोहेके गोलेका दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है। अग्नि और लोहेके गोलेमें भी परस्परमें भेद नहीं है; क्योंकि लोहेका गोला आगमें पड़कर अपने पूर्वरूपको छोड़ देता है और विशिष्ट रूप तथा स्पर्शको धारण करके अग्निरूप परिणत हो जाता है। इसी तरह यहाँ भी एक स्वपरप्रकाशक वस्तुका अनुभव होता है। उसमें किसी दूसरेका सद्भा नहीं मानना चाहिए। चैतन्य, बुद्धि, अध्यवसाय, ज्ञान, संवित्ति ये सब एक ही संविद्रूपकी पर्याय हैं। अतः बुद्धि ओर चैतन्यको जुदा मानकर ज्ञानको अस्वसंविदित मानना उचित नहीं है।

इस तरह जैन दर्शनमें ज्ञान चैतन्यस्वरूप है। अतः वह जैसे बाह्य पदार्थके उन्मुख होनेपर बाह्य अर्थको ग्रहण करता है वैसे ही अपने उन्मुख होनेपर अपनेको भी ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो तो 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकारकी प्रतीति नहीं हो सकती। भला कौन ऐसा समझदार व्यक्ति है, जो ज्ञानके द्वारा प्रतिभासित पदार्थका प्रत्यक्ष होना तो माने और ज्ञानका प्रत्यक्ष न माने ? जैसे प्रकाशका प्रत्यक्ष हुए बिना उसके द्वारा प्रकाशित अर्थका प्रत्यक्ष नहीं हो

सकता वैसे ही प्रमाणका प्रत्यक्ष हुए बिना उसके द्वारा प्रतिभासित अर्थका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः जैन दर्शनमें स्वपरप्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रामाण्य-विचार

प्रमाणके स्वरूपका विचार करते समय दार्शनिकोंमें यह भी विचार किया जाता है कि प्रमाणमें जो प्रामाण्य है वह कैसे उत्पन्न होता है और यह कैसे पता चलता है कि अमुक ज्ञान प्रमाण है और अमुक ज्ञान अप्रमाण है? अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः होती है या परतः होती है?

पूर्वपक्ष—मीमांसक स्वतःप्रामाण्यवादी है उसका कहना है—प्रमाणकी अर्थको जाननेरूप शक्तिको अथवा अर्थके जाननेरूप क्रियाको प्रामाण्य कहते हैं। वह प्रामाण्य ज्ञानमात्रको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे ही उत्पन्न होता है। उसके लिए उस सामग्रीके अतिरिक्त अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीका नाम स्वतःप्रामाण्य है।

तथा, अर्थको ज्योंका त्यों जान लेनेकी शक्तिका नाम प्रामाण्य है। और शक्तियाँ पदार्थोंमें स्वतः ही प्रकट होती हैं, वे उत्पादक कारणोंके अधीन नहीं हैं। कहा भी है—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते॥"

[मीमां० श्लो० २–४७]

अर्थात्—सब प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वतः ही होता है, क्योंकि जो शक्ति स्वयं अविद्यमान है, उसे कोई दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता।

आशय यह है कि कार्यमें वर्तमान जो धर्म कारणमें रहता है, वह कार्यकी तरह उस कारणसे ही उत्पन्न होता है। जैसे मिट्टीके पिण्डमें विद्यमान रूप आदि उससे उत्पन्न होनेवाले घटमें भी पाये जाते हैं। वे मिट्टीके पिण्डसे ही घटमें आते हैं। किन्तु जो धर्म कार्यमें पाये जायें और कारणमें न पाये जायें, वे धर्म कारणसे उत्पन्न नहीं होते, किन्तु स्वतः ही होते हैं। जैसे घटमें पानी भरकर लानेकी शक्ति है। यह शक्ति मिट्टीके पिण्डमें नहीं है। अतः यह शक्ति घटमें स्वयं प्रकट होती है। इसी तरह ज्ञानमें भी अर्थको ज्योंका त्यों जाननेकी शक्ति है। यह शक्ति ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले चक्षु आदि कारणोंमें नहीं पायी जाती, अतः यह उनसे उत्पन्न न होकर स्वयं प्रकट होती है। कहा भी है—

"आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत् ।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ।।"

[मीमां० श्लो० २-४८]

अर्थात्—पदार्थोंके उत्पन्न होनेमें ही कारणोंकी अपेक्षा होती है। जब वे उत्पन्न हो जाते हैं, तब अपने-अपने कार्योंमें स्वयं ही प्रवृत्ति करने लगते हैं।

अतः प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें गुण वगैरहकी अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह अर्थको जाननेरूप जो प्रमाणका कार्य है, उसमें भी प्रामाण्य ग्रहणकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि प्रमाणके प्रामाण्यका ग्रहण किये बिना भी उससे अर्थका बोध हो जाता है। किन्तु यदि संवादक ज्ञानसे, अथवा गुणोंके ज्ञानसे, अथवा अर्थक्रियाके ज्ञानसे प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय किया जायेगा तो अनवस्था आदि अनेक दोष आयेंगे। क्योंकि उक्त ज्ञानोंके द्वारा प्रथम ज्ञानमें प्रामाण्यका निश्चय करनेपर उन ज्ञानोंके प्रामाण्यका निश्चय अन्य संवादज्ञान, गुणज्ञान और अर्थक्रियाके ज्ञानसे करना होगा। यदि संवादज्ञान, गुणज्ञान और अर्थक्रियाज्ञानके प्रामाण्यका निश्चय अन्य संवादज्ञान वगैरहके बिना स्वतः ही हो जाता है तो प्रथम ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चय भी स्वतः ही करनेमें क्यों आपत्ति है? अतः प्रामाण्य स्वतः ही होता है।

[1]अप्रामाण्य परतः होता है; क्योंकि अप्रामाण्यकी उत्पत्ति ज्ञान सामान्यके उत्पादक कारणोंके अतिरिक्त दोष नामक कारणसे होती है, चक्षु वगैरहमें दोषके होनेसे ही ज्ञान अप्रमाण होता है। अप्रमाणके तीन भेद हैं—संशय, विपर्यय और अज्ञान। इनमें-से अज्ञान तो ज्ञानाभाव स्वरूप है, अतः वह स्वयं ही होता है, उसमें किसीकी अपेक्षा नहीं है। संशय और विपरीत ज्ञानके होनेमें ज्ञाताका भूखा आदि होना, मनका अस्थिर होना, इन्द्रियोंमें खराबी होना तथा पदार्थका चंचल आदि होना, ये सब दोष यथासम्भव कारण होते हैं। तथा जैसे प्रमाणका कार्य अपने विषयमें प्रवृत्ति कराना है, वैसे ही अप्रमाणका कार्य अपने विषयसे निवृत्ति कराना है। किन्तु जबतक ज्ञाताको यह ज्ञात नहीं हो जाता कि यह ज्ञान अप्रमाण है तबतक वह उसके विषयसे निवृत्त नहीं होता। अतः अप्रामाण्यकी उत्पत्तिकी तरह उसकी ज्ञप्ति भी परतः ही होती है।

शायद कहा जाये कि जैसे अप्रामाण्यकी उत्पत्ति दोषोंके कारण होती है वैसे ही प्रामाण्यकी उत्पत्ति भी गुणोंके कारण होती है, अतः प्रामाण्य भी परतः होता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रथम तो गुण ही असिद्ध हैं

१. मी० श्लो०, सूत्र २।

और यदि वे हों भी तो वे प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें कुछ भी नहीं करते। उनका[1] काम तो दोषोंको दूर करना मात्र है। पदार्थोंका स्वरूप ही ऐसा है कि वे जब उत्पन्न होते हैं तो अपने प्रतिपक्षीको हटाकर ही उत्पन्न होते हैं। गुण दोषोंके प्रतिपक्षी हैं, अतः गुणोंके द्वारा दोषोंके दूर हो जानेपर जब कारण स्वयं ही व्यापार करते हैं तो प्रमाण ज्ञानको ही उत्पन्न करते हैं। यदि ज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी उसमें स्वयं अपना कार्य करनेकी शक्ति नहीं आती, तो यही कहना होगा कि ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ। क्या यह बात प्रतीति विरुद्ध नहीं है कि अग्नि जब उत्पन्न होती है तो अप्रकाशक होती है पीछे उसमें अन्य कारणोंसे प्रकाशकपना आदि धर्म लाये जाते हैं ?

प्रमाणभूत ज्ञानको उत्पन्न करनेमें गुणोंका हाथ है ऐसा मान भी लिया जाये, फिर भी प्रामाण्य परतः नहीं होता; क्योंकि प्रामाण्यका मतलब हैं, 'बोधकपना' वह बोधकपना यदि ज्ञानके जन्मके साथ ही उसमें आ जाता है तो प्रामाण्य स्वतः ही हुआ कहलाया। इस प्रकार सभी ज्ञानोंमें बोधकत्व रूप प्रामाण्य स्वभावसे ही होता है। किन्तु उनमें-से जो ज्ञान दुष्ट कारणसे उत्पन्न होता है और जिसके मिथ्या होनेका प्रत्यय हो जाता है वह ज्ञान अप्रमाण[2] कहा जाता है। अतः अप्रामाण्यका निश्चय परतः ही होता है। यह मीमांसकका मत है।

उत्तर पक्ष—जैन[3] दर्शन मीमांसकके इस मतको ठीक नहीं मानता। उसका कहना है—मीमांसक कहता है कि अर्थको जाननेकी शक्तिका नाम प्रामाण्य है, तो क्या अर्थमात्रको जाननेकी शक्तिका नाम प्रामाण्य है अथवा जैसा अर्थ है उसी रूपमें उसे जाननेकी शक्तिका नाम प्रामाण्य है ? प्रथम पक्षमें संशय, विपर्यय आदि मिथ्या ज्ञानोंसे व्यभिचार आ जायेगा क्योंकि ये ज्ञान अप्रमाण हैं फिर भी अर्थ-मात्रको जाननेकी शक्ति उनमें भी है। दूसरे पक्षमें प्रामाण्य परतः सिद्ध होता है; क्योंकि ज्ञान सामान्यको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे यथार्थ वस्तुको जानने रूप प्रामाण्यकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु गुणयुक्त सामग्रीसे ही होती है।

मीमां०—गुणोंकी प्रतीति ही नहीं होती, तब कैसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति गुणों-से मान ली जाये ?

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है। सभी मनुष्योंको गुणोंकी प्रतीति होती है। चक्षु आदिमें पायी जानेवाली निर्मलता आदि, विषयमें पायी जानेवाली

१. मीमां० श्लो०, सूत्र २।

२. शाबरभा० १।१।५।

३. न्या० कु०, पृ० १९७–२०४। प्रमेयक० मा०, पृ० १४९–१७६।

निकटता, निश्चलता आदि, मनकी स्थिरता आदि, ज्ञाताकी स्वस्थता आदि और प्रकाशकी स्पष्टता आदि क्या गुण नहीं हैं ?

मीमां०—निर्मलता आदि तो चक्षुके स्वरूप हैं, गुण नहीं हैं। क्योंकि चक्षु निर्मलताके साथ ही उत्पन्न होती है, निर्मलताके बिना नहीं होती।

जैन—तब तो रूपादिको भी घटका गुण न कहकर स्वरूप कहा जायेगा; क्योंकि घट रूपादि सहित ही उत्पन्न होता है। तथा काच, कामल आदिको भी दोष नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि जो पुरुष जन्मसे तिमिररोगसे ग्रस्त होता है उसकी आँखें काच, कामल आदि रोगोंसे युक्त ही उत्पन्न होती हैं। किन्तु जन्मके साथ उत्पन्न होनेपर भी लोग रूपादिको घटका गुण और काच, कामल आदिको चक्षुका दोष ही मानते हैं।

तथा यदि मीमांसक चक्षु आदिमें गुण नहीं मानते तो उसमें हीनाधिकताका व्यवहार क्यों होता है ? अमुककी इन्द्रियाँ तेज हैं, अमुककी उससे भी तेज हैं, ऐसा व्यवहार सर्वत्र देखा जाता है। तथा जब 'गुण' कोई है ही नहीं तो 'गुणोंसे दोषोंका अभाव होता है' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

मीमां०—गुण नामकी कोई वस्तु नहीं है, दोषोंके अभावमात्रको गुण कहा जाता है।

जैन—इस तरहसे तो दोषोंका भी अभाव हो जायेगा; क्योंकि यह कहा जा सकता है कि गुणके अभावका ही नाम दोष है, दोष कोई वस्तु नहीं है। यदि निर्मलता गुण नहीं है और केवल मलके अभावका नाम है तो लोग उसे देखकर ऐसा क्यों कहते हैं कि—'यह आँख गुणवान् है। अंजन वगैरहके द्वारा चक्षुमें गुणातिशय लानेका प्रयत्न किया ही जाता है। यदि अंजनसे चक्षुमें गुणातिशय न होता तो व्याघ्र आदिके नेत्रके चूर्णको आँखमें आँजनेसे घोर अँधेरी रातमें भी दिखाई कैसे देता और जलजन्तु शिशुमारकी चर्बी आँजनेसे जलके अन्दरकी वस्तुएँ कैसे दिखाई देतीं।

मीमां०—गुण हैं तो, किन्तु वे दोषोंको दूर कर देते हैं, बस इतना ही उनका काम है, प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें वे कुछ भी नहीं करते। अतः प्रामाण्य स्वतः होता है।

जैन—इस तरहसे तो अप्रामाण्य भी स्वतः हो जायेगा; क्योंकि यह कहा जा सकता है कि दोष गुणोंको दूर कर देते हैं अप्रामाण्यको उत्पन्न नहीं करते। अतः या तो दोनोंको स्वतः मानना चाहिए या दोनोंको परतः मानना चाहिए।

हम ऐसा नहीं मानते कि जैसे वस्त्र तैयार होनेपर उसे रंग दिया जाता है, वैसे ही ज्ञानके उत्पन्न होनेपर पीछेसे उसमें अन्य कारणोंसे प्रामाण्य आता है। क्योंकि ऐसा माननेसे तो यह दोष दिया जा सकता है कि ज्ञान तो उत्पत्तिके बाद भी नष्ट हो जाता है तब फिर प्रामाण्य किसमें आता है? हमारा तो कहना है कि जैसे अर्थको कुछका कुछ जानने रूप अप्रामाण्य अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होता है वैसे ही अर्थको ज्योंका त्यों जानने रूप प्रामाण्य भी अपनी सामग्रीसे ही उत्पन्न होता है।

यदि यह मान भी लिया जाये कि प्रमाणका प्रामाण्य स्वतः होता है तो प्रश्न यह है कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति स्वतः होती है, अथवा ज्ञप्ति स्वतः होती है, अथवा स्वकार्यमें प्रवृत्ति स्वतः होती है? उत्पत्ति तो स्वतः नहीं होती। ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले कारण-कलापसे जुदे कारणोंसे ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रमाणको उत्पन्न करनेवाले कारण-कलापोंके होते हुए भी प्रामाण्य उत्पन्न नहीं होता।

तथा 'स्वतः'से आपका अभिप्राय क्या है? बिना कारणके स्वयं ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है यह अभिप्राय है, अथवा अपनी सामग्रीसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है यह अभिप्राय है। प्रथम अभिप्राय तो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे तो प्रामाण्य निर्हेतुक हो जायेगा। और निर्हेतुक होनेसे सदा सर्वत्र प्रामाण्य पाया जायेगा।

दूसरे अभिप्रायमें आत्मीय सामग्रीसे मतलब विशिष्ट सामग्रीसे है अथवा ज्ञान सामान्यको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे है? यदि विशिष्ट सामग्रीसे आप प्रामाण्यकी उत्पति मानते हैं तो हमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि सभी पदार्थ अपनी-अपनी विशिष्ट सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं। किन्तु यदि ज्ञान-सामान्यको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे ही प्रामाण्यकी उत्पत्ति मानते हैं तो संशय आदिमें भी प्रामाण्यकी उत्पत्ति होगी क्योंकि विज्ञान मात्रको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे संशय आदि ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं।

मीमा०—संशय आदि ज्ञान विज्ञान मात्रको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे उत्पन्न न होकर काच, कामल आदि दोषरूप अधिक सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं।

जैन—तो अधिक कारणोंके हो जानेसे संशय आदिमें अप्रामाण्य भी भले ही उत्पन्न हो जाये, किन्तु प्रामाण्य तो अवश्य ही उत्पन्न होगा; क्योंकि विज्ञान मात्रको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है और वह सामग्री संशय आदि ज्ञानमें भी मौजूद है।

मीमां०—दोषरहित सामग्रीसे ही प्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है, दोष-सहितसे नहीं।

जैन—तब तो प्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः ही हुई; क्योंकि विज्ञानको उत्पन्न करनेवाले कारणोंके अतिरिक्त दोषाभावरूप कारणसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है। और दोषाभाव विज्ञान मात्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि दोषाभावके बिना भी मिथ्याज्ञान होता है, किन्तु प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें दोषाभाव ही कारण है, क्योंकि दोषाभावके होनेपर प्रामाण्य उत्पन्न होता है और उसके नहीं होनेपर नहीं होता।

तथा, एक प्रश्न यह है कि दोष चक्षु वग़ैरहमें क्या कर देते हैं, जिससे उनके होनेपर प्रामाण्यकी उत्पत्ति नहीं होती ?

मीमां०—प्रामाण्यको उत्पन्न करनेकी शक्तिको नष्ट कर देते हैं।

जैन—तो चक्षु आदिकी जो शक्ति ज्ञान सामान्यको उत्पन्न करती है, क्या वही प्रामाण्यको भी उत्पन्न करती है, अथवा अन्य शक्तिसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है ? यदि उसीसे प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है तो उस शक्तिके नष्ट हो जानेपर चक्षुसे ज्ञानमात्रकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि प्रामाण्य अन्य शक्तिसे उत्पन्न होता है तो प्रामाण्य परतः क्यों नहीं हुआ कहलाया। अतः प्रामाण्यको उत्पत्ति स्वतः नहीं होती।

प्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी स्वतः नहीं होती। ज्ञप्तिका अर्थ है ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चय कि यह ज्ञान प्रमाण है। प्रामाण्यका निश्चय कदाचित् ही होता है, अतः वह बिना निमित्तके नहीं हो सकता। क्योंकि जो कादाचित्क होता है, वह बिना निमित्तके नहीं होता जैसे घर वग़ैरह। और जिसका निश्चय किसी अन्य निमित्तसे किया जाता है, वह स्वतः कैसे कहा जा सकता है ?

इसी तरह प्रमाणकी स्वकार्यमें प्रवृत्ति भी स्वतः नहीं होती। क्योंकि प्रमाणका कार्य पुरुषकी प्रवृत्ति है अथवा अर्थका परिच्छेद (जानना) है ? इनमें-से प्रमाण पुरुषकी प्रवृत्तिमें हेतु तभी हो सकता है जब उसके प्रामाण्यका निश्चय हो जाये। जैसे अप्रामाण्यका निश्चय हो जानेपर वह निवृत्तिमें हेतु होता है वैसे ही प्रामाण्यका निश्चय हो जानेपर प्रमाण प्रवृत्तिमें हेतु होता है। जो बुद्धिमान् होते हैं वे आवश्यकता होने मात्रसे ही किसी विषयमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। जैसे जरा और मृत्यु आदिको दूर करनेकी सामर्थ्य रखनेवाली महौषधिमें भी, यदि इस बातका निर्णय न हुआ हो कि उसमें अमुक सामर्थ्य है तो कितनी ही आवश्यकता होनेपर भी बुद्धिमान् उसका सेवन नहीं करते। अतः निश्चय हो जानेपर ही वस्तु-

धर्म प्रवृत्तिमें हेतु हुआ करते हैं। इसी तरह अर्थपरिच्छेद रूप स्वकार्यमें भी प्रमाणकी प्रवृत्ति बिना प्रामाण्यके निश्चयके नहीं होती। क्योंकि प्रमाणका कार्य अर्थका बोध करा देना मात्र नहीं है; क्योंकि यह कार्य तो अप्रमाण ज्ञानसे भी हो जाता है। अतः वस्तुका यथार्थ परिच्छेद कराना प्रमाणका कार्य है। और यह कार्य प्रामाण्यका निश्चय हुए बिना नहीं होता। क्योंकि प्रथम तो अर्थ मात्रका परिच्छेद होता है। इसके बाद जब प्रामाण्यका निश्चय हो जाता है कि यह ज्ञान प्रमाण है तब उसका परिच्छेद यथार्थ माना जाता है। शायद कहा जाये कि इस तरहसे प्रामाण्यका निश्चय माननेपर अनवस्था आदि दोष आयेंगे, किन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि अभ्यस्त विषयमें प्रामाण्यका निश्चय स्वतः हो जाता है। जैसे अपने ग्रामके जिस जलाशयको हम जन्मसे देखते आते हैं, और उससे पानी लेते हैं, उसके ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चय तत्काल ही हो जाता है। इसी तरह अभ्यस्त विषयमें यदि कहीं मिथ्या ज्ञान हो जाता है तो उसके अप्रामाण्यका निश्चय भी तत्काल स्वतः हो जाता है। अतः अभ्यास दशामें प्रामाण्य और अप्रामाण्यका निश्चय स्वतः होता है और अनभ्यास दशामें परतः होता है। क्योंकि किसी अपरिचित जगहमें जल ज्ञान होनेपर उसके प्रामाण्यका निश्चय मेढ़कोंकी 'टर्र टर्र'से, अथवा पानी भरकर आनेवाले स्त्री-पुरुषोंसे होता है, क्योंकि ये बातें पानीके अभावमें नहीं हो सकतीं। यहाँ अनवस्था दोषका भय भी नहीं है, क्योंकि 'मेढ़कोंकी टर्र टर्र' और पानी भरकर लानेवाले स्त्री-पुरुषोंका आवागमन जलके अविनाभावी हैं यह सब जानते हैं, अतः इनके निश्चयके लिए किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर मीमांसकने कहा है कि बोधकत्वका नाम ही प्रामाण्य है। सो बोधकत्वसे यदि 'अर्थमात्रका बोधकत्व' अभीष्ट है, तब तो मिथ्याज्ञान भी प्रमाण कहलायेगा; क्योंकि मिथ्याज्ञान भी अर्थ मात्रका बोधक होता है।

मीमां०—जिस ज्ञानके बाद उसका कोई बाधक उत्पन्न नहीं होता वह ज्ञान सच्चा होता है। मिथ्याज्ञानमें तो बाधक उत्पन्न हो जाता है, जो बतलाता है कि यह ज्ञान मिथ्या है। इसीसे हम अप्रामाण्यको परतः मानते हैं।

जैन—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब आप यह मानते हैं कि प्रामाण्य ज्ञानके स्वरूपका समकालभावी है तब परतः अप्रामाण्यके लिए अवकाश ही कहाँ है?

फिर अप्रामाण्यसे आपका क्या मतलब है—प्रामाण्यके अभावका नाम अप्रामाण्य है, अथवा अप्रामाण्य कोई वस्तुभूत धर्म है? प्रथम पक्षमें तो प्रामाण्यका

अभाव होनेसे ज्ञानका ही अभाव हुआ कहलाया; क्योंकि आप ज्ञानत्वको ही प्रामाण्य मानते हैं। दूसरे पक्षमें यह बतलाना चाहिए कि यदि अप्रामाण्य वस्तुभूत धर्म है तो वह क्या है? यदि संशय और विपर्ययका नाम अप्रामाण्य है तो ये दोनों तो ज्ञानात्मक हैं और ज्ञानत्वको ही आप प्रामाण्य मानते हैं। अतः ये दोनों तो अप्रामाण्यरूप हो नहीं सकते।

तथा जब आपके मतानुसार सभी ज्ञान आमतौरसे प्रमाण ही होते हैं तो उनमें संशय और विपरीतपना कैसे आता है? यदि वह ज्ञान सामान्यको उत्पन्न करनेवाले कारणोंके सिवा अन्य कारणोंसे आता है, तो उसी तरह यथार्थ वस्तुका निश्चय स्वरूप प्रामाण्य भी ज्ञान सामान्यको उत्पन्न करनेवाले कारणोंके सिवा अतिरिक्त कारणोंसे ही मानना चाहिए।

सारांश यह है कि ज्ञानपना एक सामान्य धर्म है जो प्रमाण ज्ञानमें भी रहता है और अप्रमाण ज्ञानमें भी रहता है। किन्तु प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये विशेष धर्म हैं जो ज्ञान मात्रमें नहीं रहते। जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसके प्रामाण्यका और अप्रामाण्यका निश्चय किया जाता है कि यह ज्ञान सच्चा है अथवा झूठा। प्रतिदिनकी वस्तुओंके ज्ञानकी सत्यता और असत्यताका निर्णय तो स्वयं ही तत्काल हो जाता है, किन्तु अपरिचित जगहमें जो वस्तुज्ञान होता है, इसके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका निश्चय अन्य कारणोंसे करना पड़ता है। जब ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चय हो जाता है तो आवश्यकतानुसार उसके विषयमें प्रवृत्ति की जाती है। यह तो हुआ प्रामाण्यकी ज्ञप्ति (निश्चय) के विषयमें जैन दर्शनका अभिमत। अब प्रश्न यह होता है कि ज्ञान जो सच्चा या झूठा होता है सो स्वयं ही होता है या अन्य कारणोंसे होता है। जैन दर्शनका कहना है कि जैसे ज्ञानके उत्पादक कारणोंमें दोष होनेसे अप्रमाण ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे ही ज्ञानके उत्पादक कारणोंमें गुण होनेसे प्रमाण ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः जैसे दोषोंसे उत्पन्न होनेके कारण अप्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः होती है वैसे ही गुणोंसे उत्पन्न होनेके कारण प्रामाण्यकी उत्पत्ति भी परतः ही होती है। इस बातको श्वेताम्बराचार्य देवसूरिने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्र ग्रन्थमें स्पष्ट रूपसे निबद्ध किया है। यथा—

"तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति। १-२१॥"

—अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः ही होती है। किन्तु ज्ञप्ति स्वतः और परतः होती है।

■

प्रमाणके भेद

जैनेतर दर्शनोंमें मीमांसक प्रमाणके छह भेद मानता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शाब्द (आगम), (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति और (६) अभाव। नैयायिक चार भेद मानता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शाब्द और (४) उपमान। सांख्य तीन भेद मानता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शाब्द। वैशेषिक और बौद्ध दो भेद मानते हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) अनुमान। तथा चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है।

जैन सम्मत दो भेद—जैन दर्शनमें प्रमाणके दो भेद किये गये हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। पहले बताया है कि प्रमाणकी चर्चा दार्शनिक युगकी देन है। इसीसे कुन्दकुन्दके प्रवचनसारमें ज्ञान और ज्ञेयकी चर्चा होनेपर भी प्रमाण और प्रमेय शब्द नहीं मिलते। अतः कुन्दकुन्दने ज्ञानके ही दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। किन्तु कुन्दकुन्दकी ही परम्परामें प्रवचनसारके पश्चात् रचे गये तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रग्रन्थमें, जो सम्भवतया इतर दर्शनोंके सूत्रग्रन्थोंसे प्रभावित होकर उस कमीकी पूर्तिके उद्देश्यसे रचा गया था, ज्ञानको ही प्रमाण बतलाकर, उसके दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किये हैं। यहींसे जैन दर्शनमें प्रमाणकी चर्चाका सूत्रपात हुआ है।

दार्शनिक युगके प्रभावसे पहले जैन सिद्धान्तमें ज्ञानके पाँच भेद पाये जाते हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। यही मौलिक जैन परम्परा है; क्योंकि प्रथम तो ये भेद जैन परम्पराके सिवा अन्य किसी भी परम्परामें नहीं हैं, दूसरे जैन कर्म सिद्धान्तमें ज्ञानको ढाँकनेवाले ज्ञानावरण कर्मके भी पाँच भेद इन्हीं भेदोंको आधार मानकर किये गये हैं। यथा—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। तत्त्वार्थसूत्रमें भी ज्ञानकी चर्चाको अवतरित करते हुए इन्हीं पाँच भेदोंका निर्देश करके पहले इन्हें प्रमाण बतलाया है। फिर प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंमें उन पाँचों ज्ञानोंका विभाजन करते हुए मति और श्रुतको परोक्ष प्रमाण तथा शेष तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाया है। यथा—

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।९।
तत्प्रमाणे ।१०।

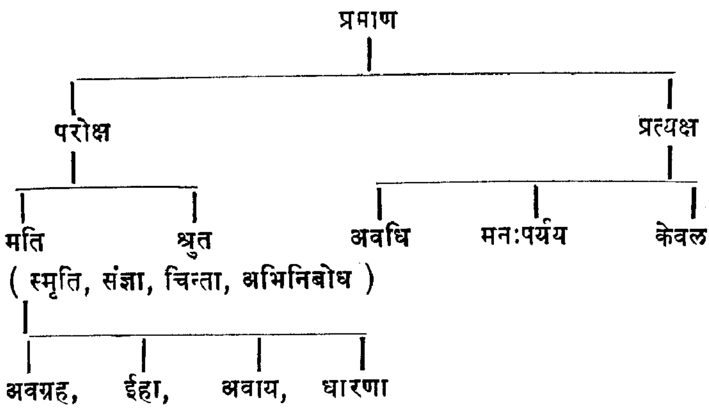
आद्ये परोक्षम् ।११।

प्रत्यक्षमन्यत् ।१२।"

—अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान ही प्रमाण हैं। इनमें-से आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इस तरह ज्ञानसम्बन्धी प्राचीन जैन परम्पराको निबद्ध करके सूत्रकारने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध नामक ज्ञानोंको अनर्थान्तर बतलाया। यथा—

"मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥"

और इस तरह उन्होंने अपने समयमें प्रचलित स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान प्रमाणोंका अन्तर्भाव मतिज्ञानमें करके जैन क्षेत्रमें दार्शनिक प्रमाण पद्धतिको स्थान दिया। इस प्रकार उस समय तक प्रमाणके भेदोंकी व्यवस्था इस प्रकार थी—



वह समय भारतवर्षके दार्शनिक अभ्युत्थानका समय था। दार्शनिक क्षितिज-पर नये-नये सितारे एकके बाद एक उगते थे और अपनी प्रभासे दर्शनशास्त्रका विकास करके अस्त हो जाते थे। समन्तभद्र, सिद्धसेन, वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्म-कीर्ति, शबर, कुमारिल, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद आदि प्रमुख दार्शनिकोंने भारतको अपने जन्मसे पवित्र किया। उनके पारस्परिक दार्शनिक संघर्षके फलस्वरूप सभी दर्शनोंका विकास हुआ और नयी-नयी गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न हुआ। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रकारने तार्किक परम्पराको मतिज्ञानमें अन्तर्भूत करके उत्तराधिकारियोंका मार्गदर्शन तो किया, किन्तु उससे प्रमाण पद्धतिकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकीं। सबसे सबल गुत्थी थी इन्द्रियजन्य ज्ञानको परोक्ष मानना। किसी भी दार्शनिकने इन्द्रियजन्य ज्ञानको परोक्ष नहीं माना, सब उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं। दूसरी गुत्थी थी परोक्षके भेदोंको लेकर। जैन तार्किकोंके सामने दूसरे

प्रतिवादियोंकी ओरसे बराबर यह प्रश्न होता था कि जैन अगर अनुमान आदि दर्शनान्तरमें प्रसिद्ध प्रमाणोंको परोक्ष प्रमाण मानते हैं तो उन्हें स्पष्ट करना चाहिए कि वे परोक्ष प्रमाणके कितने भेद मानते हैं और उनका सुनिश्चित लक्षण क्या है ?

अकलंकदेवने बहुत ही सुन्दर रीतिसे प्रमाणविषयक गुत्थियोंको सर्वदाके लिए सुलझा दिया। उन्होंने अपनी प्रमाण पद्धतिका आधार तो वही रखा जो तत्त्वार्थसूत्रकारने अपनाया था। तत्त्वार्थसूत्रके 'तत्प्रमाणे' सूत्रको आदर्श मानकर उन्होंने भी प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये, किन्तु प्रत्यक्षके सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्ष ये दो भेद किये, तथा इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाले मतिज्ञानको परोक्षकी परिधिमें-से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्षकी परिधिमें सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तनसे न तो प्राचीन जैन परम्पराको ही कोई क्षति पहुँची और विपक्षी दार्शनिकोंको भी नुक्ताचीनी करनेका स्थान नहीं रहा; क्योंकि प्राचीन जैन परम्परा इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु उसे सांव्यवहारिक अर्थात्[1] लौकिक प्रत्यक्ष नाम दे देनेसे न तो जैन परम्पराको ही क्षति थी और न विपक्षी दार्शनिक ही कुछ कह सकते थे, क्योंकि नामके कारण ही विवाद था, प्रत्यक्ष नाम दे देनेसे वह विवाद जाता रहा।

अब प्रश्न रहा—स्मृति आदि प्रमाणोंका। इन्हें[2] अकलंकदेवने सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें भी अन्तर्भूत किया और परोक्ष श्रुतज्ञानमें भी अन्तर्भूत किया। जबतक इनमें शब्दका संसर्ग न हो तबतक तो इन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना। इसके लिए उन्होंने सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके दो भेद किये—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्षमें तो मतिको स्थान मिला और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षमें स्मृति आदिको, क्योंकि उनमें मनका ही प्रधान व्यापार होता है। परन्तु यदि ये स्मृति आदि शब्द संसर्गको लिये हुए हों तो उनका अन्तर्भाव परोक्ष श्रुतज्ञानमें किया गया। (श्रुतज्ञानकी चर्चामें इसपर विशेष प्रकाश डाला जायेगा)। अकलंकने जो स्मृति आदि प्रमाणोंको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया, उसके मूलमें उनकी केवल एक ही दृष्टि थी और वह थी सूत्रकारका उन्हें मतिसे अनर्थान्तर

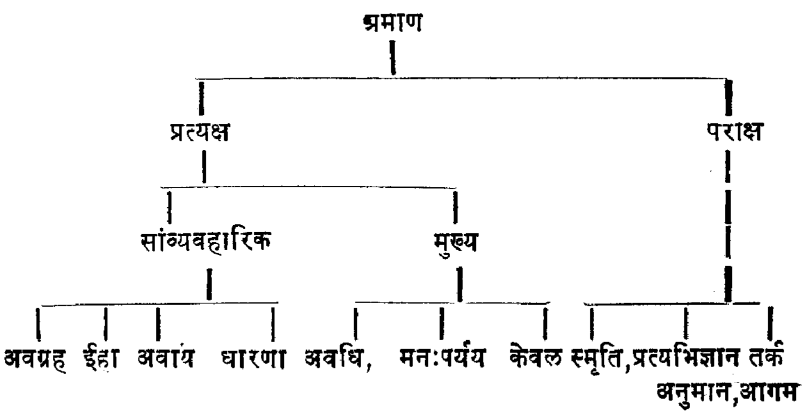
१. 'केवलं लोकबुद्धयैव मतेर्लक्षणसंग्रहः।'—न्यायवि०, ३-४७५।

२. 'ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्।
प्राङ्नाम योजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्॥ १०॥'—लघीय०।

बतलाना। अतः जब मतिज्ञानको इन्द्रियप्रत्यक्ष माना गया तो उसके सहयोगी स्मृति आदिको प्रत्यक्षके अन्तर्गत लेना ही चाहिए।

किन्तु अकलंक देवके ग्रन्थोंके प्रमुख टीकाकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्दको स्मृति आदिको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष मानना अभीष्ट नहीं हुआ। विद्यानन्दने अपनी प्रमाण परीक्षामें अकलंकके मतानुसार प्रत्यक्षके इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद तो किये किन्तु अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त ज्ञानको एक देश स्पष्ट होनेके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष माना तथा स्मृति आदिको परोक्ष ही माना। उत्तरकालीन जैन तार्किकोंने भी इन्द्रियजन्य ज्ञानको तो एक मतसे सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया किन्तु स्मृति आदिको किसीने भी अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना। और अकलंक देवने सूत्रकारके मतकी रक्षा करनेके लिए जो प्रयत्न किया था, वह सफल नहीं हो सका। किन्तु उनकी शुद्ध तार्किक प्रमाणपद्धतिको सबने एक स्वरसे अपनाया।

इस तरह अकलंकदेवके पश्चात् दोनों जैन सम्प्रदायोंके सभी आचार्योंने अपनी-अपनी प्रमाणविषयक रचनाओंमें कुछ भी फेर-फार किये बिना एक ही रीतिसे अकलंकदेवके द्वारा किये गये ज्ञानके वर्गीकरणको स्वीकार किया है। सभीने प्रत्यक्षके मुख्य और सांव्यवहारिक दो भेद करके मुख्यमें अवधि आदि तीन ज्ञानोंको और सांव्यवहारिकमें मतिज्ञानको लिया है। तथा परोक्षके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद करके उक्त प्रत्यक्षके सिवाय और सब प्रकारके ज्ञानोंको परोक्षके पाँच भेदोंमें-से किसी-न-किसी भेदमें गर्भित कर लिया है। जैनदर्शनमें प्रमाणके भेद निम्न प्रकारसे हैं--



इस तरह जैनदर्शनमें प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे मूल प्रमाण दो माने गये हैं। किन्तु चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है।

चार्वाकका एक प्रमाण

चार्वाकका कहना है कि प्रत्यक्ष नामक एक ही प्रमाण है; क्योंकि प्रमाण अगौण होता है। अर्थनिश्चायक ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, किन्तु अनुमानसे अर्थका निश्चय नहीं होता। दूसरे, व्याप्तिका ग्रहण होनेपर अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्षसे तो सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती अर्थको ही ग्रहण करता है, अतः वह समस्त पदार्थोंको लेकर व्याप्तिका ग्रहण करनेमें असमर्थ है। अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण सम्भव नहीं है; क्योंकि अनुमान व्याप्तिग्रहणपूर्वक होता है। अतः अनुमानसे व्याप्तिका ग्रहण माननेपर अनवस्था और इतरेतराश्रय नामक दोष आते हैं। अन्य कोई प्रमाण व्याप्तिका ग्राहक नहीं है। तब अनुमान प्रमाण कैसे सम्भव है। अतः एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

जैनोंका कहना[1] है कि चार्वाकका उक्त कथन विचारपूर्ण नहीं है। प्रत्यक्षकी तरह अनुमान भी अपने विषयमें अविसंवादक होनेसे प्रमाण है। अनुमानके द्वारा जाने हुए अर्थमें विसंवादका अभाव होता है। अनुमानको चार्वाक गौण क्यों मानते हैं, क्या उसका विषय गौण है या प्रत्यक्षपूर्वक होनेसे वह गौण है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षकी तरह अनुमानका भी विषय वास्तविक सामान्य विशेषात्मक वस्तु है। जैन बौद्धोंकी तरह कल्पित सामान्य रूप वस्तुको अनुमानका विषय नहीं मानते हैं। और यदि प्रत्यक्षपूर्वक होनेसे अनुमानको गौण कहते हैं, तो कोई-कोई प्रत्यक्ष भी अनुमानपूर्वक होता है, अतः वह भी गौण कहलायेगा; क्योंकि दूरसे अनुमानसे अग्निको जानकर जब मनुष्य अग्निके पास जाता है तो प्रत्यक्षसे अग्निको जानता है।

तथा हम व्याप्तिका ग्रहण तर्क नामक प्रमाणसे मानते हैं। तर्क प्रमाणके बिना तो आप यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्यक्षही प्रमाण है; क्योंकि वह अगौण है। दूसरी बात यह है कि अनुमान प्रमाणके बिना चार्वाक दर्शनवाले अतीन्द्रिय परलोक, आत्मा, स्वर्ग आदिका अभाव कैसे सिद्ध करेंगे। कहा भी है—

'प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥'

---

१. प्रमेयक० मा०, पृ० १७७-१८०।

प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वकी व्यवस्थासे, दूसरेकी बुद्धिको जाननेसे और परलोक आदिका निषेध करनेसे प्रत्यक्ष भिन्न प्रमाणान्तरका अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः चार्वाकका प्रत्यक्ष प्रमाणैकवाद ठीक नहीं है।

बौद्ध-सम्मत दो भेद

बौद्ध दो ही प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। उनका कहना है—"प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यम्"—प्रमेय दो प्रकारका होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका है। जैनोंका कहना है कि सामान्य विशेषात्मक अर्थ ही प्रमेय है और वही प्रमाणमात्रका विषय है। यदि अनुमानका विषय केवल सामान्य मात्र माना जायेगा तो उससे स्वलक्षण रूप अर्थोंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी; क्योंकि अन्य-विषयक ज्ञान अन्यमें प्रवृत्ति नहीं करा सकता। यदि ऐसा होगा तो घट-विषयक ज्ञान पटमें प्रवृत्ति करा देगा। यदि कहा जायेगा कि लिंगके द्वारा अनुमित सामान्यसे विशेषका बोध होता है और उससे उसमें प्रवृत्ति होती है तो लिंगसे ही विशेषका बोध क्यों नहीं मान लेते। शायद कहा जाये कि लिंगके अविनाभाव सम्बन्धकी प्रतिपत्ति सामान्यके साथ होती है, विशेषके साथ नहीं, जैसे धूमका अविनाभाव सम्बन्ध अग्नि सामान्यके साथ है तो यह बात तो सामान्यमें भी समान है—सामान्यके प्रतिबन्धकी प्रतिपत्ति विशेषोंके साथ नहीं है तब सामान्यसे विशेषोंका बोध कैसे हो सकता है। यदि प्रतिबन्धका बोध न होनेपर भी सामान्यसे विशेषोंका बोध हो सकता है तो विशेषोंके साथ लिंगका अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात होनेपर भी लिंगसे विशेषका बोध क्यों नहीं मान लेते।

बौद्धका कहना है कि प्रमेय भेद न भी रहे, किन्तु फिर भी आगम आदि प्रमाण अनुमानसे भिन्न नहीं हैं क्योंकि शब्द वगैरहसे सम्बद्ध परोक्ष अर्थका बोध होता है या असम्बद्धका? असम्बद्ध अर्थका बोध तो हो नहीं सकता, क्योंकि यदि ऐसा हो तो 'गो' शब्दसे भी अश्वका बोध हो जायेगा। यदि सम्बद्ध अर्थका ही बोध शब्दसे होता है तो वह शब्द लिंग रूप ही हुआ और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमान ही हुआ।

जैनोंका कहना है कि इस रीतिसे तो प्रत्यक्ष भी अनुमान ही ठहरता है; क्योंकि प्रत्यक्ष भी अपने विषयसे सम्बद्ध होकर ही उसका ज्ञान कराता है। यदि ऐसा न हो तो सभी प्रमाता सभी अर्थोंका प्रत्यक्ष कर सकेंगे। यदि कहा जायेगा कि यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही अपने-अपने विषयोंसे सम्बद्ध हैं तथापि दोनों भिन्न सामग्रीसे उत्पन्न होनेके कारण भिन्न हैं, तो इसी प्रकार आगम आदि प्रमाणोंको भी अनुमानसे भिन्न क्यों नहीं मानते, क्योंकि आगम प्रमाण शब्द रूप

सामग्रीसे उत्पन्न होता है। न तो वह प्रत्यक्ष रूप है, क्योंकि सविकल्पक और अस्पष्ट होता है और न अनुमान रूप है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति त्रैरूप्य लिंगसे नहीं होती। जैसे, 'जहाँ धूम होता है वहाँ अवश्य आग होती है' ऐसा धूम अग्निका अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे ज्ञाता धूमसे अग्निको जान लेता है। वैसे शब्दका अर्थके साथ अन्वय नहीं है कि जहाँ शब्द हो वहाँ अर्थ भी अवश्य हो। उदाहरणके लिए जहाँ पिण्डखजूर शब्द सुना जाता है वहाँ पिण्डखजूर नामक अर्थ भी हो ऐसा कोई नियम नहीं है और न शब्दकालमें अर्थ अवश्य रहता ही है। रावण, शंखचक्रवर्ती आदि शब्द तो वर्तमान हैं किन्तु रावण तो अतीत हो चुका और शंखचक्रवर्ती आगे होगा, अतः शब्दका अर्थके साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं है। इसलिए अनुमान प्रमाणसे शाब्द प्रमाण भिन्न ही है।

नैयायिक और मीमांसक सम्मत प्रमाण भेद

नैयायिक और मीमांसक उपमान नामका एक प्रमाण मानते हैं। दोनोंकी शैलीमें अन्तर हैं। इसका निरूपण तथा जैनोंके सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें उनका अन्तर्भाव आगे परोक्ष परिच्छेदमें बतलाया जायेगा।

मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द (आगम) और उपमानके अतिरिक्त अर्थापत्ति और अभाव नामक प्रमाण भी मानते हैं। उनका विवेचन और अन्तर्भाव आगे किया जाता है।

अर्थापत्ति नामक प्रमाणका विवेचन तथा अन्तर्भाव

मीमांसकका मत है कि अर्थापत्ति नामका एक स्वतन्त्र प्रमाण है। देखा या सुना गया जो अर्थ जिसके बिना नहीं हो सकता उस अदृष्ट अर्थकी कल्पनाको अर्थापत्ति कहते हैं। शाबर भाष्य (१।१।५) के इस कथनको स्पष्ट करते हुए कुमारिलने भी लिखा है—

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथा भवन्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥"

[मी० श्लो० अर्था० परि० श्लो० १]

अर्थात् प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंके द्वारा प्रसिद्ध जो अर्थ जिसके बिना नहीं हो सकता, उस अर्थकी कल्पना अर्थापत्ति है। अर्थापत्तिके अनेक प्रकार हैं। **प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति**—जैसे, प्रत्यक्षसे अग्निका दाह रूप कार्य देखकर उसमें दहनशक्तिकी कल्पना अर्थापत्तिसे की जाती है; क्योंकि अतीन्द्रिय होनेसे शक्तिको प्रत्यक्षसे नहीं जान सकते। और न अनुमानसे जान सकते हैं क्योंकि अनुमान-

की उत्पत्ति प्रत्यक्षसे जिसका अविनाभाव सम्बन्ध जान लिया गया है ऐसे लिंगसे होती है। किन्तु अर्थापत्तिका विषयभूत अर्थ कभी भी प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। **अनुमानपूर्वक अर्थापत्ति**—जैसे सूर्यमें गमनसे गमन करनेकी शक्तिकी कल्पना करना। वहाँ एक देशसे देशान्तरमें सूर्यको देखकर उसके गमनका अनुमान किया जाता है और उससे उसमें गमनशक्तिकी कल्पना की जाती है। **श्रुतपूर्वक अर्थापत्ति**—'मोटा देवदत्त दिनको भोजन नहीं करता' यह बात सुनकर यह कल्पना करना कि देवदत्त रात्रिमें भोजन करता है; क्योंकि भोजन किये बिना मुटापा नहीं हो सकता। **उपमानपूर्वक अर्थापत्ति**—जैसे, गवयके सादृश्यसे गौको जानकर यह कल्पना करना कि गौमें उपमान प्रमाणके द्वारा ज्ञात हो सकनेकी शक्ति है। **अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति**—जैसे शब्दमें अर्थापत्तिसे जानी गयी वाचक शक्तिसे अभिधानकी सिद्धिके लिए शब्दके नित्यत्वका ज्ञान। अर्थात् शब्दसे अर्थकी प्रतीति होती है, उससे उसकी वाचकशक्तिकी प्रतीति होती है और उससे भी शब्दकी नित्यताकी प्रतीति होती है। **अभावपूर्वक अर्थापत्ति**—जैसे अभाव प्रमाणसे घरमें चैत्र नामके व्यक्तिका अभाव जानकर यह कल्पना करना कि चैत्र कहीं बाहर गया है; क्योंकि जीवित होते हुए भी घरमें नहीं है। इस प्रकार अर्थापत्ति नामका एक प्रमाण[१] है। मीमांसकके मतसे अभाव नामका भी एक प्रमाण है। जैसे, 'इस भूतलपर घट नहीं है', यहाँ घटका अभाव—अभाव प्रमाणके द्वारा जाना गया है; क्योंकि कहा है–जिस[२] वस्तु रूपमें सद्भावग्राही पाँचों प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ वस्तुकी सत्ताको जाननेके लिए अभाव प्रमाण उपयोगी होता है। अभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे तो होता नहीं, क्योंकि वह अभावको विषय नहीं कर सकता। इन्द्रियोंका सम्बन्ध भावांशके ही साथ होता[३] है। न अनुमानसे अभावको जाना जा सकता है क्योंकि हेतुका अभाव है। शायद कहा जाये कि अभाव प्रमाणके विषयभूत अभावका अभाव होनेसे अभावप्रमाणकी मान्यता व्यर्थ है। किन्तु ऐसा माननेपर लोकप्रसिद्ध अभावके व्यवहारका ही अभाव हो जायेगा। यदि अभावको वस्तुरूप नहीं माना जायेगा तो उसके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव भेद नहीं हो सकते। अतः अर्थापत्तिसे अभाव वस्तुरूप सिद्ध होता है। यदि उक्त चारों प्रकारके अभावोंके व्यवस्थापक अभावप्रमाणको नहीं माना जायेगा तो प्रतिनियत वस्तु व्यवस्थाका

१. मी० श्लो० अर्था० परि० श्लो० ३-६।

२. मी० श्लो०, अभाव, श्लो० १।

३. वही, श्लो० १८।

लोप हो जायेगा।

शायद कहा जाये कि वस्तु तो निरंश है, अतः प्रत्यक्षसे वस्तुका सर्वात्मना ग्रहण होनेपर कोई अगृहीत असत् अंश शेष न रहनेसे उसके ग्रहण करनेके लिए अभाव प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वस्तु सदसदात्मक है उसमें-से प्रत्यक्ष आदिके द्वारा संदशका ग्रहण होनेपर भी अगृहीत असत् अंशको ग्रहण करनेके लिए अभाव प्रमाणको मानना आवश्यक है। अतः अर्थापत्तिकी तरह अभाव भी एक पृथक् प्रमाण[1] है।

अनुमानमें अर्थापत्तिका अन्तर्भाव

जैनोंका कहना है कि अर्थापत्तिका अनुमानमें अन्तर्भाव होता है। विशेष इस प्रकार है—प्रश्न यह है कि अर्थापत्तिका उत्थापक जो अर्थ जिस अदृष्ट अर्थकी परिकल्पनामें निमित्त होता है, उसका उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात होता है या नहीं। यदि नहीं ज्ञात होता है तो, जिसके बिना भी वह हो सकता है, उसकी भी कल्पना करा देगा, अथवा जिसके बिना वह नहीं होता है, उसकी भी कल्पना नहीं करा सकेगा, क्योंकि अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थके अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान नहीं होनेपर अदृष्ट अर्थकी परिकल्पना सम्भव नहीं है। यदि सम्भव हो तो जिसका अविनाभाव अनिश्चित है, ऐसे लिंगसे भी परोक्ष अर्थका अनुमान किया जा सकेगा और ऐसी स्थितिमें लिंगमें और अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थमें कोई भेद नहीं रहेगा।

यदि अर्थापत्तिका उत्थापक अर्थ जिस अदृष्ट अर्थकी कल्पनामें निमित्त होता है, उसका उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात होता है तो अर्थापत्ति और अनुमानमें कोई भेद नहीं रहता, क्योंकि अविनाभाव रूपसे जाने हुए एक सम्बन्धीसे दूसरेका बोध करना दोनोंमें ही समान है।

तथा अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थका अविनाभाव सम्बन्ध अर्थापत्तिसे ही जाना जाता है या अन्य प्रमाणसे। प्रथम पक्षमें अन्योन्याश्रय नामक दोष आता है, क्योंकि अविनाभाव रूपसे ज्ञात अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थसे अर्थापत्तिकी प्रवृत्ति होती है और अर्थापत्तिकी प्रवृत्ति होनेसे अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थके अविनाभाव सम्बन्धकी प्रतिपत्ति होती है। अतः [2]मीमांसकका यह कथन उचित नहीं है कि अर्थापत्तिमें अविनाभावरूपताका ज्ञान तत्काल हो जाता है।

---

१. प्रमेयक० मा०, पृ० १८७-१९२।

२. प्रमेयकमा०, पृ० १९३-१९५।

यदि अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थका अविनाभाव प्रमाणान्तरसे जाना जाता है तो वह प्रमाणान्तर क्या है,–पुनः-पुनः दर्शन या विपक्षमें अनुपलम्भ। प्रथमपक्ष तो इसलिए ठीक नहीं है कि शक्ति अतीन्द्रिय है, अतः उसका पुनः-पुनः दर्शन सम्भव नहीं है। दूसरे पक्षमें असत् हेतुका भी अपने साध्यके साथ अविनाभावका प्रसंग आयेगा। अतः अर्थापत्ति अनुमानसे भिन्न प्रमाण नहीं है।

अभावका प्रत्यक्ष आदिमें अन्तर्भाव

अभाव प्रमाणका प्रत्यक्षादिमें अन्तर्भाव होता है। विशेष इस प्रकार है–

अभाव प्रमाणवादीका मत है कि 'इस भूतलपर घट नहीं है, यहाँ निषेध्य घटके आधारभूत वस्तु भूतलके ग्रहण आदि सामग्रीसे अभाव प्रमाणकी उत्पत्ति होती है। सो यहाँ निषेध्य घटका आधारभूत भूतल प्रतियोगी घटसे संसृष्ट प्रतीत होता है या असंसृष्ट? पहला पक्ष अयुक्त है, क्योंकि यदि प्रत्यक्षसे प्रतियोगी घटसे संसृष्ट भूतलकी प्रतीति होती है तो घटका अभाव ग्रहण करनेके लिए अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि प्रवृत्ति होती है तो वह प्रमाण नहीं है; क्योंकि घटके रहते हुए भी वह उसके अभावको जाननेमें प्रवृत्त हो रहा है। दूसरे पक्षमें अभाव प्रमाण ही व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि प्रत्यक्षसे ही घटसे असंसृष्ट (रहित) भूतलकी प्रतीति हो जाती है। यदि कहा जाये कि 'भूतल प्रतियोगी घटसे रहित है' इसका ज्ञान अभाव प्रमाणसे होता है, तो वह अभाव प्रमाण भी प्रतियोगीसे असंसृष्ट अन्यवस्तुका ग्रहण होनेपर ही प्रवृत्त होगा और प्रतियोगीकी असंसृष्टताका ज्ञान पुनः अभाव प्रमाणके द्वारा ही होगा और ऐसा होनेपर अनवस्था दोष आयेगा।

अभावप्रमाणकी दूसरी सामग्री है [1]प्रतियोगीका स्मरण। तो वस्त्वन्तर भूतलसे संसृष्ट प्रतियोगीका स्मरण होता है या असंसृष्टका? यदि भूतलसे संसृष्ट प्रतियोगीका स्मरण होता तो अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्यक्षसे भूतल प्रतियोगी घटसे युक्त प्रतीत हो रहा है। यदि कहा जाये कि भूतलसे असंसृष्ट प्रतियोगीका स्मरण होता है तो प्रत्यक्षसे भूतलसे असंसृष्ट प्रतियोगीका ग्रहण होनेपर ही उस रूपमें घटका स्मरण हो सकता है अन्यथा नहीं, और ऐसा माननेपर अभाव प्रमाण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षसे भूतलसे सम्बद्ध प्रतियोगीके सद्भावका ग्रहण हो रहा है। और वस्तुमात्रका प्रत्यक्षसे

१. जिसका अभाव होता है उसे प्रतियोगी कहते हैं।

ग्रहण माननेपर प्रतियोगी और अप्रतियोगीका व्यवहार नहीं बन सकता।

तथा यदि अनुभूत वस्तुमें भी प्रतियोगीके स्मरणके बिना अभावकी प्रतिपत्ति नहीं होती तो अनुभूत प्रतियोगीका ही स्मरण होना चाहिए। और उसका अनुभव अन्यसे असंसृष्ट रूपसे मानना चाहिए। तथा उसकी भी अन्यसे असंसृष्ट रूपसे प्रतिपत्ति उससे अन्यत्र प्रतियोगीके स्मरणपूर्वक होगी। और आगे भी ऐसा ही होनेसे अनवस्था दोष आता है। यदि कहा जाये कि प्रतियोगी भूतलके स्मरणसे घटकी अन्यसे असंसृष्टताकी प्रतीति होती है और उसके स्मरणसे भूतलकी अन्यसे असंसृष्टताकी तो परस्पराश्रय दोष आता है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जबतक घटसे असंसृष्ट भूतल प्रतियोगीके स्मरणसे घटकी भूतलसे असंसृष्टताकी प्रतिपत्ति नहीं होगी तबतक भूतलसे असंसृष्ट घट प्रतियोगीके स्मरणसे भूतलकी घट-असंसृष्टताकी प्रतिपत्ति नहीं होगी, और जबतक भूतलकी घट असंसृष्टताकी प्रतीति नहीं होगी तबतक घट असंसृष्ट भूतलके स्मरणसे घटकी असंसृष्टताकी प्रतीति नहीं होगी। अतः परस्पराश्रय दोषसे बचनेके लिए अन्यप्रतियोगीके स्मरणके बिना ही भावांशकी तरह अभावांशका भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए। और ऐसा माननेपर यह कहना उचित नहीं है कि 'प्रत्यक्षसे अभावकी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि अभाव प्रत्यक्षका विषय नहीं है'।

अब प्रश्न रहता है अभावके भेदोंका, सो अपने कारणकलापोंसे पदार्थ अपने-अपने स्वभावमें व्यवस्थित ही उत्पन्न होते हैं और वे अपनेको अन्यसे मिलाते नहीं हैं। उनका स्वरूप अन्यसे व्यावृत्त होता है, उनसे भिन्न कोई अन्य अभावांश नहीं हैं। यदि हो तो वह अभावांश भी पररूप हुआ अतः पदार्थको उससे भी व्यावृत्त होना चाहिए। इस तरह अपरापर अभावकी परिकल्पनासे अनवस्था दोष आता है। अतः अभाव भावसे सर्वथा भिन्न नहीं है।

मीमां०—यदि अभावको अर्थान्तर नहीं माना जाता तो अभावमूलक व्यवहार कैसे बनेगा? आप जैन लोग घटसहित भूतलको घटाभाव कहते हैं या घटरहित भूतलको घटाभाव कहते हैं? प्रथम पक्षमें तो प्रत्यक्ष विरोध है। दूसरे पक्षमें तो नाममात्रका भेद है—घटरहित कहो या घटाभावविशिष्ट कहो एक ही बात है।

जैन—तो क्या भूतल घटाकार है कि जिससे 'घट नहीं है' ऐसा कहनेपर प्रत्यक्ष विरोध होता है? क्योंकि भूतल घटाकारसे रहित होनेसे घट नहीं ही है, यह सत्य है।

मीमां०—यदि भूतलसे घटाभाव अर्थान्तर नहीं है, तो घटसे युक्त भूतलमें

भी घट नहीं है ऐसा बोध होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः जैसे भूतल-से घट अर्थान्तर है वैसे ही घटाभाव भी अर्थान्तर है।

जैन—उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि घटमें कभी भी न पाये जानेवाले भूतलगत असाधारण धर्मोंसे युक्त भूतलको घटाभाव कहा जाता है किन्तु घटयुक्त भूतल घट और भूतलके संयोगरूप साधारणधर्मसे विशिष्ट होनेसे घटयुक्तरूपसे परिणमित है अतः 'भूतल घटरहित है' ऐसा उस समय नहीं कहा जा सकता।

अभावके चारों प्रकार भावान्तर स्वभावरूप है। जिसके अभावमें नियमसे कार्यकी उत्पत्ति होती है, उसे प्रागभाव कहते हैं। घटकी उत्पत्तिसे पूर्ववर्ती अनन्तर परिणाम विशिष्ट मिट्टी घटका प्रागभाव है। यदि प्रागभावको तुच्छाभाव रूप माना जायेगा तो गायके नियमसे एक साथ उत्पन्न होनेवाले दायें और बायें सींगोंके उपादानमें संकरताका प्रसंग आयेगा; क्योंकि तुच्छाभाव रूप प्रागभाव तो एक ही है। यदि कहा जायेगा कि जिस उपादान कारणमें जब जिस प्रागभावका अभाव होता है, उस उपादानकारणमें तब उस कार्यकी उत्पत्ति होती है, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि इसका यह प्रागभाव है यही नियम नहीं बनता।

प्रध्वंसाभाव भी भावस्वभाव ही है। जिसके होनेपर नियमसे कार्यका विनाश होता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। उसे यदि तुच्छ स्वभाव माना जायेगा तो घटके विनाशके लिए मुद्गर आदिका व्यापार व्यर्थ हो जायेगा। मुद्गरके व्यापारसे घटका प्रध्वंस भिन्न किया जाता है या अभिन्न? यदि भिन्न किया जाता है तो घट नष्ट हो गया, ऐसा प्रत्यय नहीं होना चाहिए। यदि कहा जायेगा कि विनाशके सम्बन्धसे ऐसा प्रत्यय होता है, तो विनाश और घटका क्या सम्बन्ध है? तादात्म्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि आप दोनोमें भेद मानते हैं। तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि घट विनाशका कारण नहीं है। उसका विनाश तो मुद्गर आदिके निमित्तसे हुआ है। यदि घट और मुद्गर दोनोंको ही उसका कारण माना जायेगा तो विनाशके बाद जैसे मुद्गर बना रहता है घट भी बना रहेगा। यदि कहा जायेगा कि घट अपने विनाशका उपादान कारण है इसलिए विनाशके बाद घटकी उपलब्धि नहीं होती। तो अभावको भावान्तर स्वभावरूप मानना होगा; क्योंकि घट भावान्तर कपालादिका ही उपा-दानकारण होता है, अतः मुद्गरके व्यापारसे घटसे भिन्न विनाश नहीं किया जाता। और घटसे अभिन्न विनाशके करनेपर तो मुद्गरने घटको किया यही कहा जायेगा, क्योंकि घट और विनाश अभिन्न है। अतः अन्धपरम्पराको त्यागकर

मुद्गरके व्यापारसे घटाकारसे रहित कपालरूप मृद्द्रव्यकी उत्पत्ति माननी चाहिए। अतः अभाव प्रमाणकी उत्पत्ति सामग्री तथा विषयका अभाव होनेसे उसे अलग प्रमाण मानना उचित[1] नहीं है।

इस तरह दर्शनान्तरोंमें माने गये प्रमाणोंका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो जानेसे प्रमाणके दो ही मूलभेद हैं। इसीसे आचार्य माणिक्यनन्दिने सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका लक्षण इस प्रकार किया है—

"इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥"

—[परीक्षामुख, २ परिच्छेद]

—अर्थात् इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाले एकदेश स्पष्ट ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन्द्रियके भेद

इन्द्रिय[2] के पाँच भेद हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र। इनमें-से प्रत्येक इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदसे दो-दो प्रकारकी होती हैं। इन्द्रियोंके बाह्य और आभ्यन्तर आकाश रूप परिणत पुद्गलोंको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें जो पुद्गलोंको कर्णशष्कुली आदि बाह्य रूपमें रचना है और जो कदम्ब गोलकके आकार रूप आभ्यन्तर रचना है वह सब द्रव्येन्द्रिय है। लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं। उसके निमित्तसे जो आत्माका जानने रूप विशेष परिणाम होता है, उसे उपयोग कहते हैं। इनमें-से लब्धिरूप भावेन्द्रिय तो स्व और अर्थको जाननेकी योग्यता रूप है और उपयोग रूप भावेन्द्रिय स्व और अर्थको जाननेमें व्यापार रूप है। बिना व्यापारके स्पर्शनादि इन्द्रिय स्पर्शादिको नहीं जान सकतीं।

शंका—उपयोग[3] तो इन्द्रियका फल (कार्य) है उसे इन्द्रिय क्यों कहा है ?

---

१. प्रमेय क० मा०, पृ० २०३-२१६।

२. पंचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥ द्विविधानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥ —तत्त्वार्थसूत्र, २ अध्याय।

३. इन्द्रियफलमुपयोगः। तस्य कथमिन्द्रियत्वम् ? कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात् यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति। स्वार्थस्य तत्र मुख्यत्वाच्च। इन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमिति यः स्वार्थः स उपयोगे मुख्यः, उपयोगलक्षणो जीव इति वचनात्। अत उपयोगस्येन्द्रियत्वं न्याय्यम्। —सर्वार्थसिद्धि अ० २, सू० १८।

समाधान—कारणका धर्म कार्यमें देखा जाता है। जैसे घटाकार ज्ञानको घट कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि इन्द्र अर्थात् आत्माके चिह्नको इन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि आत्मा तो सूक्ष्म है इन्द्रियके द्वारा ही उसका अस्तित्व जाना जाता है। इन्द्रिय शब्दका यह अर्थ उपयोगमें मुख्यतासे घटित होता है क्योंकि जीवका लक्षण उपयोग कहा है। अतः उपयोगको इन्द्रिय कहना उचित ही है।

इन दोनों इन्द्रियोंमें-से द्रव्येन्द्रिय अप्रधान है; क्योंकि द्रव्येन्द्रियके व्यापार करनेपर भी और प्रकाश आदि सहकारि कारणोंके होते हुए भी भावेन्द्रियके बिना स्पर्शादिका ज्ञान नहीं हो सकता।

इन्द्रियोंके सम्बन्धमें नैयायिकोंके मतकी समीक्षा

पूर्वपक्ष—अत्यन्त[1] भिन्न जातीय पृथिवी आदिसे अत्यन्त भिन्न जातीय चक्षु आदि इन्द्रियोंकी उत्पत्ति देखी जाती है अतः सब इन्द्रियोंको पौद्गलिक मानना युक्त नहीं है। [2]न्यायभाष्यमें लिखा है कि पृथिवीसे घ्राणेन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। जलसे रसनेन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। तेजसे चक्षु इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है और वायुसे स्पर्शन इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। इसीका समर्थन अनुमानसे करते हैं—घ्राण[3] इन्द्रिय पार्थिव है; क्योंकि वह रूपादिमें-से गन्धको ही अभिव्यक्त करती है। जो रूपादिमें-से गन्धको ही अभिव्यक्ति करता है वह पार्थिव होता है। जैसे हथेलीके द्वारा नागकेसरकी कर्णिकाको मलनेसे उसकी गन्ध व्यक्त होती है और हथेली पार्थिव है। उसी तरह घ्राण इन्द्रिय रूपादिके विद्यमान होते हुए भी गन्धको ही अभिव्यंजक है, अतः वह पार्थिव है। रसना इन्द्रिय जलीय है, क्योंकि वह रसको हो अभिव्यंजक है जैसे लार। चक्षु तैजस है क्योंकि वह रूपको ही अभिव्यंजक है, जैसे दीपक। स्पर्शन इन्द्रिय वायव्य है, क्योंकि वह केवल स्पर्शकी ही अभिव्यंजक है। जैसे वायु जलके शीत स्पर्शका हो व्यंजक है। और श्रोत्रको पौद्गलिक कहना तो अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि शब्द अपने समान जातीय विशेष गुणवाली इन्द्रियके द्वारा ही ग्राह्य होता है।

उत्तर पक्ष—उक्त[4] कथन ठीक नहीं है; क्योंकि पृथिवी आदि द्रव्यान्तर नहीं हैं अतः प्रत्येक इन्द्रिय पृथिवी आदिसे उत्पन्न नहीं हुई है। पृथिवी वगैरह द्रव्या-

---

१. न्या० कु० च०, पृ० १५६।

२. न्यायसू० १।१।१२। प्रशस्तपा०, पृ० २२। वैशे०, सू० ८।२।५,६।

३. न्या० वा० ता० टी०, पृ० ५३०। न्यायम०, पृ० ४८१।

४. न्या० कु० च०, पृ० १५७। प्रमेयक० मा०, पृ० ६२।

न्तर नहीं हैं, इसका समर्थन इस पुस्तकके दूसरे भागमें किया जायेगा। और जो ऊपर यह कहा गया है कि घ्राण पार्थिव है, सो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि उसके साधक हेतुमें सूर्यकी किरणोंसे तथा जलसिंचनसे व्यभिचार आता है; देखा जाता है कि तेल मर्दन करके धूपमें बैठनेपर सूर्यकी किरणोंके द्वारा गन्धकी अभिव्यक्ति होती है और मिट्टीपर जल सींचनेसे गन्धकी अभिव्यक्ति होती है। किन्तु न तो सूर्यकी किरणें पार्थिव हैं और न जलसिंचन ही।

इसी तरह रसनाको जलीय कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसकी सिद्धिमें जो हेतु दिया गया है उसमें लवण (नमक) से व्यभिचार आता है। क्योंकि लवण यद्यपि जलीय नहीं है किन्तु व्यंजनोंमें डालनेपर उनके रूपादिका व्यंजक न होकर रसका ही व्यंजक होता है। चक्षुको तैजस कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उसके साधक हेतुमें माणिक्य वगैरहके उद्योतसे व्यभिचार आता है। माणिक्य आदि रत्नोंका उद्योत रूपादिमें-से रूपका ही प्रकाशन करता है किन्तु वह तैजस नहीं है। स्पर्शन इन्द्रियको वायुकी कहना भी ठीक नहीं है उसके साधक हेतुमें कपूर वगैरहसे व्यभिचार आता है। पानी वगैरहमें रूपादिके होते हुए भी कपूर शीत स्पर्शका ही व्यजंक होता है, किन्तु वह वायव्य नहीं है। तथा जैसे वायुके स्पर्शका अभिव्यंजक होनेसे स्पर्शन इन्द्रियको वायुका कार्य मानते हो वैसे ही पृथिवी, जल और तेजके स्पर्शका अभिव्यंजक होनेसे स्पर्शन इन्द्रियके पृथिवी आदिके भी कार्य होनेका प्रसंग आता है। तथा जैसे तेजके रूपका अभिव्यंजक होनेसे चक्षुको तैजस मानते हो वैसे ही पृथिवी और जलमें रहवेवाले रूपका अभिव्यंजक होनेसे चक्षुके पृथिवी और जलका कार्य होनेका भी अनुषंग आता है, जैसे जलके रसका अभिव्यंजक होनेसे रसनाको जलीय मानते हो वैसे ही पृथिवीके रसका अभिव्यंजक होनेसे रसनाके पृथिवीका कार्य होनेका प्रसंग आता है। शब्दके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है वह भी ठीक नहीं है, आगे दूसरे खण्डमें शब्दके आकाशका गुण होनेका निषेध करेंगे। अतः इन्द्रियोंके किसी प्रतिनियत (निश्चित) भूतका कार्य होनेमें प्रमाणका अभाव है।

इन्द्रियोंके सांख्यसम्मत आहंकारिकत्वकी समीक्षा

सांख्य[1] एक प्रधान या प्रकृति नामके तत्त्वसे महत् तत्त्वकी अभिव्यक्ति मानता है और महत्तत्त्वसे अहंकारकी अभिव्यक्ति मानता है। [2]अहंकार या

१. न्या० कु० च०, पृ० १५७।

२. 'अभिमानोऽहंकारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। ऐन्द्रिय एकादशकः तन्मात्रा पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥–सांख्यकारिका।

अभिमानसे दो प्रकारका सर्ग प्रवर्तित होता है। एक-ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, स्पर्शनादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन) और एक-पाँच तन्मात्रा (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द)। इस तरह सांख्य इन्द्रियोंको आहंकारिक मानता है। किन्तु उसका ऐसा माननेमें प्रमाणका अभाव है और प्रमाणसे बाधा भी आती है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इन्द्रियाँ आहंकारिक नहीं हैं क्योंकि वे अचेतन होनेके साथ करण भी हैं जैसे बिसोला। अथवा इन्द्रियाँ आहंकारिक नहीं हैं, क्योंकि वे इन्द्रियाँ है जैसे कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, गुदा और मूत्रेन्द्रिय)। इसमें मनसे व्यभिचार नहीं आता क्योंकि द्रव्य मनको आहंकारिक नहीं माना है। भावेन्द्रिय और भाव मनसे भी व्यभिचार नहीं आता, क्योंकि हेतुमें 'अचेतन होनेके साथ' यह विशेषण दिया है भावेन्द्रियाँ तो चेतन हैं। सुखादिसे भी व्यभिचार नहीं आता, क्योंकि सुखादि करण नहीं हैं।

इन्द्रियाँ आहंकारिक नहीं हैं क्योंकि वे प्रतिनियत ज्ञानके व्यपदेशमें निमित्त हैं, जैसे रूपादि। अथवा इन्द्रियाँ आहंकारिक नहीं हैं क्योंकि वे प्रतिनियत विषयकी प्रकाशक हैं, जैसे दीपक। जैसे रूपज्ञान, रसज्ञान आदि प्रतिनियत ज्ञानके व्यपदेशमें हेतु होनेसे रूपादि आहंकारिक नहीं हैं वैसे ही चक्षु ज्ञान रसन ज्ञान आदि प्रतिनियत ज्ञान व्यपदेशमें हेतु होनेसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी आहंकारिक नहीं हैं।

इन्द्रियाँ आहंकारिक नहीं हैं क्योंकि पुद्गलोंके द्वारा उनका अनुग्रह और उपघात देखा जाता है, जैसे दर्पण वगैरह भस्मसे स्वच्छ हो जाते हैं और पत्थरसे टूट जाते हैं अतः वे आहंकारिक नहीं हैं किन्तु पौद्गलिक हैं, वैसे ही पौद्गलिक अंजन वगैरहसे चक्षु आदि इन्द्रियोंका अनुग्रह और उपघात देखा जाता है अतः वे भी पौद्गलिक हैं। मन भी आहंकारिक नहीं है क्योंकि उसका विषय अनियत है, जैसे आत्मा। अतः द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति प्रतिनियत इन्द्रियके योग्य पुद्गलोंसे माननी चाहिए। अतः इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं।

अर्थ और प्रकाशके ज्ञान कारणत्वकी समीक्षा

इस प्रकार इन्द्रिय और मनको ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण बतलाया है। किन्तु कुछ दार्शनिक अर्थ और प्रकाशको भी ज्ञानका कारण मानते हैं। उनको उत्तर देते हुए आचार्य माणिक्यनन्दिने लिखा है—

[1]नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥ तदन्वयव्यतिरेकानुविधाना-

---

१. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० २३१ आदि।

भावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ॥७॥'—परीक्षामुख २ परि०। अर्थ और प्रकाश ज्ञानमें कारण नहीं हैं क्योंकि वे ज्ञेय हैं, जैसे अन्धकार। अन्धकार ज्ञानका प्रतिबन्धक होनेसे ज्ञानका कारण नहीं है, फिर भी वह ज्ञानका विषय है।

शंका—अर्थ और प्रकाश ज्ञेय होते हुए भी यदि ज्ञानके कारण रहे आयें तो इसमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—यदि अर्थ और प्रकाशको ज्ञानका कारण माना जायेगा तो वे चक्षु आदिकी तरह ज्ञानके विषय (ज्ञेय) नहीं हो सकते।

तथा, ज्ञान अर्थका कार्य है, यह बात प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है या प्रमाणान्तरसे प्रतीत होती है। यदि प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है तो उसी प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है या प्रत्यक्षान्तरसे ? उसी प्रत्यक्षसे तो केवल अर्थका ही अनुभव होता है। यदि उसी प्रत्यक्षसे अर्थकी प्रतीति होनेके साथ-ही-साथ 'यह अर्थ ज्ञानका कारण है' ऐसी भी प्रतीति होती तो उसमें कोई विवाद ही नहीं होना चाहिए था। क्योंकि प्रमाणसे ज्ञात वस्तुमें विवाद नहीं देखा जाता। कुम्भकार वगैरह घटके कारण हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है। अतः वही प्रत्यक्ष तो इस बातको नहीं जानता कि मैं अर्थका कार्य हूँ। दूसरा प्रत्यक्ष भी नहीं जानता, उससे भी केवल पदार्थका ही प्रत्यक्ष होता है। यदि दूसरा प्रत्यक्ष यह जानता है कि ज्ञान अर्थका कार्य है तो प्रथम प्रत्यक्षके द्वारा इस बातको जाननेमें जो दोष ऊपर दिया गया है वही दोष यहाँ भी आता है। तथा द्वितीय प्रत्यक्ष ज्ञान ज्ञानान्तरको ग्रहण नहीं करता। शायद कहा जाये कि एक ही आत्मामें होनेवाला अनन्तर ज्ञान (द्वितीय ज्ञान) पूर्व अर्थज्ञानको ग्रहण करता है। किन्तु ऐसा माननेपर भी वह अनन्तर ज्ञान अर्थको नहीं जान सकता; क्योंकि दोनोंको (अर्थ और ज्ञान) विषय करनेवाला ज्ञान नहीं है अतः ज्ञान अर्थका कार्य है, यह वह नहीं जान सकता।

यदि 'ज्ञान अर्थका कार्य है' यह बात प्रमाणान्तरसे जानी जाती है तो वह प्रमाणान्तर ज्ञानको विषय करता है, या अर्थको विषय करता है अथवा ज्ञान और अर्थ दोनोंको विषय करता है ? आदिके दो विकल्पोंमें तो वह प्रमाणान्तर चूँकि एक ही अर्थ या ज्ञानको विषय करता है अतः वह नहीं जान सकता कि अर्थ और ज्ञानमें कार्यकारण भाव है। जैसे कुम्भकार और घटमें-से किसी एकको ग्रहण करनेवाला ज्ञान कुम्भकार और घटमें वर्तमान कार्यकारणभावको नहीं जानता। ज्ञान और अर्थ—दोनोंको जाननेवाले ज्ञानसे भी 'ज्ञान अर्थका कार्य है' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि आपने (नैयायिकने) हमारे-जैसे अल्पज्ञोंके

उस प्रकारका ज्ञान नहीं माना। ज्ञानको जाननेवाला ज्ञान अर्थको भी जानता है अथवा अर्थको जाननेवाला ज्ञान ज्ञानको भी जानता है ऐसी आपकी मान्यता नहीं है। यदि इस प्रकारका ज्ञान आप मानते हैं तो आपको एक पाँचवा प्रमाण मानना पड़ेगा।

नैयायिक—'ज्ञान अर्थका कार्य है' यह हम अनुमानसे जानते हैं जो इस प्रकार है—ज्ञान अर्थ और प्रकाशका कार्य है क्योंकि उनके साथ ज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है। जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह उसका कार्य होता है। जैसे अग्निका कार्य धूम है। ज्ञानका भी अर्थ और प्रकाशके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है। क्योंकि अर्थ और प्रकाशके होनेपर ही ज्ञान होता है और उनके नहीं होनेपर ज्ञान नहीं होता।

किन्तु नैयायिकका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानका अर्थ और प्रकाशके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। इस विषयमें हम उभय-प्रसिद्ध दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। जिस व्यक्तिकी आँखोंमें कामला रोग होता है उसको अर्थके अभावमें भी आकाशमें केश दिखाई देते हैं। अब प्रश्न यह है कि उस ज्ञानके होनेमें किसका हाथ है? केशोण्डुकका अथवा आँखकी पलकोंका, अथवा पलकोंके बालोंका अथवा कामला वगैरहका? पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि केशोण्डुकका ज्ञान केशोण्डुक रूप अर्थके होनेपर ही यदि होता हो तो उसे भ्रामक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यदि उस ज्ञानके होनेमें आँखकी पलकें कारण हैं तो पलकें ही दिखाई देनी चाहिए, तब उन पलकोंका आकाशमें, आगे स्थित रूपसे और केशोण्डुकके आकार रूपसे प्रतिभास नहीं होना चाहिए। यदि कहा जाता है कि आँखोंकी पलकोंके बाल ही सामने आकाशमें केशोण्डुक रूपसे प्रतिभासित होते हैं तो जिस कामला रोगीकी आँखोंकी पलकोंमें बाल नहीं है, उसे आकाशमें केशोण्डुकका ज्ञान नहीं होना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि यदि केशोण्डुक ज्ञानमें आँखोंके बालोंका हाथ है तो वे बाल आँखोंमें ही दिखाई देने चाहिए, आकाशमें नहीं। स्थाणु (ठूँठ) के निमित्तसे होनेवाली पुरुषकी भ्रान्ति स्थाणुमें ही देखी जाती है, अन्यत्र नहीं। यदि भ्रान्तिके कारण आँखोंके बाल ही आकाशमें केशोण्डुक रूपसे केशोण्डुकका ज्ञान उत्पन्न करते हैं तो चक्षु और मनसे रूपज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें ही क्या हानि है। जैसे आँखके बालोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान केशोण्डुकको ग्रहण करता है वैसे ही अर्थसे भिन्न इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अर्थको ग्रहण करता है।

यदि कामल आदि रोग केशोण्डुक ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है और उनसे

उत्पन्न हुआ ज्ञान असत् केशादिको जानता है तो निर्मल चक्षु और मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान सद् वस्तुको जानता है ऐसा क्यों नहीं मान लेते। ऐसी स्थितिमें ज्ञान अर्थका कार्य कैसे हो सकता है। क्योंकि ज्ञानको अर्थका कार्य माननेमें केशोण्डुक ज्ञानसे व्यभिचार आता है और संशयज्ञानसे भी व्यभिचार आता है।

संशयज्ञान अर्थके होनेपर ही होता है, ऐसी बात नहीं है यदि ऐसा हो तो वह अभ्रान्त कहा जायेगा। तथा संशयज्ञानके विषयभूत स्थाणु और पुरुष रूप दो अर्थ एक जगह रह भी नहीं सकते। यदि रह सकते होते तो संशय ही क्यों होता?

नैयायिक—सामान्यका प्रत्यक्ष होनेसे, विशेषका प्रत्यक्ष न होनेसे तथा दोनोंके विशेष धर्मोंका स्मरण होनेसे संशयज्ञान होता है। और विपर्ययज्ञान सामने स्थित सीपसे विपरीत चाँदीके विशेष धर्मोंका स्मरण होनेसे होता है। अतः संशय और विपर्ययज्ञान अर्थसे ही उत्पन्न होते हैं।

उक्त कथन ठीक नहीं है। इन दोनों ज्ञानोंका हेतु सामान्य है, विशेष है अथवा दोनों हैं? सामान्य तो हेतु हो नहीं सकता, क्योंकि सामान्यमें तो संशय आदिका अभाव है, सामान्यका तो प्रत्यक्ष हो जाता है और जिसका प्रत्यक्ष हो जाता है उसमें संशयादि कैसे हो सकते हैं? तथा संशय आदि ज्ञानोंका विषय विशेष है तब उसका जनक सामान्य कैसे हो सकता है। अन्यको विषय करनेवाले ज्ञानकी उत्पत्ति अन्यसे नहीं होती, अन्यथा रूपज्ञानकी रससे उत्पत्तिका प्रसंग आता है। और जैसे सामान्यसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान विशेषको जानता है वैसे ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान विद्यमान सामान्य आदिको भी जान लेता है तब अर्थको ज्ञानका कारण मानना व्यर्थ ही है।

यदि संशयज्ञान सामान्य अर्थसे उत्पन्न होता है तो आपने जो संशयको अर्थ और अनर्थजन्य माना है उससे विरोध आता है क्योंकि स्थाणु और पुरुषमें-से कोई एक जो सम्मुख विद्यमान होता है वह तो अर्थ है और जो विद्यमान नहीं होता वह अनर्थ है। उन दोनोंसे संशयज्ञानकी उत्पत्ति आपने मानी है। तथा यदि संशयादि ज्ञान सामान्य अर्थसे उत्पन्न होते हैं तो कामल रोगीको केशोण्डुकका ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि आकाशमें केशोण्डुक वगैरहके समान धर्मवाली कोई वस्तु वर्तमान नहीं है जिसे देखकर केशोण्डुकका ज्ञान हो। अतः संशयादि ज्ञानोंका हेतु सामान्य नहीं है।

विशेष भी उनका हेतु नहीं है क्योंकि सामने विशेषका अभाव है। यदि सामने स्थाणु पुरुषरूप विशेष अर्थ वर्तमान होता तो उसका ज्ञान अभ्रान्त

कहलाता। शायद कहा जाये कि सामने स्थाणु है तो उस स्थाणुसे क्या पुरुष है अथवा यह पुरुष ही है इस प्रकार पुरुष अंशका निश्चय कैसे हो सकता है ? यदि स्थाणुमें न रहनेवाले पुरुष रूप अंशका भी उससे निश्चय हो जाता है तो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले सत्य ज्ञानमें भी अर्थको कारण माननेकी कल्पना व्यर्थ ही है। अतः विशेष भी संशयादि ज्ञानका जनक नहीं है। और न सामान्य और विशेष दोनों ही संशयादि ज्ञानके जनक हैं क्योंकि ऐसा माननेपर दोनों पक्षोंमें जो दोष दिये गये हैं उन सब दोषोंका प्रसंग आता है। अतः जब संशयादि ज्ञान अर्थके अभावमें भी होते हैं तब अर्थके अभावमें ज्ञानके अभावकी सिद्धि कैसे हो सकती है जिससे ज्ञानको अर्थका कार्य माना जाये।

तथा, यदि ऐसा माना जाता है कि जो कारण होता है उसे ही ज्ञान जानता है तो योगिज्ञानसे पूर्वकालभावी पदार्थोंको ही योगिज्ञान जान सकेगा क्योंकि वे ही उसके कारण हो सकते हैं, जो पदार्थ उसी समय उत्पन्न हो रहे हैं अथवा भविष्यमें उत्पन्न होंगे उन्हें नहीं जान सकेगा क्योंकि वे उस योगिज्ञानके कारण नहीं हैं। जो आत्मलाभ कर लेता है वही किसीका कारण होता है, अन्य नहीं। यदि जिसने आत्मलाभ नहीं किया है उसे भी कारण माना जाता है तो खर-विषाण भी किसीका कारण हो जायेगा। वर्तमान और भावी पदार्थ ज्ञानके कारण नहीं होते हुए भी यदि योगिज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं तो हमारा ज्ञान भी ज्ञानके अकारणभूत अर्थोंको जान सकता है। और यदि योगिज्ञानवर्तमान और भावी अर्थोंको नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

तथा अर्थ यदि क्षणिक है तो ज्ञानके कालमें अर्थका अभाव होनेसे ज्ञान अर्थको कैसे जान सकता है।

जो ज्ञानका कारण अर्थ होता है वही ज्ञानके द्वारा जाना जाता है, ऐसा माननेवाले वादी अर्थकी उत्पद्यमानताको कैसे जान सकते हैं ? अर्थकी उत्पद्य-मानताकी प्रतीति उत्पद्यमान अर्थके समकालभावी ज्ञानके द्वारा होती है, या पूर्वकालभावी ज्ञानके द्वारा होती है अथवा उत्तरकालभावी ज्ञानके द्वारा होती है ? समकालभावी ज्ञानके द्वारा तो हो नहीं सकती क्योंकि समकालभावी ज्ञान उत्पद्यमान अर्थका कार्य नहीं है। पूर्वकालभावी ज्ञानके द्वारा भी अर्थकी उत्पद्यमानताकी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि उस कालमें अर्थकी उत्पद्य-मानताका अभाव है। और जिसका अभाव है उसे ज्ञान जान नहीं सकता क्योंकि वह उस ज्ञानका कारण नहीं है। उत्तरकालभावी ज्ञान भी अर्थकी उत्पद्य-मानताको नहीं जान सकता क्योंकि उस कालमें वह नष्ट हो जाती है। सारांश

यह है कि अर्थसे पूर्वकालभावी ज्ञानके समयमें अर्थकी उत्पद्यमानता नहीं है किन्तु उत्पत्स्यमानता है और उत्तरकालभावी ज्ञानके समयमें उत्पन्नता है, उत्पद्यमानता नहीं है।

जो ईश्वरके ज्ञानको नित्य मानते हैं, उनके मतसे भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञान अकारणभूत अर्थको जानता है। उसी तरह हमारा ज्ञान भी अकारणभूत अर्थको यदि जाने तो क्या हानि है ?

अतः ज्ञानका अर्थके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे ज्ञान अर्थका कार्य सिद्ध नहीं होता।

प्रकाशके ज्ञानकारणत्वकी समीक्षा

ज्ञान प्रकाशका भी कार्य नहीं है क्योंकि जिनकी आँखें अंजन वगैरहसे संस्कृत होती हैं उन्हें तथा बिल्ली वगैरहके प्रकाशके अभावमें भी ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है।

शंका—यदि प्रकाश ज्ञानका कारण नहीं है तो हमें अन्धकारमें भी ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः प्रकाशके होनेपर ज्ञान होता है और प्रकाशके नहीं होनेपर ज्ञान नहीं होता। इसलिए ज्ञान प्रकाशका कार्य है। यदि प्रकाश और ज्ञानमें अन्वय-व्यतिरेक होनेपर भी कार्यकारण भाव नहीं माना जाता है तो धूम और आगमें भी कार्यकारण भावका व्यवस्थापक कोई दूसरा नहीं है।

समाधान—यदि अन्धकार अवस्थामें ज्ञान नहीं होता तो अन्धकारका ज्ञान कैसे होता है ? यदि ज्ञानके बिना भी अन्धकारकी प्रतीति हो सकती हैं तो अन्य अर्थोंकी प्रतीति भी ज्ञानके बिना हो जायेगी। और ऐसी अवस्थामें ज्ञानकी कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी। अन्धकारकी प्रतीति भी हो और ज्ञान न हो यह तो स्ववचनविरोध है क्योंकि प्रतीतिका ही नाम ज्ञान है।

पूर्वपक्ष—अन्धकार नामक कोई पदार्थ ही नहीं है जो ज्ञानका विषय हो। लोकमें तो ज्ञानके उत्पन्न न होनेको ही अन्धकार कहते हैं।

उत्तर—तब तो प्रकाशका भी अभाव हो जायेगा क्योंकि स्पष्ट ज्ञानके सिवाय प्रकाश अन्य कुछ नहीं है। लोकमें स्पष्ट ज्ञानको उत्पत्तिको ही प्रकाश कहते हैं।

पूर्वपक्ष—प्रकाशके अभावमें ज्ञानमें स्पष्टता कैसे आ सकती है ?

उत्तर—प्रकाशके अभावमें भी बिलाव वगैरहको रूपका और हम लोगोंको रसादिका स्पष्ट ज्ञान होता है।

तथा प्रकाशको विषय करनेवाले ज्ञानमें जो स्पष्टता पायी जाती है वह स्पष्टता प्रकृत ज्ञानके विषयभूत प्रकाशसे आती है, या प्रकाशान्तरसे आती है, या किसी अन्य कारणसे आती है? यदि किसी अन्य कारणसे आती है तो स्पष्टता प्रकाशकृत नहीं हुई। यदि वह स्पष्टता अन्य प्रकाशसे आती है तो उस अन्य प्रकाशको विषय करनेवाले ज्ञानमें स्पष्टता अन्य प्रकाशसे आयेगी और इस तरह अनवस्था दोष आता है। यदि प्रकृत ज्ञानमें प्रकृत ज्ञानके विषयभूत प्रकाशसे ही स्पष्टता आती है तो ज्ञानमें स्पष्टता अपने विषयसे ही आती है यही कहा जायेगा। ऐसी स्थितिमें घटादिके ज्ञानमें स्पष्टता घटादिसे ही माननी चाहिए।

पूर्व०—घटादि चमकदार नहीं होते, अतः उनसे ज्ञानमें स्पष्टता नहीं आती।

उत्तर०—तब तो घोर अँधेरी रातमें बिलाव आदिके ज्ञानमें स्पष्टताके अभावका प्रसंग आता है।

पूर्व०—तो फिर दीपक वगैरहका ग्रहण व्यर्थ ठहरता है क्योंकि उनके बिना ज्ञान उत्पन्न होता है।

उत्तर०—दीपकका ग्रहण व्यर्थ नहीं है क्योंकि अंजनादिकी तरह दीपकके द्वारा अन्धकारका पटल दूर हो जानेसे विषयमें तो ग्राह्यता रूप विशेषकी उत्पत्ति होती है और इन्द्रिय तथा मनमें उस ज्ञानके जनकत्व रूप विशेषकी उत्पत्ति होती है। किन्तु इससे प्रकाशको ज्ञानका कारण नहीं माना जा सकता, अन्यथा परदा हटानेवाले हस्तादिको भी ज्ञानका कारण मानना होगा। अतः जैसे ज्ञानके उत्पन्न न होनेका नाम ही अन्धकार है वैसे ही स्पष्ट ज्ञानकी उत्पत्तिके सिवाय प्रकाश भी अन्य कोई वस्तु न ठहरेगा।

पूर्व०—इस प्रदेशमें बहुत प्रकाश है और उसमें मन्द प्रकाश है, ऐसा लोकव्यवहार देखा जाता है अतः प्रकाश स्पष्ट ज्ञानोत्पत्तिसे भिन्न वस्तु है।

उत्तर०—तो गुफा वगैरहमें घना अन्धकार है और अन्यत्र मन्द अन्धकार है क्या ऐसा लोकव्यवहार नहीं होता? यदि यह लोकव्यवहार झूठा है तो प्रकाश-सम्बन्धी उक्त व्यवहार कैसे सच्चा माना जा सकता है।

अतः अर्थ और आकाश ज्ञानके कारण नहीं हैं।

१. मतिज्ञान अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

आचार्य कुन्दकुन्दने कहा[1] है कि—'परकी सहायतासे जो पदार्थोंका ज्ञान होता

१. प्रवच०, गा० ५६–५८, अ० १।

है वह परोक्ष है। और परकी सहायता बिना केवल आत्माके द्वारा जो पदार्थोंका ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है।' अब प्रश्न होता है कि वह 'पर' कौन है? कुन्द-कुन्द कहते हैं—'इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं क्योंकि वे स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द-को विषय करती हैं और ये सब जड़ हैं। अतः द्रव्येन्द्रियाँ जड़स्वरूप हैं, जब कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है। इसलिए 'पर' इन्द्रियोंके द्वारा जाना हुआ पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वह तो परोक्ष ही है।

आचार्य पूज्यपाद लिखते[1] हैं—'पर' अर्थात् इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश, उपदेश आदि बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, क्योंकि सूत्रकारने इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान-को मतिज्ञान कहा है और श्रुतज्ञानको मतिपूर्वक कहा है। [2]अकलंकदेवने स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष और अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहा है। चूँकि चक्षु आदि इन्द्रियोंके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान एकदेशसे स्पष्ट होता है इसलिए वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। आचार्य विद्यानन्दने [3]तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें सूत्रकार और अकलंक-देवके कथनकी एकरूपताको सुन्दर रूपसे घटित किया है और बतलाया है कि—'अकलंकदेवके कथनसे सूत्रकारके कथनमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि अकलंकदेवने अक्ष—आत्मासे होनेवाले अतीन्द्रिय ज्ञानको ही मुख्य प्रत्यक्ष कहा है। इस दृष्टिसे इन्द्रिय और मनसे होनेवाला मतिज्ञान परापेक्ष होनेसे परोक्ष ही है। किन्तु उसमें कुछ स्पष्टता पायी जाती है और लोकव्यवहारमें उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है इसलिए उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।'

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा मतिज्ञानके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। वस्तुके साथ इन्द्रियका सम्पर्क होनेके बाद जो अर्थका ज्ञान होता है उसे अवग्रह कहते हैं। आशय[4] यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियों और घटादि पदार्थोंका सम्पर्क होते ही प्रथम दर्शन होता है। यह दर्शन सामान्यको ग्रहण करता है। पीछे वही दर्शन वस्तुके आकार आदिका निर्णय होनेपर अवग्रह ज्ञान रूप परिणत हो जाता है। अवग्रहके भी दो भेद हैं—एक व्यंजनावग्रह और एक अर्थावग्रह। अस्पष्ट ग्रहणको व्यंजनावग्रह कहते हैं और स्पष्ट ग्रहणको अर्थावग्रह

१. सर्वार्थ०, पृ० ११११।
२. लघीयस्त्रय, का० ३।
३. पृ० १८२, का० १८१–१८३।
४. न्या० कु० च०, पृ० ११६।

कहते हैं। आचार्य [1]पूज्यपादने एक दृष्टान्तके द्वारा दोनोंका भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—जैसे मिट्टीके नये सकोरेपर जलके दो-चार छींटे देनेसे वह गीला नहीं होता। किन्तु बार-बार पानीके छींटे देते रहनेपर वह कोरा सकोरा धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें आया हुआ शब्द अथवा गन्ध आदि दो-तीन क्षण तक स्पष्ट नहीं होते। किन्तु बार-बार ग्रहण करनेपर स्पष्ट हो जाते हैं। अतः स्पष्ट ग्रहणसे पहले व्यंजनावग्रह होता है पीछे अर्थावग्रह होता है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि जैसे अवग्रह ज्ञान दर्शन-पूर्वक ही होता है वैसे ही अर्थावग्रह भी व्यंजनावग्रहपूर्वक ही हो, क्योंकि अर्था-वग्रह तो पाँचों इन्द्रियोंसे और मनसे होता है किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मनके सिवा शेष चार ही इन्द्रियोंसे होता है। आशय यह है कि जो इन्द्रियाँ अपने विषयको उससे भिड़कर जानती हैं उन्हींसे व्यंजनावग्रह होता है। ऐसी इन्द्रियाँ केवल चार हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र। ये चारों इन्द्रियाँ अपने विषयसे सम्बद्ध होनेपर ही स्पर्श, रस, गन्ध और शब्दको जानती हैं। किन्तु चक्षु और मन अपने विषयसे दूर रहकर ही उसे जानते हैं। तभी तो जो वस्तु आँखके अत्यन्त नजदीक होती है उसे वह नहीं जानती जैसे आँखमें लगा हुआ अंजन। इसीसे जैन दर्शनमें चक्षुको अप्राप्यकारी माना है। चक्षुके प्राप्यकारित्वं-की आलोचना प्रारम्भमें कर आये हैं। अतः यहाँ उसकी चर्चा करना अनावश्यक है।

षट्खण्डागमके वर्गणा खण्डकी धवला टीकामें (पु० १३, पृ० २२०) अवग्रहका कथन थोड़ा प्रकारान्तरसे है जो इस प्रकार है—'अवग्रहके दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। प्राप्त अर्थके प्रथम ग्रहणको व्यंजनावग्रह और अप्राप्त अर्थके ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियसे सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है। और जो पदार्थ इन्द्रियसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। चक्षु और मन अप्राप्त अर्थको ही जानते हैं। शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जान सकती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियाँ प्राप्त अर्थको जानती हैं यह तो स्पष्ट ही है। पर युक्तिसे उनके द्वारा अप्राप्त अर्थका जानना भी सिद्ध है। पृथिवीमें जिस ओर निधि पायी जाती है, वनस्पतिकायिक जीवोंका उस ओर प्रारोहको छोड़ना देखा जाता है। तथा आगममें स्पर्शन-इन्द्रियका विषय क्षेत्र चार सौ धनुष, रसनाका विषय क्षेत्र चौसठ धनुष और घ्राण-इन्द्रियका विषय सौ धनुष

१, सर्वा० सि०, सूत्र १-१८ की व्याख्या।

बतलाया है। अतः आगमसे भी इन इन्द्रियोंका अप्राप्त अर्थको ग्रहण करना सिद्ध है।'

सर्वार्थसिद्धि[1] और तत्त्वार्थवार्तिकमें स्पष्ट ग्रहणको अर्थावग्रह और अस्पष्ट ग्रहणको अर्थावग्रह लिखा है। किन्तु धवलामें[2] वीरसेन स्वामीने उसका निषेध करते हुए लिखा है कि ऐसा माननेसे चक्षुसे भी व्यंजनावग्रहका प्रसंग आता है क्योंकि चक्षुसे भी अस्पष्ट ग्रहण देखा जाता है। किन्तु आगममें चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह होनेका निषेध है।

धवलामें ही अन्यत्र (पु० ९, पृ० १४४-१४५) यह शंका उठायी है कि अवग्रह निर्णयरूप है या अनिर्णयरूप है? यदि वह निर्णय रूप है तो अवायमें उसका अन्तर्भाव होना चाहिए। और यदि वह अनिर्णय रूप है तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। इस शंकाका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने अवग्रहके दो प्रकार बतलाये हैं—एक विशदावग्रह और दूसरा अविशदावग्रह। उनमें-से विशद अवग्रह निर्णय रूप है और वह ईहा, अवाय और धारणा ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है। किन्तु निर्णय रूप होते हुए भी उसका अन्तर्भाव अभावमें नहीं हो सकता; क्योंकि ईहा ज्ञानके पश्चात् जो निर्णयात्मक ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं। और भाषा, आयु, रूप आदि विशेषोंको ग्रहण न करके पुरुषमात्रको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अविशदावग्रह कहते हैं।

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रहके सम्बन्धमें श्वेताम्बरीय आगममान्यता भिन्न है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्यमें (गा० १९४ से) बहुत ही गम्भीरता और विस्तारसे उसका विचार किया है। अतः उसे भी यहाँ दिया जाता है।

श्वे० आगमिक मान्यता

जैसे[1] दीपकसे घट प्रकट किया जाता है वैसे ही जिसके द्वारा अर्थ प्रकट

---

१. 'अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः।.........व्यक्तग्रहणात् प्राग् व्यञ्जनावग्रहः। व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः।—सर्वार्थसि० १-१८।

२. 'कोऽर्थावग्रहः? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। को व्यञ्जनावग्रहः? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। न स्पष्टग्रहणमर्थावग्रहः, अस्पष्टग्रहणस्य व्यञ्जनावग्रहत्वप्रसंगात्। भवतु चेत्, न, चक्षुष्यप्यस्पष्टग्रहणदर्शनतो व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगात्। पु० १३, पृ० २२०।

३. विशे० भा०, गा० १९४ से।

किया जाये उसे व्यंजन कहते हैं (व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थो येन तद् व्यञ्जनम्)। वह व्यंजन है—उपकरण रूप इन्द्रिय और शब्दादिक रूप परिणत द्रव्यका सम्बन्ध। आशय यह है कि इन्द्रियके दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। निर्वृत्तिके भी दो भेद हैं—अन्तर्निर्वृत्ति और बहिर्निर्वृत्ति। श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंकी अंगुलके असंख्यातवें भाग आदि प्रमाणको लेकर, क्रमसे कदम्बके फूलके आकार, मसूरके आकार, वीणाके आकार, खुरपेके आकार और शरीराकार रचना होनेको अन्तर्निर्वृत्ति कहते हैं। इस अन्तर्निर्वृत्तिकी जो शक्ति विशेष शब्द आदि विषयोंको जाननेमें हेतु है वह उपकरणेन्द्रिय है। इस उपकरणेन्द्रिय और शब्द आदि रूप परिणत द्रव्यके सम्बन्धको व्यंजन कहते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना कि इन्द्रिय, अर्थ और दोनोंका सम्बन्ध, ये तीनों ही व्यंजन हैं। इन्द्रियके द्वारा अर्थ व्यज्यमान होता है इस लिए तो इन्द्रियको व्यंजन कहा जाता है। और अर्थ व्यज्यमान है इसलिए उसे भी व्यंजन कहते हैं। अतः इन्द्रिय रूप व्यंजनसे अर्थरूप व्यंजनके अवग्रहका नाम व्यंजनावग्रह है।

शंका—यह व्यंजनावग्रह ज्ञानरूप नहीं है; क्योंकि उपकरण रूपइन्द्रिय और शब्दादि रूप परिणत द्रव्यका सम्बन्ध जिस कालमें होता है उस कालमें ज्ञानका अनुभव नहीं होता। जैसे बहरे मनुष्योंकी उपकरण रूप इन्द्रियका शब्दादि विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेके समय उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इसी तरह यहाँ भी जानना चाहिए।

उत्तर—व्यंजनावग्रह अज्ञानरूप नहीं है; क्योंकि व्यंजनावग्रहका अन्त होनेपर उसी व्यंजनावग्रहसे ज्ञानात्मक अर्थावग्रह उत्पन्न होता है। व्यंजनावग्रहमें यद्यपि ज्ञानका अनुभव नहीं होता तथापि वह ज्ञानका कारण होनेसे ज्ञानरूप ही है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि व्यंजनावग्रहके कालमें ज्ञान ही नहीं है। उस समय भी ज्ञान है किन्तु वह अति अल्प है इसलिए उसका अनुभव नहीं होता। हाँ, बहरे मनुष्योंको जो शब्दका व्यंजनावग्रह होता है वह तो अज्ञानरूप ही है; क्योंकि वहाँ ज्ञानके कारण ही नहीं है।

शंका—जब व्यंजनावग्रहके कालमें ज्ञानका अनुभव नहीं होता तो उसका अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर—व्यंजनावग्रहका काल असंख्यात समय है और प्रति समय श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके साथ शब्दादि विषयोंका सम्बन्ध होता रहता है। अब यदि असंख्यात समय तक श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके साथ शब्दादि विषयोंका सम्बन्ध होनेपर भी

व्यंजनावग्रहको ज्ञानरूप नहीं माना जाता तो अन्तिम समयमें उसमें अर्थावग्रह रूप ज्ञानको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य आप कैसे मान सकते हैं ? अर्थात् यदि शब्दादि विषयोंका श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर प्रथम समयसे लेकर प्रति समय प्रकट होनेवाली ज्ञानकी जरा-सी भी मात्रा आप स्वीकार नहीं करते तो अन्तिम क्षणमें भी उससे कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। और ऐसा होनेपर अर्थावग्रह आदि ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकेंगे।....अतः अर्थावग्रहके उत्पन्न होनेसे पहले जो अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान रहता है उसे ही व्यंजनावग्रह कहते हैं। अन्तिम समयमें वही ज्ञान कुछ स्पष्ट होनेपर अर्थावग्रह कहा जाता है। इसलिए यद्यपि व्यंजनावग्रह कालमें स्पष्ट रूपसे ज्ञानका साधक कोई लिंग नहीं है फिर भी उक्त युक्तिके आधारपर व्यंजनावग्रहमें ज्ञानकी सिद्धि होती है।

उस व्यंजनावग्रहके चार भेद हैं; क्योंकि इन्द्रिय और विषयका जो परस्परमें सम्बन्ध है वही व्यंजनावग्रह है। और वह सम्बन्ध स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र इन चार प्राप्यकारी इन्द्रियोंमें ही होता है, चक्षु और मनमें नहीं होता। अतः इन दोनोंको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके भेदसे व्यंजनावग्रह चार ही प्रकारका होता है।

शंका—यह[1] माना कि मन शरीरसे निकलकर विषयके पास नहीं जाता। फिर भी मनसे व्यंजनावग्रह हो सकता है; क्योंकि सिद्धान्तमें छद्मस्थका उपयोग असंख्यात समय तक बतलाया है। अतः उपयोगसम्बन्धी असंख्यात समयोंमें जीव मनोवर्गणाके द्वारा अनन्त मनोद्रव्योंको ग्रहण करता है। और पहले आपने द्रव्योंको और उनके सम्बन्धको व्यंजन बतलाया है। अतः जैसे श्रोत्र-आदि इन्द्रियोंके द्वारा असंख्यात समय तक ग्रहण किये जानेवाले शब्दादि और उनका सम्बन्ध व्यंजनावग्रह है वैसे ही यहाँ भी असंख्यात समय तक ग्रहण किये जानेवाले मनोद्रव्य और उनका सम्बन्ध क्यों व्यंजनावग्रह नहीं है ? इसके सिवाय मन स्वस्थानमें रहते हुए ही जब अपने शरीरका अथवा हृदयका विचार करता है तो इनके साथ तो मनका अत्यन्त सान्निध्य है अतः उसे समय भी पूर्वोक्त प्रकारसे व्यंजनावग्रहका होना सम्भव है। फिर आप कैसे कहते हैं कि मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता ?

उत्तर—श्रोत्र आदि चार इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य जो शब्दादि विषय हैं उन विषयरूप परिणत द्रव्योंके ग्रहण करनेको हम व्यंजनावग्रह मानते हैं। किन्तु मन ग्राह्य नहीं है, बल्कि अर्थके जाननेमें कारण हैं अर्थात् मनके द्वारा शब्दादि विषयोंको ग्रहण किया जाता है। ऐसी स्थितिमें व्यंजनावग्रह कैसे सम्भव है ? ग्राह्य

१. विशे० भा०. गा० २३७ से।

वस्तुका ग्रहण होनेपर ही व्यंजनावग्रह होता है। मन मनोद्रव्योंको ग्राह्य (विषय) रूपसे ग्रहण नहीं करता किन्तु करणरूपसे ग्रहण करता है। मनका ग्राह्य (विषय) तो सुमेरु आदि पदार्थ हैं। अतः पूर्वोक्त कथन असम्बद्ध ही है। तथा जब मन अपने शरीर, हृदय आदिका विचार करता है तब यदि प्रथम क्षणमें ही अर्थावग्रह न हो जाता तो व्यंजनावग्रह हो सकता था किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि मनसे प्रथम समयमें ही अर्थावग्रह उत्पन्न होता है। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें तो क्षयोपशमकी पटुता न होनेसे प्रथम व्यंजनावग्रहका होना उचित है किन्तु मनका क्षयोपशम पटु होनेसे चक्षु इन्द्रियकी तरह प्रथम ही अर्थावग्रह हो जाता है। अतः मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता।

शंका—जब कोई मनुष्य केवल मनसे पदार्थोंका चिन्तन करता है उस समय भले ही व्यंजनावग्रह न हो। किन्तु जब श्रोत्र आदि इन्द्रियसे वह पदार्थोंको जानता है तो उस समय मनका व्यापार होनेसे मनसे व्यंजनावग्रह क्यों नहीं मानते, क्योंकि उस समयको आपने भी अनुपलब्धि काल माना है ?

उत्तर—यद्यपि श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके उपयोग कालमें भी मनका व्यापार होता है किन्तु व्यंजनावग्रहके कालमें मनका व्यापार नहीं होता, व्यंजनावग्रहके अनन्तर होनेवाले अर्थावग्रहसे ही मनका व्यापार होता है। क्योंकि व्यंजनावग्रहमें अर्थका बोध नहीं होता, वह तो अर्थबोधका कारण है। किन्तु मन तो अर्थबोध रूप ही है। यदि व्यंजनावग्रहके समय मनका व्यापार माना जायेगा तो मनसे भी व्यंजनावग्रह होनेसे मतिज्ञानके भेदोंकी संख्यामें ही गड़बड़ी पैदा हो जायेगी।

अतः चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह न होनेके कारण व्यंजनावग्रहके चार ही भेद हैं।

व्यंजनावग्रहका विषय ऊपर बतलाया है कि अर्थावग्रह रूप ज्ञानका कारण होनेसे वह ज्ञानरूप है किन्तु अव्यक्त है। अब अर्थावग्रहका विषय बतलाते हैं।

अर्थावग्रह[1]का विषय यद्यपि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है किन्तु अर्थावग्रह उसमें-से सामान्य रूप वस्तुको ही ग्रहण करता है, विशेष रूप वस्तुको ग्रहण नहीं करता; क्योंकि अर्थावग्रहका काल एक समय है और एक समयमें विशेषका ग्रहण नहीं हो सकता। तथा वह सामान्य रूप वस्तु अनिर्देश्य होती है क्योंकि अर्थावग्रह स्वरूप, नाम, जाति आदिकी कल्पनासे रहित अर्थको विषय करता है।

शंका—यदि स्वरूप नाम आदिकी कल्पनासे रहित अर्थ अर्थावग्रहका विषय

१. विशे० भा०, गा० २५२।

है तो यह बात नन्दिसूत्रके विरुद्ध जाती है। नन्दिसूत्रमें लिखा है कि किसी पुरुषने अव्यक्त शब्द सुना। वह अर्थावग्रहके द्वारा 'शब्द'को ग्रहण करता है किन्तु वह नहीं जानता कि किसका शब्द है। आप तो अर्थावग्रहका विषय सर्वथा शब्द आदिके उल्लेखसे रहित बतलाते हैं?

उत्तर—प्रथम तो 'वह मनुष्य शब्दको ग्रहण करता है' यहाँ शब्दका उल्लेख सूत्रकारकी ओरसे हुआ है, ग्रहण करनेवालेकी ओरसे नहीं। दूसरे वह मनुष्य रूप, रस आदि विशेषोंसे व्यावृत्त निश्चित शब्दको ग्रहण न करके शब्दमात्रको ग्रहण करता है, बस इतने अंशमें ही उसे शब्दका ग्रहण कहा जाता है। किन्तु शब्द-बुद्धिसे वह शब्दका ग्रहण नहीं करता। क्योंकि शब्दका उल्लेख एक अन्तर्मुहूर्त कालमें होता है और अर्थावग्रहका काल एक समय है। अतः अर्थावग्रहमें शब्दका उल्लेख होना असम्भव ही है।

शंका—यदि अर्थावग्रहमें शब्दका निश्चयात्मक ज्ञान हो तो हानि क्या है?

उत्तर—तब तो वह अर्थावग्रह न रहकर अवाय हो हो जायेगा; क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान अवाय रूप होता है।

शंका—प्रथम समयमें ही रूप, रस आदिसे व्यावृत 'यह शब्द है' इस ज्ञान-को अर्थावग्रह मानिए; क्योंकि अर्थावग्रहका विषय सामान्य रूप कहा है और यहाँ भी शब्दमात्रको विषय करता है इसलिए सामान्य रूप विषय है ही। बादमें जो यह विमर्श बुद्धि होती है कि इस शब्दमें शंखकी आवाज़के गुण हैं, सिंगेकी आवाज़के धर्म नहीं हैं, यह ईहा है। अतः 'यह शब्द शंखका ही है' यह अवाय है। ऐसा माननेमें क्या हानि है?

उत्तर—यदि 'यह शब्द है' इस निश्चय ज्ञानको आप अर्थावग्रह मानते हैं, और 'यह शब्द शंखका ही है' इस ज्ञानको अवाय कहते हैं तो अवग्रहका लोप ही हो जायेगा क्योंकि आपने प्रारम्भमें ही अवाय ज्ञान स्वीकार कर लिया।

शंका—'यह शब्द है' यह ज्ञान अवाय कैसे है?

उत्तर—क्योंकि विशेषको ग्रहण करता है। आप भी तो विशेषज्ञानको अवाय मानते हैं।

शंका—'यह शब्द शंखका ही है' उत्तरकालमें होनेवाला यह ज्ञान ही विशेष-को ग्रहण करता है। 'यह शब्द है' इस ज्ञानमें तो शब्द सामान्यका ही प्रति-भास होता है, विशेषका प्रतिभास नहीं होता। तब इसे अवाय कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर—'यह शब्द है, अशब्द नहीं है' इस प्रकारका ज्ञान विशेषग्राही ही है; क्योंकि रूप आदिसे व्यावृत्त शब्दको ग्रहण करता है। यदि रूप आदिसे व्यावृत्त शब्दको ग्रहण न करता तो 'यह शब्द है' इस प्रकारका निश्चय भी न होता। अतः 'यह शब्द है, अशब्द नहीं है' यह ज्ञान विशेषग्राही होनेसे अवाय क्यों नहीं कहा जायेगा और उस अवस्थामें अवग्रहके अभावका प्रसंग उपस्थित होगा।

शंका—शब्द मात्रको विषय करनेवाला ज्ञान अवाय नहीं है किन्तु अवग्रह ही है; क्योंकि उसमें विशेषका ग्रहण बहुत थोड़ा है। 'यह शब्द शंखका है' इत्यादि विशेषणसे विशिष्ट जो ज्ञान होता है वही अपाय है; क्योंकि उसमें विशेषका ग्रहण अधिक है।

उत्तर—'जो थोड़े-से विशेषको ग्रहण करता है वह अपाय नहीं है' यदि ऐसा नियम बनाया जायेगा तो अपाय ज्ञानका ही लोप हो जायेगा; क्योंकि उत्तरोत्तर विशेष-विशेष अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानोंकी अपेक्षा अर्थविशेषको ग्रहण करने वाले सभी पूर्व-पूर्व ज्ञान थोड़े-थोड़े विशेषके ग्राहक ठहरेंगे। अतः सभी अर्थावग्रह कहलायेंगे। अतः उक्त कथन ठीक नहीं है। तथा 'यह शब्द है अथवा अशब्द है' इस प्रकारकी ईहा हुए बिना 'यह शब्द ही है' इस प्रकारका निश्चय ज्ञान कैसे हो सकता है? यदि आप ऐसा मानते हैं कि 'निश्चयसे पहले ईहा हुई उसके बाद 'शब्द ही है' ऐसा निश्चय ज्ञान हुआ; तो यह प्रश्न होता है कि ईहासे पहले ज्ञाता ने जिस वस्तुको ग्रहण किया वह क्या है जिसमें ईहाके होनेके पश्चात् 'यह शब्द ही है' यह निश्चयज्ञान उत्पन्न होता है? यदि वह नाम जाति आदिकी कल्पना से रहित सामान्य मात्र है तो ईहासे पहले उस सामान्य मात्रको ग्रहण करनेके लिए कुछ काल होना चाहिए जिस कालमें उसको ग्रहण किया जा सके। वह काल हमारा माना हुआ अर्थावग्रह काल तो हो नहीं सकता; अन्यथा आपको हमारा मत मानना पड़ेगा। किन्तु हमारे माने हुए अर्थावग्रहसे पहले ही कुछ काल होना चाहिए। अब उससे पहले तो व्यंजनावग्रहका ही काल है। किन्तु उस कालमें सामान्य रूप अथवा विशेष रूप किसी भी अर्थका ग्रहण सम्भव नहीं है; क्योंकि उस समय मनके बिना केवल इन्द्रियका व्यापार है। अतः यह मानना पड़ता है कि अर्थावग्रह ही सामान्य ग्रहण रूप है उसके बाद ईहा होती है। और ईहाके बाद 'यह शब्द ही है' यह अपाय नामका निश्चय ज्ञान होता है।

शंका—तुरन्तका जन्मा हुआ बालक अव्यक्त सामान्य मात्र वस्तुको ग्रहण करे इसमें कोई विवाद नहीं है क्योंकि उसके लिए सब विषय अपरिचित है। किन्तु जो विषयसे परिचित है उसको तो शब्द सुनते ही उसके विशेष धर्मोंका

ज्ञान हो जाता है।

उत्तर—यदि विषयसे परिचित व्यक्तिको अर्थावग्रहके कालमें अव्यक्त शब्द-ज्ञानके स्थानमें व्यक्त शब्द-ज्ञानका होना माना जायेगा तो जो व्यक्ति विषयसे और भी अधिक परिचित है उसको उसी कालमें व्यक्त शब्दज्ञानके स्थानमें 'यह शब्द शंखका है' इत्यादि रूप और भी अधिक विशिष्ट ज्ञान होनेका प्रसंग उपस्थित होगा।

शंका—किसी-किसी व्यक्तिको प्रथम समयमें ही बहुविशेषयुक्त ज्ञान होता ही है।

उत्तर—तब तो सभी मतिज्ञान अवग्रह रूप ही हो जायेंगे। अथवा सभी मतिज्ञान अपाय रूप ही हो जायेंगे; क्योंकि अर्थावग्रहमें निश्चय रूप विशेष ज्ञान का होना आप स्वीकार करते हैं और निश्चय ज्ञान अपाय है। अन्य भी अनेक दोष उपस्थित होंगे और अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणाका क्रम भी नहीं बनेगा। अतः अर्थावग्रहके कालमें अव्यक्त ज्ञान ही मानना चाहिए।

शंका—कोई-कोई वादी आलोचना ज्ञानपूर्वक अवग्रह ज्ञानका होना मानते हैं। सामान्य वस्तुका ग्राही ज्ञान आलोचना ज्ञान है। उसके बाद शब्दका अवग्रह होता है। इसमें आपको क्या आपत्ति है?

उत्तर—यह सामान्यग्राही आलोचना ज्ञान व्यंजनावग्रहसे पहले होता है, या पीछे होता है अथवा वह व्यंजनावग्रह रूप ही है? पहले तो हो नहीं सकता; क्योंकि अर्थका और इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर ही सामान्य अर्थका ग्रहण हो सकता है, किन्तु व्यंजनावग्रहसे पहले उन दोनोंका सम्बन्ध नहीं होता। यदि हो तो वही व्यंजनावग्रह है। तथा व्यंजनावग्रहके अन्तिम क्षणमें अर्थावग्रह ही हो जाता है। अतः आलोचना ज्ञान व्यंजनावग्रहके पश्चात् भी नहीं हो सकता। पारिशेष्यसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह वादी व्यंजनावग्रहको ही आलोचना ज्ञान रूपसे मानते हैं। किन्तु यदि आलोचना ज्ञानमें सामान्य अर्थका दर्शन होता है तो वह व्यंजनावग्रह नहीं हो सकता; क्योंकि व्यंजनावग्रहमें अर्थका ग्रहण नहीं होता। अतः अर्थावग्रह ही सामान्य अर्थका ग्राहक है। इससे भिन्न आलोचना ज्ञान कोई नहीं है।

शंका—जैन सिद्धान्तमें क्षिप्र अवग्रह, चिर अवग्रह, बहु अवग्रह, बहुविध अवग्रह आदि बारह भेद अवग्रहके कहे हैं। इन भेदोंसे प्रकट होता है कि अर्थावग्रहका काल एक समय मात्र नहीं है, क्योंकि एक समयमें क्षिप्र, चिर आदि

विशेषणोंका ग्रहण नहीं हो सकता। अतः अर्थावग्रहका काल असंख्यात समय भी होना चाहिए। तथा शंख भेरी आदि बहुत-से वादित्रोंको सुनकर क्षयोपशमकी विचित्रताके कारण कोई श्रोता तो केवल शब्द मात्रको ग्रहण करता है, कोई बहुत-से शब्दोंको ग्रहण करता है, और कोई उनके अनेक भेद-प्रभेदोंको ग्रहण करता है। अतः अर्थावग्रहमें कहीं सामान्य ग्रहण और कहीं विशेष ग्रहण भी होता है यह सिद्ध है।

उत्तर—बहु, बहुविध आदि विशेष धर्मोंका जो निश्चयात्मक ज्ञान है वह सामान्य अर्थके ग्रहण बिना, तथा ईहाके बिना नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो अपाय रूप है तब ऐसा निश्चायक ज्ञान अर्थावग्रहमें कैसे हो सकता है? यह बात हम कई बार कह चुके हैं।

शंका—यदि बहु, बहुविध वगैरहका ग्राहक ज्ञान अपाय ही है तो सिद्धान्तमें अवग्रह आदिको भी बहु आदिका ग्राहक क्यों कहा है?

उत्तर—अवग्रह आदि अपाय ज्ञानके कारण हैं और कारणमें कार्यका स्वरूप योग्यताकी अपेक्षा रहता है। इसलिए उपचारसे अवग्रह आदिको भी बहु आदिका ग्राहक कहा है। अतः कोई दोष नहीं है।

शंका—यदि आप इस तरहसे उपचार करते हैं तो हम भी अपायसे होनेवाले विशेष ज्ञानका उपचार अर्थावग्रहमें कर सकते हैं।

उत्तर—यदि आप अपायगत विशेष ज्ञानका उपचार अर्थावग्रहमें करते हैं तो वह उपचार जिस प्रकारसे किया जा सकता है उस प्रकारको समझ लीजिए। सबसे प्रथम जो अर्थावग्रह होता है, वह निरुपचरित अर्थावग्रह है। उसका काल एक समय है तथा वह सामान्य मात्रका ग्राहक है। उस निरुपचरित अर्थावग्रहके बाद ईहित वस्तुविशेषका जो अपायज्ञान होता है वह अपाय आगे होनेवाली ईहा और अपायकी अपेक्षा उपचरित अर्थावग्रह है। आशय यह है—प्रथम नैश्चयिक (निरुपचरित) अर्थावग्रहमें रूप आदिसे अव्यावृत्त अव्यक्त शब्दादि रूप सामान्य वस्तुका ग्रहण होता है। उसमें ईहाज्ञान होनेपर 'यह शब्द ही है' इत्यादि निश्चयरूप अपाय ज्ञान होता है। इसके बाद 'यह शब्द शंखका है अथवा सिंगेका है' इस प्रकार पुनः ईहा होती है। उसके फलस्वरूप 'यह शब्द शंखका ही है' यह निश्चयात्मक अपाय ज्ञान होता है। इस दूसरे अपाय ज्ञानकी अपेक्षा 'यह शब्द ही है' यह पहला निश्चय ज्ञान अपाय होते हुए भी उपचारसे अर्थावग्रह कहा जाता है। अर्थात् जिसके पश्चात् भी ईहा और अपाय ज्ञान होते हैं तथा जो

सामान्य ग्राही है वह अर्थावग्रह है जैसे प्रथम निरुपचरित अर्थावग्रह। 'यह शब्द ही है' इस अपाय ज्ञानके पश्चात् भी ईहा और अपाय ज्ञान होते हैं तथा 'यह शब्द शंखका ही है' इस आगामी विशेष ज्ञानकी अपेक्षा यह सामान्यग्राही भी है। अतः उसे उपचारसे अर्थावग्रह कहते हैं। इस दूसरे अपाय ज्ञानके पश्चात् भी यदि ज्ञाताको और भी विशेषताएँ जाननेकी आकांक्षा हो तो आगे होनेवाली ईहा और अपायकी अपेक्षासे तथा भावी विशेष ज्ञानकी अपेक्षा सामान्यग्राही होनेसे वह दूसरा अपाय भी उपचारसे अर्थावग्रह होता है। इस तरह जबतक प्रमाताकी उत्तरोत्तर विशेषकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती तब तक व्यावहारिक अर्थावग्रह ईहा और अपायकी परम्परा चलती रहती है।

सारांश यह है कि विषयको जाननेके लिए जब तक उसके अन्तिम विशेषका ज्ञान न हो जाये तबतक सर्वत्र ईहा और अपाय ज्ञान ही होते हैं, अर्थावग्रह नहीं होता। अर्थावग्रह तो केवल एक बार प्रारम्भमें एक समयके लिए ही होता है। किन्तु व्यवहारके लिए पहले-पहलेका अपाय ज्ञान उत्तरोत्तर होनेवाले ईहा और अपायकी अपेक्षा उपचारसे अर्थावग्रह कहा जाता है। इस औपचारिक अथवा व्यावहारिक अर्थावग्रहको मान लेनेपर पहले दिये हुए दोषोंका परिहार हो जाता है। तथा लोकमें जो सामान्य-विशेषका आपेक्षिक व्यवहार प्रचलित है वह भी औपचारिक अवग्रहके होनेपर ही बनता है। लोकमें जो विशेष है वही अपेक्षासे सामान्य कहा जाता है और सामान्य है वही अपेक्षासे विशेष कहलाता है। जैसे, 'यह शब्द ही है' इस प्रकारसे जाना गया अर्थ पूर्व सामान्यकी अपेक्षा विशेष है। और 'यह शब्द शंखका ही है' इस उत्तर विशेषकी अपेक्षा सामान्य है। सन्तान रूपसे प्रचलित यह सामान्य-विशेषका व्यवहार औपचारिक अवग्रहके होनेपर ही बनता है, क्योंकि यदि औपचारिक अवग्रह नहीं माना जायेगा तो प्रथम अपाय ज्ञानके पश्चात् ईहा ज्ञान नहीं होगा। और ईहा ज्ञानके न होनेसे उत्तरोत्तर विशेषका ज्ञान नहीं होगा। उत्तरोत्तर विशेषका ज्ञान न होनेसे प्रथम अपाय ज्ञानके द्वारा निश्चित अर्थ विशेषरूप ही रहेगा, सामान्यरूप नहीं ठहरेगा। अतः पूर्वोक्त लोकप्रसिद्ध सामान्य-विशेषका व्यवहार नष्ट हो जायेगा। अतः प्रथम अपाय ज्ञानके पश्चात् ईहा ज्ञान मानना ही होगा। और ईहाके पश्चात् पुनः अपाय ज्ञान होगा। उस अपायकी अपेक्षा प्रथम अपायसे निर्णीत अर्थ सामान्य रूप ठहरेगा और जो उक्त सामान्यको ग्रहण करता है वह अर्थावग्रह है। अतः अर्थावग्रह दो प्रकारका होता है—एक नैश्चयिक अर्थावग्रह और एक व्यावहारिक अर्थावग्रह।

शंका—क्या नैश्चयिक अर्थावग्रहमें चिर, क्षिप्र, बहु, बहुविध आदि विशेषणों

का ग्रहण नहीं होता जो व्यावहारिक अर्थावग्रहको मानते हो ?

उत्तर—हाँ, मुख्य रूपसे व्यावहारिक अर्थावग्रहमें ही उक्त विशेषण बनते हैं किन्तु कारणमें कार्यका उपचार करनेसे नैश्चयिक अर्थावग्रहमें भी बन जाते हैं।

श्वेताम्बराचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमणके विशेषावश्यक भाष्य तथा आचार्य मलयगिरि कृत उसके व्याख्यानके आधारपर यह लम्बी चर्चा ऊपर की गयी है उसका सारांश इस प्रकार है—

१. इन्द्रिय और अर्थके सम्बन्ध होनेको व्यंजनावग्रह कहते हैं। इसका काल असंख्यात समय है। व्यंजनावग्रह ज्ञान रूप नहीं है। किन्तु व्यंजनावग्रहके अन्तिम क्षणमें व्यंजनावग्रह ही अर्थावग्रह रूप हो जाता है और अर्थावग्रह ज्ञानरूप है, अतः ज्ञानका कारण होनेसे व्यंजनावग्रहको भी ज्ञानरूप मान लिया जाता है; क्योंकि यदि व्यंजनावग्रहके कालमें कुछ भी ज्ञानांश न हो तो वह अर्थावग्रह रूप परिणमन नहीं कर सकता।

२. अर्थावग्रहका काल एक समय है। वह सामान्य-विशेषात्मक वस्तुमें-से केवल सामान्यरूप वस्तुको ग्रहण करता है। वह सामान्य रूप वस्तु अनिर्देश्य होती है। अर्थात् अर्थावग्रहके विषयको किसी आकार, नाम, जाति आदिके द्वारा कहा नहीं जा सकता। शास्त्रकारोंने जो अर्थावग्रहके विषयका उदाहरण 'शब्द' दिया है सो समझानेके लिए दिया है क्योंकि 'यह शब्द है' यह ज्ञान निश्चयरूप है; क्योंकि रूप आदिकी व्यावृत्ति करके शब्दका निश्चय करता है। किन्तु अर्थावग्रहमें इतरव्यावृत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका काल एक समय है तथा इसीसे वह निश्चय रूप नहीं है, निश्चय रूप ज्ञान तो केवल अवाय है।

३. शास्त्रकारोंने जो बहु बहुविध आदि रूपसे अवग्रहके बारह भेद किये हैं सो बहु, आदि विशेषणोंका ग्रहण वास्तविक अर्थावग्रहमें तो उपचारसे ही सम्भव है। हाँ, औपचारिक अर्थावग्रहमें होता है। अतः अर्थावग्रह भी दो प्रकारका है एक असली और एक नकली। असली अर्थावग्रह तो वही है जो सबसे प्रथम होता है। उस असली अर्थावग्रहके पश्चात् ईहा और फिर अवाय होता है। इस अवायके द्वारा कतिपय विशेषका निर्णय होता है और उत्तरोत्तर विशेषका निर्णय करनेके लिए ईहाके बाद अपाय और अपायके बाद ईहाका क्रम तबतक चलता रहता है जबतक ज्ञाताकी जिज्ञासा शान्त न हो। अतः इस ज्ञानधारामें पहले-पहलेका अपाय ज्ञान अपने उत्तर अपाय ज्ञानकी अपेक्षा सामान्यग्राही होनेसे औपचारिक अर्थावग्रह कहा जाता है।

दिगम्बर मान्यता

दिगम्बराचार्योंके विवेचनके साथ श्वेताम्बराचार्योंके उक्त मन्तव्योंकी तुलना करनेपर दोनोंमें बहुत अन्तर प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परामें अवग्रहका जो स्वरूप माना जाता है उसका आधार पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि है। उसमें लिखा[1] है कि 'विषय और विषयीका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है उसके पश्चात् जो अर्थका ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं। जैसे चक्षुसे सफेद रंगको ग्रहण करना। आचार्य अकलंकदेवने इसी लक्षणको अपनाया है। वे स्पष्ट रूपसे अवग्रहको निर्णयात्मक कहते हैं जब कि आगमके अनुयायी श्वेताम्बराचार्य अपायको ही निर्णयात्मक मानते हैं। किन्तु दार्शनिक श्वेताम्बराचार्योंने इस विषयमें भी अपने पूर्वज अकलंकका ही अनुसरण किया है। उदाहरणके लिए, अभयदेव सूरिने सन्मतितर्ककी[2] टीकामें, आचार्य हेमचन्द्रने अपनी प्रमाण[3] मीमांसामें और देव सूरिने अपने प्रमाणनय[4] तत्त्वालोक नामक सूत्रग्रन्थमें अकलंकोक्त लक्षणको ही अपनाया है और अवग्रहको स्पष्ट रूपसे निर्णयात्मक माना है। इन दार्शनिकोंका कहना है कि अवग्रह दर्शनपूर्वक होता है। दर्शनका विषय सत्तासामान्य है अतः अवग्रह अवान्तर सामान्याकार मनुष्यत्व आदि जाति विशेषसे विशिष्ट वस्तुको ग्रहण करता है। किन्तु श्वेताम्बर दार्शनिक यशोविजयने दार्शनिक परम्पराका अनुसरण न करके श्वेताम्बर आगमिक परम्पराके अनुसार ही जैन तर्क भाषा और ज्ञानबिन्दुमें अवग्रहका निरूपण किया है।

इस तरह अवग्रहके स्वरूपको लेकर श्वेताम्बर परम्पराके दार्शनिकों और आगमिकोंमें मतभेद है अथवा दार्शनिक इस विषयमें आगमिक मान्यताको स्थान नहीं देते, यह कहा जा सकता है। अवग्रहसे पहले होनेवाले दर्शनके स्वरूपको लेकर इसी तरहका एक मतभेद दिगम्बर परम्परामें भी पाया जाता है। चूंकि प्रकृत चर्चासे दर्शनका भी सम्बन्ध है अतः यहाँ दर्शनके विषयमें चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं है।

दर्शन और अवग्रह

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें दर्शनको अनाकार तथा सामान्य-

१. "विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति। तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः।" —सर्वार्थ० १-१५।

२. पृ० ५५३।

३. अ० १, आ० १, सू० २६।

४. परि० २, सू० ७।

ग्राही माना है। तथा ज्ञानको साकार और विशेषग्राही माना है। पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान होता है। किन्तु दिगम्बर परम्परा केवलज्ञानीके दर्शन और ज्ञान एक साथ मानती है। आचार्य पूज्यपाद[1] कहते हैं कि विषय और विषयीका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है। अकलंकदेव उसको स्पष्ट करते हुए[2] कहते हैं कि इन्द्रिय और अर्थका योग होनेपर सत्ता सामान्यका दर्शन होता है। अर्थात् वे दर्शनका विषय बतला देते हैं। यही सन्मात्र दर्शन अनन्तर समयमें 'अर्थाकार-विकल्पधीः' हो जाता है अर्थात् अर्थके आकारका निर्णायक हो जाता है वही अवग्रह है।

दर्शन और अवग्रहके भेदकी चर्चा करते हुए अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिकमें कहते हैं—

'[3]चक्षुके द्वारा 'कुछ है' इस प्रकारके निराकार अवलोकनको दर्शन कहते हैं जैसे, तुरन्तके जन्मे हुए बालकको आँख खोलते ही जो प्रथम अवलोकन होता है जिसमें वस्तुके विशेष धर्मोंका भान नहीं होता, वह दर्शन है, वैसे ही सभीको पहले दर्शन होता है। उसके पश्चात् दो तीन समय तक आँखें टिमटिमाने पर 'यह रूप है' इस प्रकार विशेषताको लिये हुए अवग्रह होता है। आँखें खोलते ही बाल शिशुको जो दर्शन होता है यदि वह अवग्रहका सजातीय होनेसे ज्ञान है तो वह मिथ्या ज्ञान है अथवा सम्यग्ज्ञान है? यदि मिथ्याज्ञान है तो वह संशय है? विपर्यय है? अथवा अनध्यवसाय है? वह संशय या विपर्यय ज्ञान तो हो नहीं सकता; क्योंकि बच्चेकी चेष्टाएँ सम्यग्ज्ञानमूलक देखी जाती हैं। तथा प्रथम-ही-प्रथम संशय और विपर्यय हो भी नहीं सकते। जब कोई सीप और चाँदीको देख लेता है उसके पश्चात् ही उसे सामने पड़ी हुई वस्तुमें सीप और चाँदीका भ्रम होता है। तथा वह अनध्यवसाय भी नहीं है; क्योंकि उसे वस्तु मात्रका दर्शन हो रहा है। अतः बच्चेका प्राथमिक अवलोकन मिथ्याज्ञान तो नहीं है। और न सम्यग्ज्ञान ही है क्योंकि उसमें वस्तुके आकारका बोध नहीं है। अतः यह मानना पड़ता है कि अवग्रहसे पहले दर्शन होता है।'

इस तरह अकलंक देवने अवग्रह और दर्शनमें भेद सिद्ध करते हुए 'कुछ है' इस प्रकारके वस्तु मात्रके ग्राहीको दर्शन और 'यह रूप है' इस प्रकार वस्तु-विशेषके ग्राहीको अवग्रह ज्ञान कहा है।

१. सर्वार्थ० १।१५।

२. 'अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः।' —लघीयस्त्रय, का० ५।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ४३–४४।

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि सभी जैनेतर दार्शनिक यह मानते हैं कि सबसे पहले इन्द्रिय और विषयका सन्निकर्ष होता है। फिर निर्विकल्पक ज्ञान होता है। मीमांसक कुमारिल भट्ट लिखते[1] हैं कि—'सबसे प्रथम आलोचना ज्ञान होता है। वह निर्विकल्पक होता है, शुद्ध वस्तुसे जन्य होता है तथा मूक शिशुके ज्ञानके सदृश होता है'। आचार्य जिनभद्रने भी अवग्रहकी चर्चा करते हुए आलोचना पूर्वक अवग्रह ज्ञानके होनेकी चर्चा की है जिसका वर्णन पहले कर आये हैं, और उन्होंने आलोचना ज्ञानको व्यंजनावग्रह माना है; क्योंकि इन्द्रिय और अर्थका सम्बन्ध होनेपर आलोचना ज्ञान होता है और तभी व्यंजनावग्रह माना गया है। किन्तु यदि आलोचना ज्ञानमें सामान्य अर्थका ग्रहण होता है तो वह अर्थावग्रहसे भिन्न नहीं है। तथा अकलंकदेवकी उक्त चर्चामें मूक शिशुके प्रथम दर्शनको अवग्रहसे विलक्षण सिद्ध करके अवग्रहसे पहले दर्शनकी सत्ता सिद्ध की गयी है। अतः कुमारिलके आलोचना ज्ञानको अकलंकदेवने दर्शन माना है। इसी तरह बौद्धोंके निर्विकल्पक ज्ञानको भी अकलंकदेवने प्रत्यक्ष ज्ञान न मानकर दर्शन माना है। सारांश यह है कि जैन दर्शनमें सविकल्पक ज्ञानसे पहले किसी निर्विकल्पक ज्ञानका अस्तित्व नहीं माना गया, जबकि अन्य दर्शनोंमें माना गया। अतः अकलंकदेवने उसकी तुलना दर्शनसे की, क्योंकि जैन दर्शनमें ज्ञानको दर्शन पूर्वक माना है तथा उसका विषय सत्तासामान्य है। अकलंकदेवकी इस मान्यताको भी उनके उत्तराधिकारी दोनों परम्पराओंके दार्शनिकोंने स्वीकार किया। किन्तु दिगम्बर आगमिक परम्परामें दर्शनका विषय कुछ और ही माना गया है जिसकी चर्चा धवला और जयधवला टीकामें तथा बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकामें की गयी है।

दि० परम्परामें दर्शनके स्वरूपमें भेद

अकलंकदेव कृत लघीयस्त्रय नामक ग्रन्थकी एक तात्पर्यवृत्ति अभयचन्द्र सूरिने रची है। उन्होंने उसकी पाँचवीं कारिकाका, जिसमें अवग्रहका लक्षण कहा गया है, व्याख्यान करते हुए इस चर्चाको उठाया है जो इस प्रकार[2] है—

शंका—इस मतिज्ञानके प्रकरणमें दर्शनकी चर्चा क्यों की गयी? उसका तो यहाँ कोई प्रकरण नहीं है?

---

१. 'अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥' मीमांसा श्लो०, प्रत्यक्ष०, श्लो० १११।

२. लघीयस्त्रय, पृ० १४।

उत्तर--ज्ञानसे पहले दर्शन होता है; क्योंकि आगममें छद्मस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञानका होना बतलाया है।

शंका--सिद्धान्तमें तो स्वरूपग्रहणको दर्शन कहा है। और यहाँ सामान्य-ग्रहणको दर्शन कहा है। यह कथन सिद्धान्तसे विरुद्ध क्यों नहीं है?

उत्तर--दोनों कथनोंमें अभिप्रायका भेद है। यह न्यायशास्त्र है। न्यायशास्त्र दूसरोंके विवादोंका निराकरण करता है। अतः अन्य न्यायशास्त्रियों-द्वारा माने गये निर्विकल्पक दर्शनको अप्रमाण ठहरानेके लिए स्याद्वादियोंने सामान्य ग्रहणको दर्शन कहा है, क्योंकि छद्मस्थ जीव जब स्वरूपको ग्रहण करते हैं उस समय वे बाह्य अर्थको ग्रहण नहीं कर सकते। और प्रामाण्यका विचार बाह्य अर्थ की अपेक्षासे ही किया जाता है; क्योंकि वह व्यवहारमें उपयोगी है। व्यवहारी पुरुष स्वरूपके प्रकाशनके लिए दीपकको नहीं खोजते। अतः दर्शन बाह्य अर्थविशेषके व्यवहारके लिए उपयोगी नहीं है। उसके लिए तो प्रमाण ज्ञान ही उपयोगी है क्योंकि वह सविकल्पक होता है। किन्तु यथार्थमें स्वरूप ग्रहणको ही दर्शन कहते हैं। इसीसे केवलीके दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं। यदि सामान्य ग्रहणको दर्शन कहा जायेगा तो ज्ञानका विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु नहीं ठहरेगी।'

इस चर्चासे स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकोंमें दर्शनका जो स्वरूप माना जाता है वह सैद्धान्तिक परम्पराके अनुकूल नहीं है किन्तु दार्शनिक क्षेत्रकी गुत्थियोंको सुलझानेका परिणाम है।

बृहद्द्रव्यसंग्रहके टीकाकारने दर्शनका सैद्धान्तिक और तार्किक रूप विस्तारसे बतलाया है। वे लिखते हैं[1]--'न्यायशास्त्रके अभिप्रायसे सत्तावलोकन रूप दर्शनका व्याख्यान किया अब सिद्धान्तशास्त्रके अभिप्रायानुसार कहते हैं। जो प्रयत्न आगे होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त है उस प्रयत्न रूप जो अपनी आत्माका अवलोकन है उसको दर्शन कहते हैं। उस दर्शनके पश्चात् ही जो बाह्य विषयके विकल्प रूपसे पदार्थका ग्रहण होता है वह ज्ञान है। जैसे, कोई पुरुष घटको जान रहा है। पीछे उसका चित्त पटको जाननेके लिए हुआ। तब वह घटके विकल्पसे हटकर जो स्वरूपका अवलोकन करता है वह दर्शन है। उसके अनन्तर 'यह पट है' इस प्रकार जो बाह्य विषयका निश्चय करता है, वह ज्ञान है।

शंका--यदि दर्शनको आत्माका ग्राहक और ज्ञानको परका ग्राहक कहा

१. पृ० १७१-१७४।

जायेगा तो जैसे नैयायिक मतमें ज्ञान अपनेको नहीं जानता, वैसे ही जैनमतमें भी ज्ञान अपनेको नहीं जानेगा' यह दूषण आता है।

उत्तर—नैयायिक मतमें ज्ञान और दर्शन नामके दो भिन्न गुण नहीं हैं। अतः उसके मतमें आत्माको न जाननेका दूषण आता है। किन्तु जैनमतमें ज्ञान-गुण परद्रव्यको जानता है और दर्शन गुण आत्माको जानता है। अतः आत्माको न जाननेका दूषण नहीं आता। क्योंकि जैसे एक ही अग्नि जलानेके कारण दाहक और पकानेके कारण पाचक इस तरह दो रूप कही जाती है वैसे ही अभेदनयसे एक ही चैतन्य भेदनयकी विवक्षा होनेपर विषय भेदसे दो रूप हो जाता है। जब वह चैतन्य आत्माको ग्रहण करता है तो उसे दर्शन कहते हैं। पीछे जब वह पर द्रव्यको ग्रहण करता है तो उसे ही ज्ञान कहते हैं। इसके विपरीत यदि सामान्यग्रहणको दर्शन और विशेषग्रहणको ज्ञान कहा जाता है तो ज्ञान प्रमाण नहीं ठहरता। क्योंकि प्रमाण वस्तुका ग्राहक है और वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है किन्तु ज्ञान वस्तुके एकदेश विशेषको ही ग्रहण करता है, पूर्ण वस्तुको ग्रहण नहीं करता। और सिद्धान्तमें निश्चयनयसे गुण और गुणीको अभिन्न बतलाया है अतः संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित ज्ञान स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। वह आत्मा दीपककी तरह स्वमें और परमें विद्यमान सामान्य और विशेषको जानता है। इसलिए अभेद दृष्टिसे वही प्रमाण है।

शंका—यदि दर्शन बाह्य विषयको नहीं जानता तो वह अन्धेके तुल्य हुआ। अतः सभी मनुष्य अन्धे ठहरेंगे?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाह्य विषयमें दर्शनकी प्रवृत्ति नहीं होनेपर भी आत्मा ज्ञानके द्वारा विशेष रूपसे सबको जानता है। इतना विशेष है कि जब दर्शन आत्माको ग्रहण करता है तो आत्माका अविनाभावी ज्ञान भी गृहीत हो जाता है और ज्ञानके गृहीत होनेपर ज्ञानकी विषयभूत बाह्य वस्तु भी गृहीत हो जाती है।

शंका—यदि आत्माके ग्राहकको दर्शन कहते हैं तो 'जं सामण्णं ग्रहणं भावाणं' इत्यादि गाथाका अर्थ कैसे घटित होगा?

उत्तर—सामान्य ग्रहण अर्थात् आत्मग्रहणको दर्शन कहते हैं क्योंकि आत्मा वस्तुओंको जानते समय 'मैं अमुकको जानूँ और अमुकको न जानूँ, इस प्रकारका विशेष पक्षपात नहीं करता, किन्तु सामान्य रूपसे वस्तु मात्रको जानता है अतः सामान्य शब्दसे आत्मा कहा जाता है।

अधिक कहनेसे क्या? यदि कोई न्याय और सिद्धान्तके अभिप्रायको जानकर

तथा एकान्त रूप दुराग्रहको छोड़कर मध्यस्थता धारण करके नयभेदसे व्याख्यान करे तो दोनों ही अर्थ घटित होते हैं। जिसका खुलासा इस प्रकार है—न्याय-शास्त्रमें मुख्य रूपसे अन्य दर्शनोंका कथन रहता है। अब यदि कोई अन्य मताव-लम्बी पूछता है कि जैन सिद्धान्तमें दर्शन और ज्ञान ये दो गुण जीवके बतलाये हैं ये कैसे घटित होते हैं ? तो उसको यदि यह कहा जाये कि आत्माके ग्राहकको दर्शन कहते हैं तो वह समझ नहीं सकता था। अतः आचार्योंने उनको समझानेके लिए 'दर्शन' का स्थूल व्याख्यान करके बाह्य विषयमें जो सामान्य सत्ताका अवलोकन होता है उसकी तो 'दर्शन' संज्ञा रखी और जो 'यह शुक्ल है' इत्यादि विशेषका बोध होता है उसकी ज्ञान संज्ञा रख दी। इसलिए कोई दोष नहीं है। किन्तु सिद्धान्तमें मुख्य रूपसे अपने धर्मका कथन होता है। अतः उसमें आचार्योंने सूक्ष्म कथन करते हुए आत्माके ग्राहकको दर्शन कहा। अतः इसमें भी कोई दोष नहीं है।"

दर्शनपूर्वक अवग्रह ज्ञानके होने और अवग्रहके स्वरूपमें मान्यता-भेद होनेसे प्रसंगवश दर्शनके स्वरूपके विषयमें भी मतभेदकी चर्चा करनी पड़ी। अब प्रकृत चर्चापर आनेके लिए यहाँ हम दर्शनके विषयमें ही जयधवला[1] से भी एक चर्चाको उद्धृत करते हैं। जो इस प्रकार है—

शंका—यदि ऐसा है तो अनाकार उपयोग भी मतिज्ञान हो जायेगा क्योंकि जिस पदार्थको लेकर अनाकार दर्शन होता है उसीको लेकर मतिज्ञान होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन माना है इसलिए एक पदार्थको आलम्बन मानकर दर्शनोपयोगको जो मति-ज्ञानत्वकी प्राप्तिका प्रसंग दिया है वह नहीं रहता।

शंका—दर्शनोपयोगका विषय अन्तरंग पदार्थ है यह कैसे जाना ?

समाधान—यदि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरंग पदार्थ न माना जाये तो वह अनाकार नहीं बन सकता।

शंका—अव्यक्त ग्रहणको अनाकार ग्रहण कहते हैं ऐसा अर्थ क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि निरावरण होनेसे केवलदर्शनका स्वभाव व्यक्त ग्रहण करनेका है। अब यदि अव्यक्त ग्रहणको ही अनाकारग्रहण मान लिया जाता है तो केवलदर्शनके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। अतः विषय और

---

१. भाग १, पृ० ३३७।

विषयीके सम्पातके पहले ही अन्तरंगको विषय करनेवाला दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, अन्यथा वह अनाकार नहीं हो सकता।"

आचार्य विद्यानन्दने तो अपने [1]श्लोकवार्तिकमें आत्ममात्र ग्रहण रूप दर्शनका खण्डन किया है। इस तरह मान्यताभेद अथवा दृष्टिभेदसे दर्शनके स्वरूपमें अन्तर है किन्तु वह अन्तर केवलदर्शनकी परिभाषा तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु उसका प्रभाव दर्शनके अनन्तर होनेवाली ज्ञानकी प्रक्रियाके क्रमपर भी पड़ता है। और इसीलिए इस चर्चाको यहाँ इतने विस्तारसे दिया गया है।

यदि दर्शनका विषय अन्तरंग पदार्थ है और वह उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त है तो बाह्य विषयके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होनेसे पहले ही दर्शन होना चाहिए जैसा जयधवला टीकामें लिखा है। किन्तु यदि दर्शनका विषय सत्ता सामान्य है तो वह विषय और विषयीके सम्पातके समय होना चाहिए जैसा सर्वार्थसिद्धिमें या तत्त्वार्थवार्त्तिकमें लिखा है। यदि बाह्य विषयके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होनेसे पहले दर्शन होता है तो बाह्य विषयके साथ इन्द्रियके सम्बन्धको व्यंजनावग्रह और फिर उसके अनन्तर होनेवाले अर्थग्रहणको अर्थावग्रह माना जा सकता है जैसा कि श्वेताम्बर आगमोंकी मान्यता है। किन्तु दिगम्बर मान्य आगमोंमें जो दर्शनकी परिभाषा पायी जाती है श्वेताम्बर परम्परामें उसकी कोई चर्चा नहीं है।

सिद्धसेनका मत

इसी प्रसंगमें आचार्य सिद्धसेनका मत भी विचारणीय है। आपने सन्मतितर्क नामक अपने ग्रन्थमें दर्शनका विषय सामान्य और ज्ञानका विषय विशेष बतलाया है किन्तु आप अस्पृष्ट और अविषय अर्थके ज्ञानको दर्शन कहते हैं। अर्थात् 'अस्पृष्ट[2] अर्थमें चक्षुके द्वारा जो बोध होता है वह चक्षुदर्शन है। तथा इन्द्रियोंके अविषय परमाणु आदिमें मनके द्वारा जो बोध होता है वह अचक्षुदर्शन है।

आशय यह है कि चक्षु अस्पृष्टग्राही है अतः उससे होनेवाला ज्ञान ही चक्षुदर्शन कहा जाता है। तथा 'अचक्षुदर्शन' से वे केवल मानस दर्शन ही लेते हैं। क्योंकि चक्षुकी तरह मन भी अप्राप्यकारी है अतः वह भी अस्पृष्टग्राही है। इन्हीं दोनोंसे व्यंजनावग्रह नहीं होता। अतः सिद्धसेनके मतसे व्यंजनावग्रहके अविषयभूत अर्थका ग्रहण ही दर्शन है।

---

१. पृ० २२०, सू० १–१५।

२. 'णाणं अपुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होई। मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु॥ २–२५॥' स० त०।

सिद्धसेनके सन्मतिसूत्र या सन्मतितर्कपर दिगम्बराचार्य सुमतिदेवकी एक टीका[1] थी, जो अनुपलब्ध है। बौद्धाचार्य कमलशीलने [2]तत्त्वसंग्रह (प्रत्यक्ष परीक्षा) की टीकामें 'सुमतेर्दिगम्बरस्य' लिखकर दिगम्बराचार्य सुमतिके मतका निर्देश किया है जिसके अनुसार सुमतिने कुमारिलके मतकी आलोचना की है। सन्मतितर्कपर ईसाकी दसवीं शताब्दीके श्वेताम्बराचार्य अभयदेवकी टीका वर्तमानमें उपलब्ध है। उन्होंने अपनी टीकामें सिद्धसेनके अभिप्रायके अनुसार पाँच ज्ञानों और चार दर्शनोंका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

'यद्यपि[3] प्रमाण और प्रमेय, दोनों ही सामान्य-विशेषात्मक हैं किन्तु छद्मस्थ अवस्थामें दर्शनोपयोगके समय ज्ञानोपयोग नहीं हो सकता। अतः अप्राप्यकारी चक्षु और मनसे होनेवाले अर्थावग्रह आदि मतिज्ञानके उपयोगसे पूर्ववर्ती अवस्थाको चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन कहते हैं। और रूप आदिको ग्रहण करने रूप अवग्रह आदि परिणतिको मतिज्ञान कहते हैं। वाक्यको सुननेके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। चक्षु आदि बाह्य निमित्तकी अपेक्षा बिना रूपी द्रव्यको ग्रहण करनेकी परिणति-विशेषको अवधिज्ञान कहते हैं। तथा रूपी द्रव्य सामान्यका पर्यालोचन करनेवाली उसी परिणतिविशेषको अवधिदर्शन कहते हैं। अढ़ाई द्वीप और समुद्रके अन्तर्वर्ती समस्त मनोविकल्पोंको इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ग्रहण करने रूप परिणतिको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। ये सभी ज्ञान और दर्शन अपने-अपने आवरणके क्षयोपशमसे होते हैं। किन्तु अनन्तज्ञान स्वभाव आत्माका थोड़ा-थोड़ा जान लेना ही वास्तविक रूप नहीं है। उसका वास्तविक रूप तो एक केवलज्ञान है जो सामान्य-विशेषात्मक समस्त वस्तुओंको एक साथ जानता है। अतः किन्हीने जो ऐसा व्याख्यान किया है—'अवग्रह रूप मतिज्ञान दर्शन है और वही ईहादि रूप होनेपर ज्ञान कहा जाता है। इससे भिन्न और कोई ग्राहक नहीं है जैसे, एक ही सर्प फण उठानेपर और फणको गिरा लेनेपर भी एक ही है वैसे ही एक ही बोध दर्शन और मतिज्ञान कहा जाता है ऐसा सूत्रकारका अभिप्राय है।' यह व्याख्यान असंगत है। क्योंकि यह आगम और युक्तिके विरुद्ध है।'

'दर्शन और ज्ञानमें सर्वथा अभेद मानने पर पहले अवग्रहरूप दर्शन और फिर ईहा आदि ज्ञान होते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह कथन तो दोनोंमें

---

१. 'नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम्। सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥ २२ ॥ —पार्श्वनाथचरित (वादिराज)।

२. तत्त्वसंग्रह, पृ० ३७९।

३. सन्मति० टी०, पृ० ६२०।

कथंचित् भेद मानकर ही हो सकता है। हाँ, आत्मरूपकी अपेक्षा तो दर्शन और ज्ञानमें अभेद मानते ही हैं; क्योंकि ज्ञान भी आत्म-रूप है और दर्शन भी आत्म-रूप है। किन्तु एक ही मतिज्ञान दर्शन और ज्ञानरूप नहीं हो सकता। यदि अवग्रहको दर्शन माना जायेगा तो शास्त्रमें जो अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त ज्ञानको मतिज्ञान कहा है उसका व्याघात होगा। और यदि अवग्रहको दर्शन नहीं माना जायेगा तो 'अवग्रह मात्र ही दर्शन है' इस कथनका विरोध होगा। अतः अवग्रहसे भिन्न दर्शनको मानने अथवा न माननेपर आगम-विरोध आता है। क्योंकि आगममें मतिज्ञानके अट्ठाईस भेदोंसे दर्शनको भिन्न माना है। अतः छद्मस्थ दशामें ज्ञान ही दर्शन कैसे हो सकता है?'

अभयदेव सूरिके इस व्याख्यानको दूसरे श्वेताम्बराचार्य यशोविजयने अर्धजरती न्यायकी उपमा दी है। बूढ़ी स्त्रीके आधे अंगको तो कामीजन पसन्द करते हैं और आधे अंगको पसन्द नहीं करते। इसका नाम अर्धजरती न्याय है। यशोविजय लिखते हैं—'प्राचीनता[1] प्रेमके आग्रहवश श्रोत्रादि ज्ञानसे पहले भी दर्शनको मानना वर्जित नहीं है। किन्तु व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रहके बीचमें दर्शन नहीं होता और न ऐसा उल्लेख ही है कि इन दोनोंके मध्यमें दर्शन होता है। आगममें तो व्यंजनावग्रहके अन्तिम क्षणमें अर्थावग्रहकी ही उत्पत्ति बतलायी है। तथा व्यंजनावग्रहसे पहले दर्शनकी कल्पना करना तो अत्यन्त अनुचित है। ऐसा होनेपर तो दर्शन इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे भी निकृष्ट होनेसे अनुपयोग रूप ही हो जायेगा। और जब प्राप्यकारी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें दर्शन नहीं माना जाता तो अन्यत्र उसको ज्ञानसे भिन्न माननेमें कोई भी प्रमाण नहीं है। 'अस्पृष्ट विषयके ज्ञानको ही दर्शन कहते हैं' इस कथनसे सिद्धसेनने दर्शनको ज्ञानसे अभिन्न ही बतलाया है। यदि छद्मस्थके ज्ञानोपयोगमें दर्शनोपयोगको हेतु माना जायेगा तो 'चक्षुसे ही दर्शन होता है, अन्यत्र नहीं होता' इसपर कैसे विश्वास किया जायेगा। अतः श्री सिद्धसेनाचार्यके द्वारा प्रतिपादित नये मतके अनुसार कहीं भी ज्ञान और दर्शनमें कालभेद नहीं है। किन्तु व्यंजनावग्रहके द्वारा विषय न किये गये अर्थका प्रत्यक्ष ही दर्शन है।"

आशय यह है कि आचार्य सिद्धसेन दर्शनमें और ज्ञानमें भेद नहीं मानते। उनका तर्क है कि दर्शनके भेदोंमें-से एक भेदका नाम चक्षुदर्शन है। चक्षु अप्राप्यकारी है इसीसे उससे व्यंजनावग्रह नहीं माना, केवल अर्थावग्रह माना है। एक

---

१. ज्ञानबिन्दु, पृ० ४६।

ओर चक्षुसे व्यंजनावग्रहका न होना और दूसरी ओर दर्शनके एक भेदका नाम स्पर्शन दर्शन या श्रोत्रदर्शन न रखकर चक्षुदर्शन रखना क्या कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता ? दर्शनके दूसरे भेदका नाम अचक्षुदर्शन है। इस अचक्षुदर्शनमें चक्षु इन्द्रियके सिवा अन्य सभी इन्द्रियों और मनसम्बन्धी दर्शनका संग्रह माना जाता है। किन्तु आचार्य सिद्धसेन अचक्षुदर्शनमें केवल मनसम्बन्धी दर्शनका ही ग्रहण करते हैं; क्योंकि चक्षुकी तरह मन भी अप्राप्यकारी है अतः उससे भी व्यंजनावग्रह नहीं होता। इसीसे उन्होंने व्यंजनावग्रहके द्वारा विषय न किये गये अर्थके प्रत्यक्ष को ही दर्शन कहा है। दर्शनकी यह परिभाषा नयी है, इसीसे यशोविजयजीने इसे नव्यमत कहा है।

हम पहले लिख आये हैं कि अकलंकदेवने अवग्रहसे दर्शनको जुदा बतलाया है। सिद्धसेनके सन्मति सूत्र तथा उसकी व्याख्याको देखनेसे पता चलता है कि सिद्धसेनके पहले एक मत अवग्रहको ही दर्शन मानता था। किन्तु सिद्धसेन तथा अकलंक दोनोंको ही यह मत मान्य नहीं था अतः दोनोंने ही इस मतकी आलोचना की है।

इस तरह दर्शन और अवग्रहके विषयमें जैन परम्परामें मतभेद है। इस विषयपर गम्भीरतासे अध्ययन होनेकी आवश्यकता है।

ईहा आदिका स्वरूप

अवग्रहसे गृहीत अर्थमें विशेष जाननेकी आकांक्षा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे यदि चक्षुके द्वारा शुक्ल रूपको ग्रहण किया तो यह शुक्ल रूप क्या वस्तु है ? कोई पताका है अथवा बगुलोंकी पंक्ति है ? अथवा यदि पुरुषका अवग्रह ज्ञान हुआ तो यह पुरुष किस देशका है, किस उम्रका है आदि जाननेकी आकांक्षा ईहा है। श्वेताम्बरीय मान्यताके अनुसार शब्दको सुनकर 'यह शब्द होना चाहिए' इस प्रकारकी जिज्ञासाका होना ईहा है। ईहा ज्ञान संशय रूप नहीं है। एक वस्तु में परस्परमें विरुद्ध अनेक अर्थोंके ज्ञानका नाम संशय है। यह संशय अवग्रहके पश्चात् और ईहासे पहले होता है। संशयके दूर होनेपर जब ज्ञान निश्चय के अभिमुख होता है तो उसीको ईहा कहते हैं। जैसे पुरुषका अवग्रह होनेपर यह दाक्षिणात्य है अथवा उत्तरीय है इत्यादि संशय होता है। इसके पश्चात् जब वह निश्चयोन्मुख होता है कि अमुक होना चाहिए, वह ईहा है। ऊपर जो 'यह पताका है अथवा बगुलोंकी पंक्ति है' यह कहा है सो वह ईहा ज्ञानसे होनेवाले विकल्पोंको दृष्टान्त-द्वारा बतलाया है। ईहाके होते-होते तो उनमें-से एक ही

विकल्प रह जाता है कि यह बगुलोंकी पंक्ति होनी चाहिए।

विशेष धर्मोंको जानकर यथार्थ वस्तुका निर्णय होना[1] अवाय ज्ञान है। जैसे पंखोंके फड़फड़ाने आदिसे यह निर्णय करना कि यह बगलोंकी पंक्ति ही है। अवायसे निर्णीत वस्तुको कालान्तरमें न भूलनेमें जो ज्ञान कारण है उसे धारणा कहते हैं। जैसे सायंकालके समय सुबहवाली बगुलोंकी पंक्तिको लौटती हुई देखकर जो यह ज्ञान होता है कि 'यह वही बगुलोंकी पंक्ति है जिसे मैंने सुबह देखा था'। इस प्रकारके ज्ञानका कारणभूत जो संस्कार रूप ज्ञान है वही धारणा है। इसीसे [2]अकलंकदेवने स्मृति ज्ञानके कारणको धारणा कहा है। और श्वेताम्बराचार्य हेमचन्दने उसीका अनुसरण करते हुए स्मृतिके हेतुको धारणा कहा है और लिखा है कि संख्यात अथवा असंख्यात काल तक ज्ञानके अवस्थानका नाम धारणा[3] है। अर्थात् अवग्रह, ईहा, और अवाय ज्ञानका काल तो एक-एक अन्त-

१. तत्त्वार्थ सूत्रके श्वेताम्बर सम्मत सूत्रपाठमें 'अपाय' शब्दका प्रयोग है और दिगम्बर सम्मत सूत्रपाठमें अवाय शब्द है। अकलंक देवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें (११।५) यह चर्चा उठायी है कि यह शब्द अपाय है अथवा अवाय है? और उसका यह समाधान किया है कि दोनों ही शब्द ठीक हैं—एकके प्रयोगसे दूसरेका ग्रहण स्वयं हो जाता है। जैसे जब 'यह दाक्षिणात्य नहीं है' इस तरह अपाय अर्थात् निषेध करता है तो 'यह उत्तरीय है' यह अवाय अर्थात् ज्ञान करता है और जब 'यह उत्तरीय है' यह ज्ञान करता है तब 'यह दाक्षिणात्य नहीं है' यह अवाय-निषेध करता है। दोनों परम्पराओंके दार्शनिकोंमें अवाय शब्दका ही प्रयोग पाया जाता है।

२. लघीयस्त्रय, का० १-६।

३. जिनभद्र गणिने अपने विशे० भा० में अविच्युति, वासना, संस्कार और स्मृतिको भी धारणा बतलाया है। उनका अनुसरण करते हुए वादिदेव सूरिने अपने स्याद्वाद रत्नाकर (पृ० ३४९) में विद्यानन्दके 'स्मृतिहेतुर्धारणा' इस लक्षणका खण्डन किया है। उनका कहना है कि-'धारणा ज्ञान स्मृति काल तक नहीं रह सकता; क्योंकि परमागममें छद्मस्थके उपयोगका काल अन्तमुहूर्त बतलाया है; अतः स्मृतिका साक्षात् कारण ज्ञाताकी एक शक्ति-विशेष है जिसे संस्कार भी कहते हैं। धारणा ज्ञान तो उसी समय समाप्त हो जाता है। अतः उसे परम्परासे स्मृतिका हेतु कह सकते हैं।' किन्तु हेमचन्द्राचार्यने अपनी प्रमाण मीमांसामें 'स्मृतिहेतुर्धारणा'। १।१।२९। इस अकलंकदेव सम्मत लक्षणको ही अपनाकर उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'यद्यपि पूर्वाचार्योंने अविच्युतिको धारणा कहा है किन्तु उसका अन्तर्भाव अवायमें हो जाता है, क्योंकि अवायकी दीर्घताका नाम ही तो अविच्युति है। अथवा वही अविच्युति स्मृतिमें हेतु है इसलिए उसका ग्रहण धारणामें हो जाता है। क्योंकि अविच्युतिके बिना अवाय मात्रसे स्मृति नहीं होती। अतः इसके द्वारा स्मृतिके हेतु अविच्युति और संस्कार दोनोंका ग्रहण हो जाता

मुहूर्त है। किन्तु धारणाका काल संख्यात अथवा असंख्यात है।

ये अवग्रह आदि चारों ज्ञान इसी क्रमसे होते हैं, इनकी उत्पत्तिमें कोई व्यतिक्रम नहीं होता। क्योंकि अदृष्टका अवग्रह नहीं होता, अनवगृहीतमें सन्देह नहीं होता, सन्देहके हुए बिना ईहा नहीं होती, ईहाके बिना अवाय नहीं होता और अवायके बिना धारणा नहीं होती। किन्तु जैसे कमलके सौ पत्तोंको ऊपर नीचे रखकर सुईसे छेदनेपर ऐसी प्रतीति होती है कि सारे पत्ते एक ही समयमें छेदे गये यद्यपि वहाँ कालभेद है, अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे हमारी दृष्टिमें नहीं आता, वैसे ही अभ्यस्त विषयमें यद्यपि केवल अवाय ज्ञानकी ही प्रतीति होती है फिर भी उससे पहले अवग्रह और ईहा ज्ञान बड़ी द्रुत गतिसे हो जाते हैं। इससे उनकी प्रतीति नहीं होती।

यह भी कोई नियम नहीं है कि इनमें-से पहला ज्ञान होनेपर आगेके सभी ज्ञान होते ही हैं। कभी केवल अवग्रह ही होकर रह जाता है, कभी अवग्रहके पश्चात् संशय होकर ही रह जाता है, कभी अवग्रह, संशय और ईहा ही होते हैं, कभी-कभी अवग्रह, संशय, ईहा और अवाय ज्ञान ही होते हैं, और कभी धारणा तक होते हैं। ये सभी ज्ञान एक चैतन्यके ही विशेष हैं। किन्तु ये सब क्रमसे होते हैं तथा इनका विषय भी एक दूसरेसे अपूर्व अपूर्व है अतः ये सब आपसमें भिन्न-भिन्न माने जाते हैं।

मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद

अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों ज्ञान मन तथा पाँचों इन्द्रियोंके निमित्तसे होते हैं अतः प्रत्येकके छह-छह भेद होनेसे चारोंके चौबीस भेद होते हैं और व्यंजनावग्रह केवल चार ही इन्द्रियोंके निमित्तसे होता है। अतः सब मिलकर मतिज्ञानके २८ भेद होते हैं। तथा ये सभी मतिज्ञान बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव व इनके प्रतिपक्षी एक अथवा अल्प, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त और अध्रुव इन बारह प्रकारके विषयोंको जानते हैं। अतः विषयकी अपेक्षा प्रत्येक ज्ञानके बारह-बारह भेद होनेसे मतिज्ञानके समस्त भेद २८ × १२ = ३३६

है।' आशय यह है कि अवाय ज्ञानके पश्चात् अविच्युति होती है। एक पदार्थ-विषयक उपयोगके लगातार बने रहनेका नाम अविच्युति है। और अवायका जो संस्कार बना रहता है जो कि स्मृतिमें कारण होता है उसे वासना कहते हैं। अकलंक आदि दिगम्बराचार्योंके अनुसार भी स्मृतिका कारण संस्कार ही धारणा है जो वास्तवमें ज्ञानरूप है। अतः हेमचन्द्राचार्यने वादिदेवसूरिकी तरह जो उनके मतका निरसन न करके सयुक्तिक समर्थन किया है वह उचित ही है।

तीन सौ छत्तीस होते हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—कोई पुरुष अनेक शब्दोंको सुनकर उन सबको जान लेता है यह बहुका ज्ञान है। कोई क्षयोपशमकी मन्दताके कारण उनमें-से किसी एक ही शब्दको जानता है यह एक अथवा अल्पका ज्ञान है। कोई श्रोता एक-एक शब्दके अनेक भेद-प्रभेदोंको जान लेता है यह बहुविधका ज्ञान है। कोई उन अनेक शब्दोंमें-से किसी एक शब्दके ही भेद-प्रभेदोंको जान पाता है यह एकविधका ज्ञान है। कोई शब्दको जल्दी जान लेता है यह क्षिप्रज्ञान है और कोई क्षयोपशमकी मन्दता होनेसे देरमें जानता है यह अक्षिप्रज्ञान है। अथवा शीघ्रतासे गिरती हुई जलधाराके प्रवाहको जानना क्षिप्रज्ञान है और धीरे-धीरे चलते हुए घोड़े वगैरहको जानना अक्षिप्रज्ञान है। किसी वस्तुके एकदेशको देखकर पूरी वस्तुको जान लेना अनिसृत[1] ज्ञान है, जैसे हाथीकी सूँडको देखकर जलमें डूबे हुए हाथीको जान लेना। और पूरी वस्तुको देखकर उसे जानना निसृत है। बिना कहे अभिप्रायसे ही पूरी बातको जान लेना अनुक्त ज्ञान है और कहनेपर जानना उक्त ज्ञान है। प्रथम समयमें शब्द वगैरहका जैसा ज्ञान हो दूसरे समयमें भी वैसाका वैसा ही बना रहे, न घटे और न बढ़े, उसे ध्रुव ज्ञान कहते हैं। और कभी बहुका, कभी बहुविधका, कभी एकका और कभी एकविधका ज्ञान होना अध्रुव ज्ञान है अथवा चिरस्थायी पर्वत वगैरहके ज्ञानको ध्रुवज्ञान कहते हैं।

शंका—बहु[2] और बहुविधमें क्या भेद है?

उत्तर—बहुत व्यक्तियोंके जाननेको बहुज्ञान कहते हैं जैसे बहुत-सी गायोंको जानना। और बहुत जातियोंके जाननेको बहुविध ज्ञान कहते हैं जैसे खण्डी, मुण्डी, सांवली आदि अनेक जातियोंकी गायोंको जानना। तथा एक व्यक्तिको जानना एक ज्ञान है जैसे यह गौ है। और एक जातिको जानना एकविध है जैसे यह खण्डी गौ है।

शंका—उक्त और निसृतमें क्या भेद है?

---

१. श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अनिसृतके स्थानपर 'अनिश्रित' और अनुक्तके स्थानपर निश्चित अथवा असंदिग्ध भेद है; बिना लिंग (चिह्न) के स्वरूपसे ही जान लेना अनिश्रित है। और लिंगसे जानना जैसे सूँडसे हाथीको जानना निश्रित है। संशयरहित जानना निश्चित अथवा असंदिग्धज्ञान है। और संशयात्मक जानना कि जाने यह ऐसा ही है अथवा अन्य रूप है' अनिश्चित ज्ञान है।

२. सर्वार्थ० और तत्त्वार्थवा०, सूत्र १–१६।

उत्तर—दूसरेके कहनेसे जो ज्ञान होता है वह उक्त है और स्वतः ही जान लेना निसृत है।

शंका—श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन, रसना ये चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं अर्थात् प्राप्त पदार्थको जानती हैं, अतः इनसे अनिसृत और अनुक्त शब्दादिका ज्ञान कैसे होगा।

उत्तर—जैसे चिउँटी वगैरहको घ्राण और रसना इन्द्रियसे दूरवर्ती गुड़ आदिकी गन्ध और रसका ज्ञान हो जाता है वैसे ही अनिसृत और अनुक्त शब्दादिका भी ज्ञान जानना चाहिए।

इनमें-से उक्तका सम्बन्ध केवल श्रोत्रेन्द्रियके साथ तो ठीक बैठ जाता है किन्तु अन्य इन्द्रियोंके साथ नहीं बैठता; क्योंकि जो बात शब्दके द्वारा कही जाये वही उक्त है और शब्द श्रोत्रेन्द्रियका विषय है। अकलंकदेवने इसे इस प्रकार घटित किया है—कोई आदमी दो रंगोंको मिलाकर कोई तीसरा रंग बनाना दिखला रहा है। उसके कहनेसे पहले ही उसके अभिप्रायको जान लेना कि आप इन दोनों रंगोंको मिलाकर अमुक रंग बनायेंगे, यह अनुक्त रूपका ज्ञान है और कहनेपर जानना उक्त रूपका ज्ञान है। चूँकि रूप चक्षुका विषय है अतः यह चक्षुविषयक उक्त और अनुक्त ज्ञान है। इसी तरह स्पर्श, रस, गन्धको लेकर स्पर्शन, रसना, और घ्राण इन्द्रियके साथ उक्त और अनुक्तको घटित कर लेना चाहिए।

अनिसृत ज्ञान और अनुमानादिक

अनिसृत ज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए श्री गोम्मटसार जीवकाण्डकी[1] टीकाओंमें लिखा है—'जलके बाहर निकली हुई हाथीको सूँडको देखकर जलमें डूबे हुए हाथीको जान लेना अनिसृत ज्ञान है। जिसके बिना जो नहीं होता उसको उसका साधन कहते हैं। जैसे अग्निके बिना धुआँ नहीं होता अतः अग्नि साध्य है और धूम साधन है। साधनसे साध्यके जाननेको अनुमान ज्ञान कहते हैं। ऊपरके दृष्टान्तमें सूँड़ साधन है और हस्ती साध्य है। सूँडसे हस्तीका ज्ञान हुआ अतः यह अनुमान ज्ञान है तथा स्त्रीके मुख अथवा गवयको देखकर चन्द्रमा अथवा गायका ज्ञान होना भी अनिसृत ज्ञान है। सो किसीको स्त्रीके मुखको देखकर चन्द्रमाका स्मरण हो आया क्योंकि मुखमें और चन्द्रमामें समानता है। अतः यह अनिसृत चन्द्रमाका ज्ञान स्मृति प्रमाण हुआ। इसी तरह जंगलमें 'गवय' पशुको देखते हो गौका स्मरण होनेपर 'गौके समान गवय'

---

१. गा० ३१३।

होता है। इस प्रकारका जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह भी अनिसृत ज्ञान है। तथा रसोई-घरमें अग्निके होनेपर ही धूमको देखा और तालाबमें अग्निके अभावमें धूमका भी अभाव देखा। यह देखकर यह जानना कि सब देश और सब कालोंमें अग्निके होनेपर ही धुआँ होता है और अग्निके अभावमें नहीं होता यह तर्क नामका ज्ञान है। इस तरह अनिसृत अर्थको विषय करनेवाले अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये चारों मतिज्ञान परोक्ष हैं; क्योंकि इनमें एक देश-से भी स्पष्टता नहीं है। इनके सिवा स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ और मनके द्वारा जो बहु बहुविध आदिका मतिज्ञान होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है क्योंकि उसमें एकदेशसे स्पष्टता पायी जाती है।'

ऊपर बतलाया है कि तत्त्वार्थ सूत्रमें स्मृति आदि ज्ञानोंको मतिज्ञानके ही अन्दर गिनाया है तथा मतिज्ञानको परोक्ष कहा है। किन्तु अकलंकदेवने एक-देश स्पष्ट इन्द्रियजन्य ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा और स्मृति आदिको परोक्ष प्रमाण कहा, क्योंकि उनमें थोड़ी-सी भी स्पष्टता नहीं होती। और स्पष्टता न होनेका कारण यह है कि इन ज्ञानोंका विषय इन्द्रियोंके सामने नहीं होता। अतः ये अनिसृतग्राही हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें अवग्रह ईहा आदि ज्ञानोंको भी अनिसृतग्राही बतलाया है और ये ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप मतिज्ञानके भेद हैं। अब प्रश्न होता है कि अनिसृत ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है अथवा परोक्ष है? गो० सा० के टीकाकारका तो कहना है स्मृति आदि अनिसृतग्राही ज्ञान तो परोक्ष है और शेष बहु आदिको विषय करनेवाले इन्द्रियजन्य ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। इससे ऐसा प्रकट होता है कि टीकाकार अनिसृतको अवग्रह आदि ज्ञानोंका विषय नहीं मानते। उन्होंने जो दृष्टान्तोंमें प्रयुक्त हाथी और चन्द्रमा आदिके ज्ञानको स्मृति आदि बतलाया है उससे तो यही प्रतीत होता है। किन्तु वैसा होनेसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके तीन सौ छत्तीस भेद नहीं हो सकते; क्योंकि उनके मतसे अनिसृतका ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु परोक्ष है। परन्तु मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद होनेमें फिर भी कोई बाधा नहीं आती क्योंकि जैनसिद्धान्तमें मतिज्ञानको परोक्ष माना है और स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि अनिसृतग्राही ज्ञान भी मतिज्ञानके ही प्रकार हैं। अतः मति-ज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेदमें कोई बाधा नहीं है।

शंका—[1]एक ज्ञान एक ही अर्थको जानता है, अनेक पदार्थोंको जाननेमें वह असमर्थ है अतः बहु, बहुविध ज्ञान नहीं बन सकता?

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक– १–१६ सू०।

उत्तर—यदि ऐसा माना जायेगा तो सदा एकका ही ज्ञान हुआ करेगा। जैसे, जंगलमें एक मनुष्यको देखकर एकका ही ज्ञान होता है, अनेक मनुष्योंका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही नगर, वन, सेनाका पड़ाव आदिमें जानेपर भी हमें सदा एकका ही ज्ञान होगा। और इस तरह अनेक अर्थोंको एक ज्ञानसे न जान सकनेके कारण नगर, वन, सेना आदि शब्दोंका व्यवहार ही लुप्त हो जायेगा; क्योंकि 'अनेक मकानोंके समूहका नाम नगर है, वृक्षों वगैरहके झुण्डको वन कहते हैं और हाथी-घोड़ों वगैरहके समूहका नाम सेना है। दूसरे, यदि एक ज्ञान अनेक पदार्थोंको नहीं जानता तो हाथकी अंगुलियोंमें जो छोटा-बड़ा व्यवहार होता है कि अमुक अँगुलिसे अमुक अँगुलि छोटी या बड़ी है यह आपेक्षिक व्यवहार समाप्त हो जायेगा। तीसरे, संशयका अभाव हो जायेगा; क्योंकि ज्ञानको एकार्थग्राही माननेपर या तो सीपका ही ज्ञान होगा या चाँदीका ही ज्ञान होगा। एक साथ दोनोंका ज्ञान तो हो नहीं सकता। यदि केवल सीपका ही ज्ञान होगा तो उस समय चाँदोका ज्ञान न होनेसे 'यह सीप है या चाँदी' यह संशय नहीं हो सकता। यदि केवल चाँदीका ही ज्ञान होगा तो भी सीपका ज्ञान न होनेसे संशय नहीं हो सकता। चौथे, सब कार्य अनियमित रूपसे होने लगेंगे। जैसे, कोई चित्रकार एक चित्र बनाता है चित्र बनाते समय उसे चित्रकी रूपरेखा, उसके उपकरण और उनकी क्रिया वगैरहका ज्ञान रहना आवश्यक है। अब यदि ज्ञान एक ही अर्थको जानता है तो एक समयमें एक ही बातका ज्ञान होनेसे उसका चित्र कुछका कुछ बन जायेगा। जब वह कूँचीको जानेगा तो रंगको भूल जायेगा, रंगको जानेगा तो कूँचीका ज्ञान नहीं होगा और न चित्रकी रूपरेखाका। पाँचवें, ज्ञानको एकार्थग्राही माननेसे 'ये दो हैं' 'ये तीन हैं' यह ज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि एक ज्ञान दो तीन पदार्थोंको विषय नहीं कर सकता। अतः ज्ञानको अनेकार्थोंका ग्राहक भी मानना ही चाहिए। अतः बहु बहुविध ज्ञानके होनेमें कोई रुकावट नहीं है।

इस तरह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका कथन समाप्त किया जाता है। आगे मुख्य प्रत्यक्षका वर्णन करते हैं जो ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायताके बिना केवल आत्मासे ही होता है उसे मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है उसके दो भेद हैं—देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। देश[1] प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—एक अवधिज्ञान और एक मनःपर्यय ज्ञान।

---

१. 'देशप्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययज्ञाने।'– सर्वार्थ० १–२०।

अवधिज्ञान

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाको लिये हुए, रूपी द्रव्योंको जो बिना इन्द्रिय आदिकी सहायताके स्पष्ट जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिका अर्थ है, पुद्गलोंको जाननेवाला। तथा अवधिका अर्थ मर्यादा भी होता है।

कारणकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके दो भेद हैं—एक भवप्रत्यय और दूसरा गुणप्रत्यय। यद्यपि सभी अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर ही होते हैं फिर भी जो क्षयोपशम भवके निमित्तसे होता है उससे होनेवाले ज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं।[1] जैसे पक्षीगण जो आकाशमें उड़ते हैं उनके उड़नेमें पक्षी कुलमें जन्म लेना ही कारण है, उन्हें उड़नेकी शिक्षा नहीं दी जाती। इसी तरह देवों और नारकियोंके व्रत नियम वगैरह नहीं होनेपर भी सबको जन्मसे ही अवधिज्ञान होता है। इतना विशेष है कि उनमें जो सम्यग्दृष्टि होते हैं उनके अवधिज्ञान होता है और जो मिथ्यादृष्टि होते हैं उनके कुअवधिज्ञान होता है। अतः वहाँ भव ही प्रधान कारण है इसलिए उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

तथा सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे जो क्षयोपशम होता है उससे होनेवाले अवधिज्ञानको गुणप्रत्यय कहते हैं। इसका दूसरा नाम क्षयोपशम[2] निमित्तक भी है क्योंकि इसके होनेमें क्षयोपशम ही कारण होता है, भव कारण नहीं है। यह अवधिज्ञान तिर्यञ्च और मनुष्योंके होता है।

विषयकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों प्रकारका होता है। देशावधिका उत्कृष्ट विषय[3], क्षेत्रकी अपेक्षा सम्पूर्ण लोक, कालकी अपेक्षा एक समय कम पल्य, द्रव्यकी अपेक्षा ध्रुवहारसे एक बार भाजित कार्मणवर्गणा और भावकी अपेक्षा द्रव्यकी असंख्यात लोक प्रमाण पर्यायें हैं। अर्थात् उत्कृष्ट देशावधिज्ञान सम्पूर्ण लोकाकाशमें वर्तमान कार्मणवर्गणामें एक बार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो प्रमाण आये उतने परमाणुओंके स्कन्धोंको अथवा उनसे स्थूल स्कन्धोंको जानता है। तथा उन स्कन्धोंकी, एक समय कम एक पल्यप्रमाण अतीतकालमें और उतने ही अनागत कालमें अपने जानने योग्य जो व्यंजन पर्याय हों उनको जानता है। और भावकी अपेक्षा उन स्कन्धोंकी असंख्यात लोक प्रमाण अर्थ पर्यायोंको जानता है।

---

१. सर्वार्थसि०, १–२१।

२. सर्वार्थ०– १–२२।

३. अवधिज्ञानके विषयका विस्तृत कथन जाननेके लिए देखिए—षट्खण्डागम पु० १३, पृ० २९०–३२८। तथा गो० जीवकाण्ड गा० ३७०–४३७।

उत्कृष्ट देशावधिके पश्चात् परमावधिज्ञान प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट देशावधिसे ऊपर और सर्वावधिके नीचे अवधिज्ञानके जितने विकल्प हैं वे सब परमावधिके भेद हैं। अवधिज्ञानका सबसे उत्कृष्ट भेद सर्वावधि कहलाता है। यह सर्वावधि परमाणु तकको जानता है। उत्कृष्ट देशावधि संयमी मनुष्यके ही होता है और परमावधि तथा सर्वावधि उसी मुनिके होते हैं जो उसी भवसे मोक्ष जाता है। जघन्य देशावधि मनुष्यों और तिर्यंचोंके होता है। तथा देशावधिके मध्यम भेद चारों गतियोंके जीवोंके यथायोग्य होते हैं।

अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, प्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र, अनेकक्षेत्रके भेदसे अवधिज्ञानके और भी भेद हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी है। इसके तीन भेद हैं—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी, और क्षेत्रभवानुगामी। जो अवधि अपने स्वामी जीवके एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जानेपर उसके साथ जाता है वह क्षेत्रानुगामी है। जो अपने स्वामी जीवके साथ एक भवसे दूसरे भवमें जाता है वह भवानुगामी है। और जो क्षेत्रान्तर तथा भवान्तरमें भी साथ नहीं छोड़ता वह क्षेत्रभवानुगामी है। जो अवधिज्ञान जीवके साथ नहीं जाता वह अननुगामी है। इसके भी क्षेत्राननुगामी भवाननुगामी, और क्षेत्रभवाननुगामी इस तरह तीन भेद हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके समयसे लेकर केवलज्ञान उत्पन्न होनेतक बढ़ता जाता है वह वर्धमान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर घटता चला जाता है वह हीयमान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जन्मपर्यन्त अथवा केवलज्ञान होनेतक ज्योंका त्यों बना रहता है वह अवस्थित है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कभी घटता और कभी बढ़ता है वह अनवस्थित है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर समूल नष्ट हो जाता है वह प्रतिपाती है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञानके होनेपर ही नष्ट होता है वह अप्रतिपाती है। जिसको अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसके शरीरमें नाभिसे ऊपर श्रीवत्स आदि अनेक चिह्न बन जाते हैं। इनमें-से किसीके एक चिह्न और किसीके अनेक चिह्नोंसे अवधिज्ञान होता है, इन्हें एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र कहते हैं। देव, नारकियों और तीर्थंकरोंके अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान होता है। इन दस भेदोंमें-से भवप्रत्यय अवधिज्ञानमें अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अनेकक्षेत्र ये पाँच भेद होते हैं और गुणप्रत्यय अवधिज्ञानमें दसों भेद पाये जाते हैं। तथा देशावधिमें दसों भेद होते हैं, परमावधिमें हीयमान, प्रतिपाती और एकक्षेत्रको छोड़कर शेष सात भेद होते हैं। तथा सर्वावधिमें अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अप्रतिपाती और अनेकक्षेत्र ये पाँच भेद पाये

जाते हैं। परमावधि और सर्वावधिमें अननुगामी भेद भवान्तरकी अपेक्षासे कहा है; क्योंकि इन ज्ञानोंके धारक जीव दूसरा भव धारण नहीं करके मोक्ष चले जाते हैं।

मनःपर्ययज्ञान[1]

दूसरेके[2] मनोगत अर्थको मन कहते हैं; क्योंकि वह अर्थ मनमें रहता है। *उस मनोगत* अर्थको आत्माकी सहायतासे जो प्रत्यक्ष जानता है उस ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। अर्थात् किसी जीवने मनके द्वारा जिस सचेतन अथवा अचेतन अर्थका विचार किया है उसको आत्माके द्वारा मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। अथवा [3]मनकी पर्यायको मनःपर्यय कहते हैं। उसके सम्बन्धसे ज्ञान भी मनःपर्यय कहलाता है। अतः मनःपर्ययरूप जो ज्ञान है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं अर्थात् अर्थके निमित्तसे होनेवाली मनकी पर्यायोंको मनःपर्यय कहते हैं और उनके ज्ञानको मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यय ज्ञानके उक्त दोनों लक्षणोंमें अन्तर है। प्रथम लक्षण अथवा व्युत्पत्तिके अनुसार मनःपर्यय ज्ञान मनोगत अर्थको जानता है। किन्तु दूसरे लक्षण अथवा व्युत्पत्तिके अनुसार उस अर्थका विचार करनेसे जो मनकी दशा होती है उस दशा अथवा पर्यायोंको मनःपर्यय ज्ञान जानता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें दूसरा लक्षण ही मान्य है। [4]श्वेताम्बराचार्योंके अनुसार मनःपर्यय ज्ञान मनकी पर्यायोंको जानता है और मनकी उन पर्यायोंके आधारपर अनुमानसे उस बाह्य पदार्थको जानता है जिसका विचार करनेसे मनकी वे पर्यायें हुईं। इसीसे वे इसे मनःपर्ययज्ञान भी कहते हैं। दिगम्बर परम्परामें पहला लक्षण ही मान्य है। मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं—एक ऋजुमति और एक विपुलमति। ऋजुमति मनःपर्ययके ऋजुमनोगत, ऋजुवचनगत और ऋजुकायगत विषयकी अपेक्षा तीन

---

१. मनःपर्ययज्ञानका विशेष कथन जाननेके लिए षट्खण्डागम पु० १३, पृ० ३२८–३४४ देखें।

२. 'परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते साहचर्यात् तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः।' —सर्वार्थ०, १–१०।

३. 'मनसः पर्ययः मनःपर्ययः, तत्साहचर्याज्ज्ञानमपि मनःपर्ययः। मनःपर्ययश्च स ज्ञानं च तत् मनःपर्ययज्ञानम्। —ज० ध०, १ भा०, पृ० १६।

४. 'मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्ययज्ञानम्। मनःपर्यायानिदं साक्षात् परिच्छेत्तुमलम्, बाह्यानर्थान् पुनस्तदन्यथानुपपत्त्याऽनुमानेनैव परिच्छिनत्तीति द्रष्टव्यम्' —जैन तर्क०, पृ० ८।

भेद हैं। जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे स्पष्ट चिन्तन करनेवाले मनको ऋजुमन कहते हैं। जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे स्पष्ट कथन करनेवाले वचनको ऋजुवचन कहते हैं तथा जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसे अभिनयके द्वारा उसी रूपसे बतलानेवाले कायको ऋजुकाय कहते हैं। इस प्रकार जो सरल मनके द्वारा विचारे गये, सरल वचनके द्वारा कहे गये और सरल कायके द्वारा अभिनय करके दिखलाये गये मनोगत अर्थको जानता है वह ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान है। आशय यह है कि कोई मनुष्य मनके द्वारा स्पष्ट रूपसे किसी अर्थका विचार करता है, स्पष्ट रूपसे उसका कथन करता है और उसके लिए शारीरिक क्रिया भी करता है। किन्तु कालान्तरमें उस विचारे गये, कहे गये और किये गये अर्थको भूल जाता है। इस प्रकारके अर्थको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जान लेता है कि तुमने अमुक अर्थका इस रूपसे विचार किया था, इस रूपसे कहा था और इस रूपसे उसे किया था।

इस ऋजुमति मनःपर्ययकी उत्पत्तिमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रहती है। क्योंकि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी पहले ईहा मतिज्ञानके द्वारा दूसरेके अभिप्रायको जानकर फिर मनःपर्ययज्ञानके द्वारा दूसरेके मनमें स्थित चिन्ता, जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि वगैरहको जानता है। सारांश यह है कि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान वर्तमान जीवोंके वर्तमान मनसे सम्बन्ध रखनेवाले त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जानता है अतीत मन और आगामी मनसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंको नहीं जानता। कालकी अपेक्षा यह ज्ञान कमसे कम दो या तीन भवोंको जानता है। तथा अधिकसे अधिक वर्तमान भवको लेकर आठ भवोंको और वर्तमान भवके बिना सात भवोंको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा अधिकसे अधिक योजन पृथक्त्व और कमसे कम गव्यूति पृथक्त्व प्रमाण क्षेत्रमें स्थित विषयको जानता है। गव्यूति दो हजार धनुषका होता है। तथा यहाँ पृथक्त्वसे आठ लेना चाहिए। वैसे तीनसे लेकर नौ तककी संख्याको पृथक्त्व कहते हैं। अतः जघन्य ऋजुमति ज्ञान आठ गव्यूतिके घन प्रमाण क्षेत्रमें स्थित जीवोंके मनोगत विषयोंको जानता है। और उत्कृष्ट ऋजुमति ज्ञान आठ योजनके घनप्रमाण क्षेत्रमें स्थित जीवोंके मनोगत विषयोंको जानता है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान ऋजु और अनृजु मन, वचन और कायके भेदसे छह प्रकारका है। इनमें-से ऋजु मन, वचन और कायका अर्थ ऊपर कहा है। तथा जो मन, वचन और कायका व्यापार सरल रूप न होकर संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप होता है उसे अनृजु मन, वचन और काय कहते हैं।

दोलायमान ज्ञानको संशय कहते हैं। विपरीत चिन्तनका नाम विपर्यय है, और आधे चिन्तन और आधे अचिन्तनका नाम अनध्यवसाय है। विपुलमति चिन्तित विषयको तो जानता ही है, किन्तु अर्धचिन्तितको और जिसका आगे चिन्तन किया जायेगा ऐसे अचिन्तित विषयको भी जानता है। तथा यह ऋजुमतिज्ञानकी तरह ईहा मतिज्ञानपूर्वक भी नहीं होता। किन्तु एकदम अपने विषयको जान लेता है।

कालकी अपेक्षा जघन्य रूपसे सात-आठ भवोंको और उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात भवोंको विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है। और क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे योजन-पृथक्त्व और उत्कृष्टसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतर स्थित जीवोंके मनोगत विषयोंको जानता है। मानुषोत्तर पर्वतसे गोलाकार क्षेत्र न लेकर ४५ लाख योजनका घन-प्रतर रूप क्षेत्र लेना चाहिए। अर्थात् ४५ लाख योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा क्षेत्र जानना किन्तु ऊँचाई पैंतालीस लाखसे कम है अतः विपुलमति मनः-पर्ययज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रको घनरूप न कहकर घनप्रतर कहा है। इससे मानुषो-त्तर पर्वतके बाहर चारों कोनोंमें स्थित देवों और तिर्यंचोंके द्वारा चिन्तित विषय-को भी उत्कृष्ट विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है। धवलाटीकाके अनुसार जो उत्कृष्ट मनःपर्ययज्ञानी मानुषोत्तर पर्वत और मेरुपर्वतके मध्यमें मेरुपर्वतसे जितनी दूर होगा उस ओर उसी क्रमसे उसका क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वतके बाहर बढ़ जायेगा और दूसरी ओर मानुषोत्तर पर्वतसे उसका क्षेत्र उतना ही दूर रह जायेगा।

सकल प्रत्यक्ष

सकल[1] प्रत्यक्षको केवलज्ञान कहते हैं। क्योंकि वह असहाय होता है अर्थात् परनिरपेक्ष तथा एकाकी ही होता है। यह पूर्ण अतीन्द्रिय है। इस अतीन्द्रिय ज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है।

"अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणिदं ॥ ४१ ॥"

[प्रवचनसार—ज्ञानाधिकार]

अर्थात् जो अप्रदेशी परमाणु और कालाणुको, सप्रदेशी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म

१. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्। –सर्वार्थसि० पृ० १२।
'तत् द्वेधा–देशप्रत्यक्षं सकलप्रत्यक्षं च। देशप्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययज्ञाने। सर्वप्रत्यक्षं केवलम्।'–सर्वार्थसि० पृ० ६६।

और आकाश द्रव्योंको, मूर्तिक और अमूर्तिकको, अनागत तथा अतीत पर्यायोंको जानता है उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं।

अतः अतीन्द्रिय ज्ञानी सर्वज्ञ होता है।

सर्वज्ञत्व समीक्षा

मीमांसक किसी सर्वज्ञकी सत्ताको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह ईश्वरको नहीं मानता और जीवकी सर्वज्ञताका विरोधी है। वह वेदको अपौरुषेय और स्वतः-प्रमाण मानता है। शावरभाष्यमें लिखा[१] है कि वेद भूत, वर्त्तमान और भविष्य पदार्थोंका तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है।

जैन परम्परा प्रत्येक शुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्माको सर्वज्ञ, सर्वदर्शी मानती है। अतः सर्वप्रथम समन्तभद्राचार्यने अपने आप्तमीमांसा नामक प्रकरणमें सर्वज्ञकी सिद्धि तर्कपद्धतिके आधारपर करते हुए लिखा है कि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमेय हैं। जो-जो अनुमेय–अनुमान प्रमाणका विषय होता है, वह-वह प्रत्यक्ष भी देखा जाता है, जैसे अग्निको हम धूमके द्वारा अनुमानसे जानते हैं तो उसका प्रत्यक्ष भी होता है। शावरभाष्यके टीकाकार कुमारिलने अपने श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें जैनोंकी सर्वज्ञताविषयक मान्यताकी समीक्षा की है।

सर्वज्ञताके विषयमें कुमारिलका पूर्वपक्ष

कुमारिल कहते हैं कि जैनोंका[२] कहना है कि सर्वज्ञका बाधक कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए सर्वज्ञ अवश्य है। हमारा कहना है कि सर्वज्ञका साधक कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए सर्वज्ञ नहीं है। विशेष इस प्रकार है–[३]सर्वज्ञका साधक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि इस समय हम किसी भी सर्वज्ञको नहीं देखते। अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञका साधक नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञका अनुमापक कोई ऐसा लिंग दिखाई नहीं देता जिसको देखकर हम यह अनुमान कर सकें कि कोई सर्वज्ञ है। नित्य आगम जो वेद है, उसमें भी सर्वज्ञका कोई उल्लेख नहीं है; क्योंकि वेदका प्रधान विषय तो यज्ञ-याग आदि ही है, उसीमें वह प्रमाण माना जाता है। शायद कोई कहे कि वेदमें 'स सर्ववित् स लोकवित्'–हिरण्य-

---

१. 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्'–शावरभाष्य १-१-२।

२. अष्टसहस्री, पृ० ४५ आदि।

३. मी० श्लो० वा०, पृ० ८१–८२।

गर्भः सर्वज्ञः' इत्यादि वाक्य पाये जाते हैं, अतः वेदसे सर्वज्ञ सिद्ध होता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस तरहके वाक्य यागकी ही प्रशंसामें कहे गये हैं, अतः वे सर्वज्ञके साधक नहीं हैं। इसके सिवा सर्वज्ञ तो सादि है और वेद अनादि है। तब अनादि वेदमें सादिसर्वज्ञका कथन कैसे हो सकता है। अतः नित्य आगम भी सर्वज्ञका साधक नहीं है। रहा अनित्य आगम, तो वह सर्वज्ञ रचित है या किसी साधारण पुरुषका बनाया हुआ है? सर्वज्ञरचित आगमसे सर्वज्ञकी सिद्धि माननेपर परस्पराश्रय नामका दोष आता है; क्योंकि जब कोई सर्वज्ञ सिद्ध हो तो उसका रचित आगम सिद्ध हो और जब सर्वज्ञ रचित आगम सिद्ध हो तब सर्वज्ञ सिद्ध हो। साधारण पुरुषके द्वारा रचे गये आगमसे सर्वज्ञकी सिद्धि हो नहीं सकती, क्योंकि ऐसा आगम सच्चा नहीं माना जा सकता। अतः आगम प्रमाणसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि सम्भव नहीं। उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञका साधक नहीं है। क्योंकि यदि हम वर्तमानमें सर्वज्ञके समान किसी पुरुषको देखें तो उसकी उपमासे सर्वज्ञको जान सकते हैं, किन्तु जगत्‌में सर्वज्ञके समान भी कोई नहीं है। इसी तरह अर्थापत्ति प्रमाण भी सर्वज्ञका साधक नहीं है, क्योंकि संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती जो सर्वज्ञके बिना न हो सकती हो। शायद कहा जाये कि धर्मका उपदेश बिना सर्वज्ञके नहीं हो सकता, अतः कोई सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि धर्मका उपदेश तो बिना सर्वज्ञके भी सम्भव है। बुद्ध, अर्हत् आदिने जो धर्मका उपदेश दिया वह केवल अज्ञानवश दिया; क्योंकि वे लोग वेदज्ञ नहीं थे। मनु आदिने जो उपदेश दिया वह तो वेदमूलक ही था। अतः धर्मके उपदेशको देखकर सर्वज्ञका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। ये पाँच प्रमाण ही ऐसे हैं जो किसी वस्तुकी सत्ताको सिद्ध कर सकते हैं। इनके सिवा अन्य कोई प्रमाण सर्वज्ञका साधक नहीं है। अतः यही मानना पड़ता है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है।

शायद कहा जाये कि आजकलके हमलोगोंके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले भले ही न हों, किन्तु देशान्तर और कालान्तरके लोगोंके प्रत्यक्षादि प्रमाण ऐसे हो सकते हैं, जिनसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती हो। ऐसा कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि वर्तमानमें जिस तरहके प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जिस तरहके अर्थको जाना जाता है, कालान्तर और देशान्तरमें रहनेवाले लोगोंके प्रमाण भी इसी तरहके थे और उनसे इसी तरहके पदार्थोंको जाना जाता था। क्योंकि वर्त्तमानमें जिस तरहके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण पाये जाते हैं, उनसे विलक्षण प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका अभाव है। अतः कोई भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण इन्द्रिय आदिकी सहायताके बिना नहीं हो सकता।

शायद कहा जाये कि–'गृद्धको बहुत दूर तककी वस्तुएँ दिखाई देती हैं, शूकर-को बहुत दूर तकका शब्द सुनाई देता है, चींटीको बहुत दूरसे आनेवाली गन्धका ज्ञान हो जाता है, बिलाव-उल्लू आदिको बिना प्रकाशके ही वस्तुओंका प्रत्यक्ष होता है, कात्यायन नामके ऋषिको विलक्षण अनुमान ज्ञान था, और मीमांसकोंके गुरु जैमिनिको वेदार्थका विलक्षण ज्ञान था। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाण आजकलके पुरुषोंके हैं, वैसे ही देशान्तर और कालान्तर-में भी थे ?' ऐसा कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि गृद्ध वगैरहको भी इन्द्रिय आदि सामग्रीके बिना रूप आदिका ज्ञान नहीं होता। वे भी अपने नियत विषयको ही जान सकते हैं, अतीन्द्रिय वस्तुका ज्ञान इनको भी नहीं हो सकता। कहा भी है–"जहाँ[1] भी अतिशय देखा गया है, वह अपने विषयकी मर्यादाके अन्दर ही देखा गया है। दूरवर्ती सूक्ष्म पदार्थको देखनेमें समर्थ चक्षु शब्दादिको ग्रहण नहीं कर सकता और न श्रोत्र रूपको ग्रहण कर सकता है। तथा जिन मनुष्योंमें बुद्धि आदिका अतिशय देखा जाता है, उनमें भी वह अतिशय तरतमांश रूपसे ही देखा जाता है। कोई भी मनुष्य अतीन्द्रिय पदार्थको नहीं देख सकता। 'बुद्धिमान मनुष्य भी, सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेमें समर्थ होते हुए भी, अपनी जाति-का अतिक्रमण न करते हुए ही, अन्य मनुष्योंसे विशिष्ट जानता है।' 'एक मनुष्य किसी एक शास्त्रमें विलक्षण पारंगत हो जाता है। किन्तु इतनेसे ही उसे अन्य शास्त्रोंका ज्ञान नहीं हो जाता।' जैसे व्याकरण शास्त्रका गम्भीर अध्ययन करनेसे शब्दों और अपशब्दोंका ज्ञान खूब हो जाता है, किन्तु ऐसा होनेसे नक्षत्र, तिथि, ग्रहण वगैरहका निर्णय नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह तो ज्योतिष शास्त्रका विषय है।' इसी तरह चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण आदिको बतलानेमें दक्ष ज्योतिषी भी शब्दोंकी साधुता और असाधुताको नहीं जान सकता। अर्थात् जैसे व्याकरण-शास्त्रका ज्ञाता ज्योतिर्विद्याको नहीं जानता वैसे ही ज्योतिषशास्त्रका जानकार व्याकरणशास्त्रकी बातोंको नहीं जान सकता।' 'इसी तरह वेद और इतिहासका विशिष्टसे विशिष्ट ज्ञानी भी स्वर्ग, देवता और पुण्य-पापको प्रत्यक्ष नहीं देख सकता।' 'जो मनुष्य आकाशमें दस हाथ ऊँचा कूद सकता है वह सैकड़ों वर्ष अभ्यास करनेपर भी एक योजन ऊँचा नहीं कूद सकता।'

अतः लोकप्रसिद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्षसे विलक्षण अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नामका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। शायद कहा जाये कि किसी विशिष्ट पुरुषके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट पुरुष

---

१. मी० श्लो० वा०, चोदनासूत्र, का० ११४।

कोई है ही नहीं। सभी पुरुष स्वभावसे ही सूक्ष्म परमाणु आदिको, दूर देशान्तरवर्ती सुमेरु आदिको और कालान्तरवर्ती राम-रावण आदिको प्रत्यक्ष देख सकनेमें असमर्थ हैं—अतः सर्वज्ञ नहीं है।[1]

उत्तरपक्ष

जैनोंका कहना है कि मीमांसक कुमारिलका उक्त कथन अविचारितरम्य है। सर्वज्ञका निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं है। शायद कहा जाये कि सत्को विषय करनेवाले पाँच प्रमाण हैं और वे पाँचों प्रमाण सर्वज्ञका अस्तित्व नहीं बतलाते। अतः सर्वज्ञके ज्ञापकका अभाव ही सर्वज्ञका बाधक है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इसपर यह प्रश्न होता है कि 'सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण नहीं पाया जाता' यह बात आप अपने अनुभवके आधारपर कहते हैं या सबके अनुभवके आधारपर कहते हैं? यदि आप अपने अनुभवके आधारपर कहते हैं तो आपको तो दूसरेके मनके विचारोंका भी पता नहीं है तब क्या उनका भी अभाव कहा जायेगा? और यदि सबके अनुभवके आधारपर कहते हैं तो आपको यह ज्ञान कैसे हुआ कि देशान्तर और कालान्तरवर्ती सब मनुष्योंको सर्वज्ञको बतलानेवाले किसी प्रमाणका पता नहीं था? इसीसे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें कहा[2] है—सर्वज्ञका ज्ञापक (बतलानेवाला) कोई प्रमाण नहीं है' यदि यह आप अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर कहते हैं, तब तो 'समुद्रमें कितने घड़े पानी है' यह बात आप नहीं जानते तो क्या समुद्रके पानीकी घड़ोंके रूपमें कोई माप ही नहीं है? यदि आप यह बात सब व्यक्तियोंके अनुभवके आधारपर कहते हैं तो अल्पज्ञानी पुरुष सब मनुष्योंके व्यक्तिगत अनुभवोंको नहीं जान सकता, अतः वह ऐसी बात कैसे कह सकता है? और यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जो देशान्तर और कालान्तरवर्ती सब मनुष्योंके अनुभवोंको जानता है तो फिर आप सर्वज्ञका निषेध क्यों करते हैं? क्योंकि 'सबको सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणकी अनुपलब्धि है' यह बात चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जानी नहीं जा सकती; क्योंकि अतीन्द्रिय है। न अनुमानसे जानी जा सकती है क्योंकि उसका सूचक कोई लिंग नहीं है। जब प्रत्यक्ष और अनुमानसे नहीं जाना जा सकता तो फिर अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणकी तो गति ही कहाँ है? क्योंकि यदि सबको सर्वज्ञके ज्ञापकका अनुपलम्भ न होता तो अमुक बात न होती। चूँकि अमुक बात

१. सर्वज्ञविषयक पूर्वपक्षके लिए देखें—तत्त्वसंग्रह पृ० ८३०, अष्टसहस्री पृ० ४५, प्रमेयक० मा० पृ० २४७।

२. पृ० १३, का० १३ आदि।

है, अतः सबको सर्वज्ञके ज्ञापकका अनुपलम्भ है। इस तरहसे सर्वज्ञके ज्ञापकके अनुपलम्भके अभावमें न हो सकनेवाली कोई बात होती तो उसके आधारपर अन्यथानुपपत्ति प्रमाणके द्वारा सर्वसम्बन्धिज्ञापकानुपलम्भको जाना जा सकता था सो कोई है नहीं। इसी तरह उपमान प्रमाणसे भी सर्वसम्बन्धिज्ञापकानुलम्भको नहीं जाना जा सकता। इस तरह जब सर्वसम्बन्धिज्ञापकानुपलम्भको प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे नहीं जाना जा सकता तो केवल आगम प्रमाण शेष रहता है। किन्तु मीमांसक आगम प्रमाण वेदसे भी यह नहीं कह सकता कि सबको सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणका अनुपलम्भ है; क्योंकि मीमांसक वेदको केवल यज्ञ-यागादिके विषयमें प्रमाण मानता है, तब वह वेद सर्वज्ञकी सत्ता या असत्ताके विषयमें प्रमाण कैसे हो सकता है? शायद कहा जाये कि अभाव प्रमाणसे हम यह बात जानते हैं कि सबको सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणका अनुपलम्भ है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं होती। आपने ही माना है कि दृश्य वस्तुका दर्शन न होना उसके अभावमें प्रमाण है, केवल दिखाई न देनेसे ही किसीका अभाव नहीं माना जा सकता। अतः जो घटको खोजता है वह पहले घड़ा रखनेकी जगहको देखता है। फिर उसे घड़ेका स्मरण होता है उसके पश्चात् इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही उसके मनमें यह ज्ञान होता है कि घड़ा नहीं है यह अभाव प्रमाण है। आपके इस कथनके अनुसार पहले सब मनुष्योंको जानना चाहिए, फिर सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका स्मरण होना चाहिए। तब सबको सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका अनुपलम्भ है, ऐसा ज्ञान हो सकता है। किन्तु सब मनुष्योंका साक्षात् ज्ञान एक साथ हो नहीं सकता, और न क्रमसे ही हो सकता है क्योंकि अपने सिवा अन्य आत्माओंका प्रत्यक्ष आपको इष्ट नहीं है, अर्थात् आत्मान्तरका प्रत्यक्ष होना आप नहीं मानते। दूसरे क्रमसे सब आत्माओंको जाननेमें एक बाधा और भी है। जिस समय किसी एक आत्माको ज्ञापकोपलम्भके अभावका ज्ञान होगा, उस समय अन्य मनुष्यसम्बन्धी ज्ञापकोपलम्भके अभावका ज्ञान नहीं होगा। तब 'सबको ज्ञापकका अनुपलम्भ है' यह ज्ञान कैसे हो सकता है। तथा मीमांसकके मतमें किसी अन्य प्रमाणसे भी सब मनुष्योंका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि उनके सूचक लिंग आदिका अभाव है। इसके सिवा, पहले सर्वज्ञके ज्ञापकका उपलम्भ सिद्ध हो तो पीछे उसका स्मरण होनेपर 'सर्वज्ञके ज्ञापकका अनुपलम्भ है' ऐसा ज्ञान अभाव प्रमाणसे हो सकता है। किन्तु सर्वज्ञके ज्ञापकका उपलम्भ ही सिद्ध नहीं है।'

शायद आप (मीमांसक) कहें कि जैन लोग सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणका उप-

लम्भ मानते हैं, अतः उनके माननेसे जो ज्ञापकोपलम्भ सिद्ध हैं हम उसका अभाव सिद्ध करते हैं। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि हम जैनलोग जो सर्वज्ञके ज्ञापकका उपलम्भ मानते हैं, हमारा वह मानना प्रमाण है या अप्रमाण है? यदि वह प्रमाण है तब तो आपको भी सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणका उपलम्भ मानना चाहिए; फिर आप उसका निषेध क्यों करते हैं? और यदि वह हमारा मानना अप्रमाण है तो उसके आधारपर आप अभाव प्रमाणसे ज्ञापकानुपलम्भकी सिद्धि नहीं कर सकते। अतः सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणका अनुपलम्भ सर्वज्ञके अस्तित्वमें बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह सिद्ध नहीं हो सका। इसलिए सर्वज्ञके बाधक प्रमाणका सुनिश्चित अभाव ही सर्वज्ञका साधक है। क्योंकि जो वस्तु असत् होती है उसके बाधक प्रमाणका सुनिश्चित रूपसे अभाव नहीं होता। जैसे मरीचिकामें होनेवाला जलज्ञान झूठा है, अतः उसका बाधक प्रमाण है। किन्तु सर्वज्ञका बाधक कोई प्रमाण नहीं है, यह सुनिश्चित है। अतः सर्वज्ञ अवश्य है।'

इस तरह अष्टसहस्रीके रचयिता स्वामी विद्यानन्दने मीमांसकका निराकरण करते हुए सर्वज्ञकी सिद्धि इस आधारपर की है कि मीमांसक जो छह प्रमाण मानता है, उनमें-से कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है। अतः सर्वज्ञके अस्तित्वमें बाधक किसी प्रमाणके न होनेसे सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध की गयी है।

आगे दूसरे प्रकारसे वे सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध करते हैं—

मीमांसक[1] मानता है कि वेदके द्वारा विशिष्ट पुरुषोंको भूत, वर्तमान और भावी पदार्थोंका तथा विप्रकृष्ट, पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मामें सकल पदार्थोंको जाननेकी शक्ति है। तथा अनुमान प्रमाणके लिए व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है। और व्याप्ति ज्ञानका विषय समस्त देश और समस्त काल होता है। जैसे, 'जो सत् है वह सब अनेकान्तात्मक होता है' यह व्याप्ति ज्ञान है, जो सत् मात्रको विषय करता है। इस व्याप्ति ज्ञानसे भी यह स्पष्ट है कि आत्मामें सब पदार्थोंको जाननेकी शक्ति है। अब प्रश्न यह होता है कि जब आत्मामें सब पदार्थोंको जाननेकी शक्ति है और वह ज्ञान स्वभाव है, तो वह सबको जानता क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि, जैसे मदिरा पीनेसे मनुष्य उसके नशासे ग्रस्त हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्मोंके सम्बन्धसे आत्मामें अज्ञानका उदय होता है। और कर्मोंका अभाव होनेपर जब वह पूरी तरहसे व्यामोहसे मुक्त हो जाता है तो समस्त अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थोंको

---

१. अष्टस०, पृ० ४६।

जानता देखता है तब उसके लिए दूरी और निकटताका प्रश्न नहीं रहता।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानावरण आदि कर्मोंका अभाव हो जानेपर यह आत्मा पूरी तरहसे व्यामोहरहित कैसे हो जाता है जिससे वह अर्थ पर्याय और व्यंजनपर्याय स्वरूप समस्त अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थोंको साक्षात् जानता है? इसका उत्तर इस प्रकार है—जो जिसके होनेपर ही होता है वह उसके अभावमें नहीं ही होता। जैसे अग्निके अभावमें धूम नहीं होता। ज्ञानावरण आदि कर्मोंका सम्बन्ध होनेपर ही आत्मामें अज्ञान होता है अतः उनके अभावमें वह नहीं होता। यह निश्चित है।

शङ्का—पूरी तरहसे अज्ञानसे रहित आत्मा भी समीप देशवर्ती और समीप कालवर्ती पदार्थोंको ही जान सकता है, न कि दूरदेशवर्ती और दूरकालवर्तीको भी?

उत्तर—ऐसा कहना अयुक्त है; क्योंकि न तो समीपता ज्ञानमें कारण है और न दूरता अज्ञानका कारण है। आँखमें लगा अंजन आँखके अत्यन्त समीप होता है किन्तु आँखसे अंजनका ज्ञान नहीं होता। किन्तु चन्द्र-सूर्यको दूरवर्ती होते हुए भी आँख देख लेती है।

शायद कहा जाये कि आँखमें अत्यन्त निकटवर्ती पदार्थको जान सकनेकी योग्यता नहीं है किन्तु योग्य दूरवर्ती पदार्थोंको जान सकनेकी योग्यता है तो योग्यताको ही ज्ञानका कारण मानना चाहिए, निकटता और दूरता तो व्यर्थ हैं। और ज्ञानको रोकनेवाले कर्मका क्षयोपशम अथवा क्षय होनेपर एक देशसे अथवा पूरी तरहसे अज्ञानका दूर हो जाना ही योग्यता है। अतः जिसका अज्ञान पूरी तरहसे दूर हो जाता है वह सबको देखता जानता है। कहा भी है—जो ज्ञान स्वभाव है वह 'प्रतिबन्धकके अभावमें ज्ञेयपदार्थोंको क्यों नहीं जानेगा? क्या प्रतिबन्धकके अभावमें अग्नि जलने योग्य पदार्थोंको नहीं जलाती है?' इसीसे समस्त पदार्थोंको जाननेमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रहती जैसे अंजन वगैरहसे संस्कारित चक्षुवाले मनुष्यको प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रहती। जो एक देशसे अज्ञानरहित होता है और थोड़ा-बहुत जान सकता है उसीको इन्द्रियोंकी अपेक्षा रहती है। किन्तु जिसका समस्त अज्ञान नष्ट हो चुका है उस सर्वदर्शी पुरुषको इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रहती। यदि उसे भी इन्द्रियोंकी अपेक्षा रहेगी तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। क्योंकि साक्षात् अथवा परम्परासे इन्द्रियोंका सम्बन्ध एक साथ सब पदार्थोंके साथ नहीं हो सकता।

मीमांसक—[1]आवरणके दूर हो जानेपर निष्कलंक आत्मा भी दूरवर्ती पदार्थका प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? कैसी ही निर्दोष और अंजन वगैरहसे संस्कारित चक्षु हो, क्या वह देशविप्रकृष्ट, कालविप्रकृष्ट और स्वभावविप्रकृष्ट पदार्थोंको प्रत्यक्ष करती हुई देखी गयी है ? इसी तरह ग्रहण वगैरहके उपद्रवसे मुक्त तथा मेघपटलके आवरणसे रहित सूर्य भी अपने योग्य वर्तमान पदार्थोंका ही प्रकाशन करता है न कि अयोग्य अतीत और अनागत पदार्थोंका। इसी तरह राग आदि भावकर्मोंसे तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मोंसे मुक्त निष्कलंक आत्मा समस्त दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? भले ही कोई मुक्तात्मा हो, किन्तु वेदके प्रामाण्यमें उससे रुकावट नहीं आ सकती; क्योंकि धर्मके विषयमें तो वेद ही प्रमाण है, मुक्तात्मा प्रमाण नहीं है, मुक्तात्मा तो आनन्द स्वभाव है, वह धर्मको नहीं जानता। कहा भी है–'हम[2] पुरुषमें केवल धर्मज्ञताका निषेध करते हैं। धर्मको छोड़कर अन्य सब वस्तुओंको यदि कोई पुरुष जानता है तो कौन उसे रोकता है।'

मीमांसककी उक्त आपत्तिका उत्तर देते हुए जैन कहते हैं–स्वभावविप्रकृष्ट परमाणु वगैरह, कालविप्रकृष्ट राम वगैरह, देशविप्रकृष्ट हिमवान् वगैरह किसीके प्रत्यक्ष हैं क्योंकि अनुमेय हैं अर्थात् उन्हें अनुमान प्रमाणसे जाना जा सकता है, जैसे अग्नि। यदि कोई यह कहता है कि स्वभावविप्रकृष्ट, देशविप्रकृष्ट और कालविप्रकृष्ट पदार्थ अनुमानसे नहीं जाने जा सकते तो वह अनुमान प्रमाणका ही मूलोच्छेद करता है, 'क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं, वे सब क्षणिक हैं' इत्यादि व्याप्तिज्ञानके अभावमें यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि 'इसलिए सब पदार्थ क्षणिक हैं'। अनुमान तो ऐसे पदार्थोंका ज्ञान करनेके लिए ही उपयोगी है जिन्हें हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, क्योंकि जो पदार्थ प्रत्यक्षगोचर हों उनके निर्णयके लिए अनुमानका प्रयोग व्यर्थ है। अतः जो दार्शनिक सत्त्वकी अनित्यत्वके साथ व्याप्ति बनाते हैं उनको सब पदार्थोंको अनुमेय मानना ही पड़ेगा। अतः सब पदार्थोंके अनुमेय होनेसे उनका प्रत्यक्ष होना भी जरूरी है।

मीमांसक—कुछ अर्थ प्रत्यक्ष होते हैं, जैसे घट वगैरह। जिनका अविनाभावी-लिंग प्रत्यक्षसे जाना जा सकता है ऐसे कुछ पदार्थ अनुमेय होते हैं, और कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिन्हें हम आगमसे ही जान सकते हैं, जैसे धर्म वगैरह। ऐसे पदार्थ किसी भी पुरुषके प्रत्यक्ष आदि गोचर नहीं होते।

जैन—ऐसा कहना अनुचित है। किसी अपेक्षा धर्म भी अनुमेय है। यथा–

---

१. अष्टस० पृ० ५५। २. तत्त्वसं०, पृ० ८१७।

'जितनी भी पर्याय हैं वे सब अनेक क्षणस्थायी होनेसे क्षणिक हैं, जैसे घट, इसी तरह धर्मादि भी हैं।' मीमांसकोंको किसी प्रमाणसे पर्यायत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति सिद्ध करनी ही चाहिए, अन्यथा वे धर्म आदिको पर्याय मानकर अनित्य सिद्ध नहीं कर सकते। अतः किसी अपेक्षा धर्म भी अनुमेय है अर्थात् अनुमान प्रमाणसे धर्मको जाना जा सकता है। तथा यदि स्वभाव, देश और कालसे विप्रकृष्ट पदार्थोंको आप अनुमेय नहीं मानते तो सुखादिको अनुमानसे जानना व्यर्थ क्यों नहीं है? क्योंकि सुखका मानस प्रत्यक्ष होता है।

मीमांसक—जो सदा अविप्रकर्षी है, उनको अनुमानसे जानना हमें इष्ट नहीं है?

जैन—तो फिर अनुमानसे आपको किन पदार्थोंका जानना इष्ट है?

मीमांसक—कभी अविप्रकृष्ट पदार्थोंको और कभी ऐसे देशादि विप्रकृष्ट पदार्थोंको, जिनका अविनाभावी लिंग ज्ञात है, अनुमानसे जानना इष्ट है।

जैन—तब आप बुद्धिको अनुमानसे कैसे जान सकेंगे; क्योंकि बुद्धि तो सदा अप्रत्यक्ष है। और आपके शास्त्रमें लिखा है कि अर्थके ज्ञान होनेपर बुद्धिको अनुमानसे जानते हैं। अतः जब सदा परोक्ष बुद्धिको भी अनुमानसे जाना जा सकता है, तो सदा परोक्ष धर्मादिको भी अनुमानसे जाना जा सकता है। अतः धर्मादि भी अनुमेय हैं इसलिए वे किसीके प्रत्यक्ष भी होने ही चाहिए।

अथवा अनुमेयका अर्थ श्रुतज्ञानके द्वारा जानने योग्य करना चाहिए। क्योंकि मतिज्ञानके 'अनु' अर्थात् पीछे जो 'मेय' अर्थात् जाना जाये, वह अनुमेय है। मतिज्ञानके पश्चात् श्रुतज्ञान होता है। अतः सूक्ष्म आदि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि श्रुतसे (वेदसे) उनका ज्ञान हो सकता है। यह बात असिद्ध नहीं है; क्योंकि मीमांसक स्वयं मानता है कि वेद त्रिकालवर्ती सूक्ष्म आदि पदार्थोंको ज्ञान करा सकनेमें समर्थ है। अतः अनुमेय सूक्ष्म आदि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष अवश्य हैं।

मीमांसक—सूक्ष्म आदि पदार्थ अनुमेय तो हों, किन्तु किसीके प्रत्यक्ष न हों तो क्या बाधा है?

जैन—इसका तात्पर्य यह हुआ कि अग्नि अनुमेय तो हो, किन्तु किसीके भी प्रत्यक्ष न हो। ऐसा होनेसे अनुमान प्रमाणका ही उच्छेद हो जायेगा। क्योंकि सभी अनुमानोंमें इस तरहका दोष दिया जा सकता है। अतः अमान प्रमाणको माननेवाले मीमांसकोंको अनुमेय होनेसे सूक्ष्म आदि पदार्थोंको किसी प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय मानना ही चाहिए।

मीमांसक—'सूक्ष्म आदि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि अनुमेय हैं' आपका यह अनुमान ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें दूसरे अनुमानसे बाधा आती है। वह अनुमान इस प्रकार है–'सूक्ष्म आदि पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला कोई नहीं है; क्योंकि वह प्रमेय स्वरूप है, सत्स्वरूप है और वस्तु स्वरूप है जैसे हमलोग हैं। कहा भी है–'जिस[1] सर्वज्ञकी सत्ताका खण्डन करनेमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध प्रमेयत्व आदि हेतु समर्थ हैं, उसे कौन मानेगा।'

जैन—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिन हेतुओंसे आप सूक्ष्म आदि पदार्थोंके प्रत्यक्षका निषेध करते हैं। उन्हींसे वे किसीके प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं। यथा–सूक्ष्म आदि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि वे प्रमेय हैं, सत् हैं और वस्तु हैं। जो-जो प्रमेय, सत् और वस्तुरूप हैं वे सब किसीके प्रत्यक्ष हैं जैसे स्फटिक मणि। इस तरह प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतु तो सूक्ष्म आदि पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेको ही पुष्ट करते हैं तब मीमांसक उनके द्वारा सर्वज्ञका निषेध कैसे कर सकता है?

मीमांसक—सूक्ष्म आदि पदार्थोंको आप इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा किसीके प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा। प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि सूक्ष्म आदि पदार्थोंका इन्द्रियके साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं होता अतः वे किसीके इन्द्रियज्ञानके विषय नहीं हो सकते। यदि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं, तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो अप्रसिद्ध है।

जैन—हम इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं मानते। यदि कोई यह सिद्ध करनेकी कोशिश करे कि सूक्ष्म आदि पदार्थोंका इन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्ष होता है तो हम भी आपके साथ उसका विरोध करनेके लिए तैयार हैं। और न अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही उनका प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं, जिससे आप यह आपत्ति दे सकें कि हम तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे परिचित ही नहीं हैं।

हम तो प्रत्यक्ष सामान्यसे सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते है। और सूक्ष्म आदि पदार्थोंके सामान्य रूपसे किसीके प्रत्यक्ष सिद्ध होनेपर वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष ही सिद्ध होता है। यथा–सर्वज्ञका प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनकी सहायतासे निरपेक्ष होता है; क्योंकि वह सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जानता है। जो प्रत्यक्ष इन्द्रियादिसे निरपेक्ष नहीं होता वह सूक्ष्म आदि पदार्थोंको विषय नहीं करता। जैसे हमारा प्रत्यक्ष। किन्तु सर्वज्ञका प्रत्यक्ष सूक्ष्म आदि पदार्थोंको विषय करता है, अतः वह इन्द्रिय और मनकी सहायतासे नहीं होता।

१, मी० श्लो० वा०, चोदनासूत्र, का० १३२।

मीमांसक—सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान आप किसके सिद्ध करते हैं–अर्हन्तके, या जो अर्हन्त नहीं है उसके, अथवा सामान्य आत्माके ? यदि अर्हन्तके सिद्ध करते हैं तो अर्हन्त तो अप्रसिद्ध हैं अतः आपके अनुमानमें अनेक दोष आते हैं। यदि अनर्हत्‌के सिद्ध करते हैं तो आपको जो बात इष्ट नहीं है वह भी माननी पड़ेगी; क्योंकि आप तो अर्हन्तके ही सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष मानते हैं, अनर्हत्‌के नहीं मानते। यदि सामान्यात्माके सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व सिद्ध करते हैं तो अर्हन्त और अनर्हत् (जो अर्हन्त नहीं) को छोड़कर अन्य सामान्यात्मा कौन है, जिसके आप सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं ?

जैन—न हम अर्हत्‌के सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व सिद्ध करते हैं और न अनर्हत्‌के। किन्तु किसी पुरुष-विशेषके सिद्ध करते हैं। और उसके सिद्ध होनेपर वह पुरुष विशेष अर्हन्त ही प्रमाणित होता है क्योंकि उसका उपदेश प्रत्यक्ष और युक्तिके अविरुद्ध ठहरता है। अतः उक्त दोष नहीं आते।

शङ्का—सर्वज्ञ[1] अतीतकाल आदिमें रहनेवाली वस्तुको उसी रूपसे जानता है या वर्तमानरूपसे ? यदि वह अतीत कालीन वस्तुको अतीतरूपसे जानता है तो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अवर्तमान वस्तुको विषय करता है। जो अवर्तमान वस्तुको विषय करता है वह प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे स्मरण वगैरह। चूँकि सर्वज्ञका ज्ञान अतीत अनागत अर्थको विषय करता है, अतः वह अवर्तमान वस्तुग्राही होनेसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि वह अतीतकालीन वस्तुको वर्तमान रूपसे जानता है तो उसका ज्ञान भ्रान्त हुआ क्योंकि जो अन्य रूपसे स्थित पदार्थको उससे भिन्न रूपसे जानता है वह ज्ञान भ्रान्त होता है, जैसे एक चन्द्रमाको दो चन्द्रमाके रूपमें जानना। चूँकि सर्वज्ञका ज्ञान अतीत अनागत कालवर्ती अर्थोंको वर्त्तमानरूपसे जानता है अतः वह भ्रान्त है।

उत्तर—जो वस्तु जिस रूपमें है, उसको उसी रूपमें जानता है। किन्तु इससे अवर्तमान वस्तुका ग्राहक होनेसे सर्वज्ञका ज्ञान अप्रत्यक्ष नहीं ठहरता; क्योंकि वह स्पष्ट रूपसे अपने विषयको ग्रहण करता है। निकट देश और वर्तमान रूपसे अर्थको जानना प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है। अन्यथा अपनी गोदमें बैठे हुए बालकके शरीरमें क्रिया वगैरहको देखकर जो उसमें जीवके सद्भावका ज्ञान होता है, वह भी प्रत्यक्ष कहा जायेगा। किन्तु हम लोगोंको जीवका प्रत्यक्ष तो होता नहीं। अतः स्पष्ट रूपसे अर्थका प्रतिभास होना ही प्रत्यक्ष है। इसलिए यदि सर्वज्ञको अतीत

१. न्या० कु० च०, पृ० ८८।

आदि पदार्थोंका स्पष्ट बोध होता है तो वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं है। तथा जैसे इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा दूरवर्ती पदार्थोंका ग्रहण होनेपर भी उसके स्पष्टग्राही होनेमें कोई विरोध नहीं है वैसे ही दूरकालवर्ती पदार्थको ग्रहण करनेपर भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके स्पष्टग्राही होनेमें कोई विरोध नहीं है। किन्तु ऐसा होनेसे अतीत पदार्थ भी वर्तमान कहलायेगा ऐसी आपत्ति उचित नहीं है; क्योंकि अतीत वस्तुको अतीत रूपसे ही जानता है, वर्तमान रूपसे नहीं जानता।

शंका—जब[1] सर्वज्ञ एक क्षणमें ही सब पदार्थोंको जान लेता है तो दूसरे क्षणमें उसे जाननेके लिए कुछ भी नहीं रहता, अतः वह अज्ञ कहा जायेगा। तथा जब वह रागी मनुष्योंमें स्थित रागको जानेगा तो वह भी रागी हो जायेगा ?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं है, यदि दूसरे क्षणमें पदार्थोंका अथवा उसके ज्ञानका अभाव हो जाये तो वह अज्ञ हो सकता है। किन्तु ऐसा नहीं होता; क्योंकि सर्वज्ञका ज्ञान तथा दुनियाके पदार्थ, दोनों ही अनन्त हैं। अतः प्रथम क्षणमें सर्वज्ञ भावि पदार्थोंको 'ये भविष्यमें उत्पन्न होंगे' इस रूपसे जानता है, न कि वर्तमान रूपसे। बादको उत्पन्न होनेपर वे ही पदार्थ वर्तमान रूपसे प्रतिभासित होते हैं। अतः जिस समय जो वस्तु जिस धर्मसे विशिष्ट होती है उस समय सर्वज्ञके ज्ञानमें उसी रूपसे प्रतिभासित होती है। रही दूसरी आपत्ति, सो वह भी अनुचित है; क्योंकि रागादि रूपसे परिणमन करनेसे ही कोई रागी होता है, रागको जानने मात्रसे कोई रागी नहीं हो जाता। अन्यथा जिस समय कोई पुरुष मदिरा पान छुड़ानेके लिए मदिराकी बुराई बतलाता है उस समय वह भी शराबी कहा जायेगा। अतः जिस मनुष्यमें इन्द्रियोंमें उद्रेक पैदा करनेवाली वासना जागृत होती है, वही रागादिमान कहा जाता है; किन्तु जो वीतराग होता है, वही सर्वज्ञ होता है, अतः सर्वज्ञमें जानने मात्रसे रागका सद्भाव नहीं माना जा सकता।

शंका—यदि सर्वज्ञका ज्ञान संसारके आदि और अन्तको जान लेता है तो संसार अनादि अनन्त नहीं रहता, और यदि नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ कैसे हुआ।

उत्तर—यह पहले कह आये हैं कि जो वस्तु जिस रूपसे स्थित होती है, उसको सर्वज्ञ उसी रूपसे जानता है। अतः जो अर्थ अनादि-अनन्त रूपसे स्थित है उसको सर्वज्ञ अनादि-अनन्त रूपसे ही जानता है।

शंका—यदि सर्वज्ञ भविष्यको जानते हैं तो भविष्य भी निश्चित हो जाता है। और जब भविष्य निश्चित है तो पुरुषार्थ व्यर्थ ठहरता है ?

---

१. प्रमेयक०, पृ० २६०।

उत्तर—सर्वज्ञके जान लेनेसे भविष्य निश्चित नहीं हो जाता, किन्तु जो होनहार है वह निश्चित है और उसे सर्वज्ञ जानता है। किन्तु इससे पुरुषार्थ एकदम व्यर्थ नहीं ठहरता। संसारमें बहुत-से कार्य ऐसे होते हैं, जिनमें दैवकी प्रधानता और पुरुषार्थकी गौणता होती है; और बहुत-से कार्य ऐसे होते हैं जिनमें पुरुषार्थकी प्रधानता और दैवकी गौणता होती है। जैसे बम्बईके समुद्रतटपर खड़े जहाजमें विस्फोट होनेसे उसपर लदा सोना उड़-उड़कर तटसे दूर शहरके घरोंमें छत तोड़कर जा गिरा और उनमें रहनेवालोंको अनायास मिल गया। इसमें दैवकी प्रधानता है। और सुबहसे शाम तक श्रमपूर्वक तरह-तरहके उद्योग-धन्धे करके जो धनसंचय करते हैं, उनमें पुरुषार्थकी प्रधानता है। सर्वज्ञका ज्ञान इन सबको जानता है। जो दैववादी हैं उनके भी भविष्यको जानता है, जो पुरुषार्थवादी हैं उनके भी भविष्यको जानता है। जो पुरुषार्थ करके उसमें सफल होंगे उनके भी भविष्यको जानता है और पुरुषार्थ करके उसमें सफल नहीं होंगे, उनका भी भविष्य जानता है। किन्तु किसीका भविष्य वह बनाता या बिगाड़ता नहीं है। उसका बनाना या बिगाड़ना तो स्वयं उस व्यक्तिके ही हाथमें है। स्वयं अपने पुरुषार्थसे ही वह उसे बनाता या बिगाड़ता है। क्योंकि जिसे हम दैव कहते हैं वह भी तो पूर्व जन्ममें किया हुआ पुरुषार्थ ही है। किन्तु वह निश्चित है और उसे सर्वज्ञ जानता है। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि पुरुषार्थकी सफलताका मतलब 'जो नहीं होनेवाला हो उसका होना' नहीं है, किन्तु जो होनेवाला हो उसको बना लेना ही पुरुषार्थकी सफलता है। इस तरह जैन दर्शनमें निरावरण केवलज्ञानको सकल प्रत्यक्ष माना है और केवलज्ञानीको सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा है।

ईश्वरवाद समीक्षा

पूर्वपक्ष—न्याय वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हैं। वे ईश्वरके ज्ञानको नित्य मानकर उसे सर्वज्ञ मानते हैं और ईश्वर तथा उसकी सर्वज्ञताकी सिद्धि इस प्रकार करते हैं—

[१]पृथिवी वगैरह किसी बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा बनायी गयी हैं, क्योंकि कार्य हैं, जैसे घट वगैरह। यह हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि पृथिवी वगैरह सावयव हैं, अतः वे कार्य हैं। यथा—पृथिवी, पर्वत, वृक्षादि कार्य हैं; क्योंकि सावयव हैं, जैसे घट

---

१. न्या० कु० च०, पृ० ९७ वगैरह। प्रमेयक० मा०, पृ० २६६। प्रशस्त० कन्दली, पृ० ५४। प्रशस्त० व्योम, पृ० ३०१। न्यायसूत्र ४।१।२०। न्यायवा० पृ० ४५७-४६७। न्या० वा० ता० टी०, पृ० ५९८। —न्यायमं० पृ० १९४।

वगैरह। यह कार्यरूप हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि जिनका कर्ता निश्चित है, ऐसे घटादिमें कार्यपना प्रसिद्ध ही है। यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है; क्योंकि जिनका अकर्तृक होना निश्चित है, ऐसे आकाशादिमें कार्यपना नहीं रहता। यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है; क्योंकि उस हेतुका साध्य कार्यपना प्रत्यक्ष और आगमसे अबाधित है। यह हेतु प्रकरण सम भी नहीं है; क्योंकि उसका समान बलशाली कोई प्रतिपक्षी हेतु नहीं है। अतः यह निर्दोष कार्यत्व हेतु बुद्धिमान् कर्ताकी सिद्धि करता हुआ, पक्षधर्मताके बलसे जगत्का निर्माण करनेमें समर्थ सर्वज्ञ कर्ताको सिद्ध करता है।

शंका—आपका कार्यत्व हेतु इष्टका विघात करता है। क्योंकि समस्त जगत्का कर्ता सर्वज्ञ, नित्य ज्ञान इच्छा प्रयत्नवाला, अशरीरी, बुद्धिमान् माना जाता है। किन्तु दृष्टान्त रूप घटादिका कर्ता अल्पज्ञ और सशरीर होता है। और दृष्टान्तमें जो धर्म देखे जाते हैं उनके अनुसार ही साध्यधर्मिकी प्रतिपत्ति होती है। अतः चूँकि आपका हेतु जो धर्म आप सिद्ध करना चाहते हैं उससे विपरीत धर्मोंकी सिद्धि करता है, अतः वह विरुद्ध हेत्वाभास है। तथा दृष्टान्त साध्य विकल है; क्योंकि घटादिका कर्ता पृथिवी आदिकी तरह सर्वज्ञ और अशरीर नहीं है।

समाधान—उक्त आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि साध्य और साधनकी विशेषके साथ व्याप्ति नहीं होती, यदि ऐसा हो तब तो कोई भी अनुमान नहीं बन सकता। व्याप्तिका अवधारण अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होता है। और विशेषोंमें अन्वय-व्यतिरेकका ग्रहण शक्य नहीं है। अतः कार्यत्व हेतुकी व्याप्ति केवल बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वके साथ ही मानना चाहिए, सर्वज्ञ अशरीर आदि कर्ताके साथ नहीं। कर्तापनेकी सामग्रीमें शरीर नहीं आता। ज्ञान, चिकीर्षा (करनेकी इच्छा) और प्रयत्नसे ही कार्य होते हैं। शरीरके होते हुए भी कुम्भकारमें यदि ज्ञानादि न हों तो वह घटका कर्ता नहीं हो सकता। पहले कार्यके उत्पादक कारणोंका ज्ञान होता है, फिर कार्यको करनेकी इच्छा होती है, फिर प्रयत्न किया जाता है, तब कार्य होता है। अतः कार्य करनेमें ये तीनों ही अव्यभिचारी कारण हैं। किन्तु ईश्वर चूँकि सभी कार्योंको करता है, अतः वह सर्वज्ञ होना ही चाहिए; क्योंकि जो जिसका कर्ता होता है, वह उसके उपादान आदिको जानता है, जैसे घटको बनानेवाला कुम्भकार मिट्टी वगैरहको जानता है। और ईश्वर जगत्का कर्ता है। जगत्के उपादान चार प्रकारके परमाणु हैं, निमित्तकारण अदृष्ट आदि है, भोक्ता आत्मा है, भोग्य शरीर आदि है। इनको जाने बिना कोई जगत्का कर्ता नहीं हो सकता। ईश्वरमें पाये जानेवाले ज्ञानादि नित्य हैं क्योंकि कुम्भकारके ज्ञानादिसे

विलक्षण हैं। साध्य और दृष्टान्त धर्मोमें सर्वथा समानता नहीं होती, क्योंकि ऐसा माननेसे कोई अनुमान नहीं बन सकता। जैसी अग्नि रसोईघरमें होती है वैसी ही पर्वतमें नहीं होती।

वह ईश्वर एक है क्योंकि अनेक भी कर्ता एक अधिष्ठाताके द्वारा नियन्त्रित होकर ही कार्य करते हैं। किसी बड़े महत्त्व वगैरहके निर्माणमें लगे सभी कारीगर और मजदूर किसी एक सूत्रधारके नियन्त्रणमें रहकर ही कार्य करते देखे जाते हैं। शायद कहा जाये कि जब ईश्वरकी इच्छा वगैरह नित्य और एक रूप है तो कार्योंमें सदा एकरूपता रहनी चाहिए और कार्य सदा ही उत्पन्न होते रहना चाहिए; किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सहायक सामग्रीकी विचित्रतासे तथा उसके सदा प्राप्त न रहनेसे जगत्के कार्योंमें विचित्रता तथा अनित्यता पायी जाती है।

शंका—पुराने महलों तथा कुएँ वगैरहको हमने बनते हुए नहीं देखा, किन्तु फिर भी उन्हें देखकर उनके कर्ता किसीके द्वारा बनाये जानेकी बात ध्यानमें स्वयं आ जाती है। किन्तु पृथिवी, पर्वत वगैरहको देखकर यह बात मनमें नहीं आती कि इन्हें किसीने बनाया है। अतः दृष्टान्त घटादिमें जिस प्रकारका कार्यत्व रहता है, वह कार्यत्व पृथ्वी आदिमें नहीं रहता। इसलिए आपका कार्यत्व हेतु असिद्ध है।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है। कार्यत्व हेतुका बुद्धिमत्कारण पूर्वकत्वके साथ अविनाभाव सिद्ध है। जितने भी कृतक (बनाये गये) पदार्थ होते हैं वे सब अपने विषयसे कृतबुद्धिको उत्पन्न करते ही हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। जमीनको खोदकर उसे पुनः भर देनेपर, जिसने उसे ऐसा होते हुए नहीं देखा उसे कभी भी यह बुद्धि नहीं होती कि यह जमीन खोदकर भरी गयी है।

शंका—स्वयं उगी हुई वनस्पतिसे उक्त हेतुमें व्यभिचार आता है; क्योंकि किसी बुद्धिमान्‌कर्ताके न होते हुए भी वह वनस्पति अपनी कारणसामग्रीसे स्वतः उत्पन्न होती है।

समाधान—वह वनस्पति भी पक्षकोटिमें सम्मिलित है अर्थात् पृथ्वी, पर्वत आदिकी तरह हम उसको भी किसी बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा ही उगायी हुई सिद्ध करते हैं; क्योंकि वह भी कार्य है। और जो पक्षके अन्तर्भूत होता है, उसीमें हेतुको व्यभिचार देनेपर कोई भी हेतु गमक नहीं हो सकता और ऐसी स्थितिमें अनुमान मात्रका ही उच्छेद हो जायेगा। उक्त वनस्पतिका कर्ता कोई बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं है, यह बात आप अनुपलब्धि रूप हेतुसे सिद्ध करते हैं अर्थात् चूँकि उसका कोई कर्ता दिखाई नहीं देता इसलिए वह नहीं है। किन्तु ऐसा मानना युक्त नहीं है। जो वस्तु दिखाई देने योग्य होते हुए भी दिखाई नहीं देती, अनुप-

लब्धि रूप हेतुसे उसीका अभाव सिद्ध होता है। किन्तु वह दृश्यानुपलब्धि यहाँ नहीं है; क्योंकि पृथिवी आदिका कर्ता अदृश्य है। यदि अनुपलब्धि मात्रको अभावका साधक माना जायेगा तो बड़ी गड़बड़ी उपस्थित होगी।

शंका—ईश्वर तो परम दयालु है, वह परोपकारके लिए ही प्रवृत्त होता है। यदि वह जगत्का कर्ता होता तो दुःख देनेवाले शरीरादिकी रचना न करता। यदि वह इस प्रकारकी दुःखदायक सामग्री रचता है तो वह परमदयालु नहीं हो सकता।

समाधान—ईश्वर धर्म और अधर्मकी सहायतासे शरीरादिकी रचना करता है। वह जिस व्यक्तिका जैसा पुण्य या पाप होता है, उसके सुख या दुःखरूप फलके भोगके लिए उसी प्रकारका शरीर वगैरह बनाता है। 'संसारसे प्राणियोंको मुक्त करूँगा' ईश्वर तो इस परोपकार वृत्तिसे ही प्रवृत्ति करता है। और मुक्ति प्राणियोंके पुण्य और पापके क्षयसे होती है। और पुण्य-पापका क्षय उनका फल भोगे बिना नहीं होता। अतः परम दयालु होते हुए भी भगवान् दुःखदायक शरीरादिकी रचना करता है।

शंका—ईश्वर भी यदि धर्म और अधर्मवश प्रवृत्ति करता है तो धर्म और अधर्मसे ही सब कार्य उत्पन्न हो जायेंगे, ईश्वरकी कल्पनासे क्या लाभ है?

समाधान—धर्म और अधर्म तो अचेतन हैं। चेतनसे अधिष्ठित होकर ही वे अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। शायद कहा जाये कि हम लोगोंकी आत्मासे अधिष्ठित होकर धर्म-अधर्म अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्ति कर सकते हैं। किन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि हमारी आत्माको अदृष्ट तथा परमाणु वगैरहका ज्ञान नहीं है और अचेतन अकस्मात् प्रवृत्ति नहीं कर सकता, अन्यथा जो कार्य निष्पन्न हो चुका है उसमें भी वह प्रवृत्ति कर सकता है; क्योंकि अचेतनको कोई विवेक तो है नहीं।

उत्तरपक्ष[1]—जैनोंका कहना है कि पृथिवी आदिको किसी बुद्धिमान्‌की कृति सिद्ध करनेके लिए ईश्वरवादियोंने जो कार्यत्व हेतु दिया है, उसका क्या अर्थ है? सावयवत्वका नाम कार्यत्व है, या जो पहले नहीं था, उसका अपने कारणोंकी सत्तासे सम्बन्ध होनेका नाम कार्यत्व है, अथवा 'कृत' इस प्रकारकी बुद्धिका जो विषय है उसका नाम कार्यत्व है, अथवा विकारित्वका नाम कार्यत्व है? यदि कार्यत्वका अर्थ सावयवत्व है तो सावयवत्वका क्या अर्थ है? अवयवोंमें रहनेका

१. न्या० कु० च०, पृ० १०१ आदि। प्रमेय क० मा०, पृ० २७० आदि।

नाम सावयवत्व है, या अवयवोंसे रचना होनेका नाम सावयवत्व है; या प्रदेश-वत्वका नाम सावयवत्व है या 'सावयव' इस प्रकारकी बुद्धिका जो विषय हो वह सावयव है। प्रथम पक्षमें अवयव सामान्य (अवयवत्व) से व्यभिचार आता है; क्योंकि वह कार्य नहीं है फिर भी अवयवोंमें रहता है। दूसरे पक्षमें हेतु साध्यके तुल्य हो जाता है; क्योंकि जैसे पृथिवी आदिमें कार्यपना साध्य है वैसे ही उनका परमाणु आदि अवयवोंसे रचा जाना भी साध्य है, वह सिद्ध नहीं है। तीसरे पक्षमें आकाश आदिसे व्यभिचार आता है; क्योंकि आकाश भी सप्रदेशी है, किन्तु कार्य नहीं है। आकाशके सप्रदेशी होनेको आगे सिद्ध करेंगे। यदि 'सावयव है' इस प्रकारकी बुद्धिका विषय होना सावयवत्व है, तो इसमें भी आकाशसे व्यभिचार आता है। अतः यदि कार्यत्वका मतलब सावयवत्वसे है, तो वह ठीक नहीं है।

जो पहले नहीं था उसका अपने कारणोंकी सत्तासे सम्बन्ध होनेका नाम यदि कार्यत्व है तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि समवाय सम्बन्धको आपने नित्य माना है, अतः वह कार्य नहीं हो सकता। 'कृत' इस प्रकारकी बुद्धिका जो विषय है वह कार्य है, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि खोदने वगैरहसे निष्पन्न हुए आकाशमें भी 'कृत' इस प्रकारका व्यवहार पाया जाता है, किन्तु आकाश कार्य नहीं है। यदि विकारित्वका नाम कार्यत्व है तो ईश्वर भी कार्य हो जायेगा। सत् वस्तुमें परि-वर्तन होनेका नाम विकारित्व है। इस प्रकारका विकारित्व ईश्वरमें भी है, अतः वह भी कार्य होनेसे किसी अन्य बुद्धिमान्के द्वारा बनाया गया माना जायेगा। और इस तरह अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि ईश्वर अविकारी है तो वह कार्योंको नहीं कर सकता। अतः कार्यत्व हेतुका स्वरूप विचारनेपर नहीं बनता। इसलिए कार्यत्व हेतु असिद्ध है। तथा जो वस्तु कादाचित्क (कभी-कभी) होती है, लोकमें उसे ही कार्य कहते हैं। जगत् तो ईश्वरकी तरह सदा स्थायी है, वह कार्य कैसे हो सकता है? यदि कहा जायेगा कि जगत्के अन्दर वर्तमान वृक्ष वगैरह कार्य हैं अतः जगत् भी कार्य है तो ईश्वरमें रहनेवाली बुद्धि आदि और परमाणु आदिमें रहनेवाले पाकज रूपादि भी कार्य हैं, अतः ईश्वर और परमाणु आदि भी कार्य कहलायेंगे। और ऐसा माननेपर उनको भी उत्पन्न करनेवाला कोई दूसरा बुद्धिमान् माननेसे अनवस्था दोष आता है।

जगत्को कार्य मान भी लें तो यह प्रश्न होता है, कि कार्यत्व हेतुसे आप कार्य मात्र लेते हैं या कार्यविशेष लेते हैं? यदि कार्यमात्र लेते हैं तो कार्यत्व मात्र हेतुसे बुद्धिमान् कारण विशेषका अनुमान कैसे करते हैं? क्योंकि कार्य मात्र

हेतुका अविनाभाव तो कारण मात्रके साथ है अतः कार्यमात्र हेतुसे कारणमात्रका ही अनुमान किया जा सकता है। और उसमें हमें कोई विवाद नहीं है।

नैयायिक—जैसे धूममात्रसे अग्निमात्रका अनुमान करते हैं वैसे ही कार्यमात्रसे बुद्धिमान् कारणका अनुमान करते हैं।

जैन—अनुमानकी प्रवृत्ति अविनाभाव सम्बन्धके बलसे होती है। और अविनाभाव सम्बन्ध कार्यमात्रका कारणमात्रके साथ ही जाना गया है न कि बुद्धिमान् कारण-विशेषके साथ। धूममात्र भी अग्निमात्रका साधक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे, जहाँसे आग हटा ली गयी है उस कोठरीमें भरे हुए धूमसे व्यभिचार आता है। किन्तु नीचेसे क्रमबद्ध रूपमें ऊपरको उठता हुआ धुआँ अग्निका अनुमापक होता है। उसी तरह कृतबुद्धिका उत्पादक जो कार्यत्व है उससे बुद्धिमान् कारणकी सिद्धि हो सकती है, कार्यत्व मात्रसे नहीं।

यदि जिसका अन्वय-व्यतिरेक बुद्धिमान् कर्ताके साथ निश्चित है ऐसे कार्यत्व-विशेषको हेतु मानते हैं तो इस प्रकारका हेतु असिद्ध है; क्योंकि इस प्रकारके हेतुका पृथिवी आदिमें अभाव है। यदि इस प्रकारका कार्यत्व पृथिवी आदिमें रहता है तो जैसे पुराने कूप और महल वगैरहको देखकर, जिन्होंने उन्हें बनता हुआ नहीं देखा हैं, उन्हें भी यह बुद्धि होती है कि किसी बुद्धिमान् कारीगरने इन्हें बनाया है, वैसे ही पृथिवी आदिके विषयमें भी होना चाहिए।

नैयायिक—जो वस्तु किसीके द्वारा कृत हो उसमें कृतबुद्धि होना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। खोदकर पुनः भर दी गयी पृथ्वीमें तथा कृत्रिम मणि-मुक्ता वगैरहमें, जिन्होंने उन्हें बनता नहीं देखा, उन्हें कृतबुद्धि नहीं होती।

जैन—खोदकर भर दी गयी भूमिमें और अकृत्रिम भूमिमें आकारादिकी समानता पायी जाती है इसलिए उसमें कृतबुद्धि नहीं होती। शायद आप कहें कि पृथिवी वगैरहमें भी अकृत्रिम आकारकी समानता पायी जाती है किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अकृत्रिम आकार तो आप मानते ही नहीं आपके मतसे तो सभी जगत् कृत्रिम है। अतः आपको पुराने कूप वगैरहमें, जिन्होंने उन्हें बनता नहीं देखा उनको भी कृतबुद्धि करानेवाला, और पृथिवी आदिमें कभी भी न पाया जानेवाला, जिनको बनाता हुआ देखा है, ऐसे कूप वगैरहकी सजातीयता रूप विशेष मानना चाहिए। और ऐसी स्थितिमें आपका हेतु असिद्ध क्यों नहीं है, अपितु है। अथवा हेतु सिद्ध भी रहा तो भी वह विरुद्ध है, क्योंकि उससे घटादिकी तरह शरीर आदिसे विशिष्ट बुद्धिमान् कर्ता ही सिद्ध होता है। शायद कहा जाये कि इस तरह विरुद्धताकी उपपत्ति करनेसे तो सभी अनुमानोंका उच्छेद हो

जायेगा, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि धूमादि अनुमानसे रसोईघर तथा अन्यत्र पायी जानेवाली साधारण अग्नि आदिका बोध हो सकता है। किन्तु उस तरह यहाँ बुद्धिमान् साधारण कर्ताकी प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि इस अनुमानसे ऐसे कर्ता सामान्यकी प्रतीति हो सकती है, जिसका आधार दृश्य हो—दृष्टिगोचर हो। जिसका आधार अदृश्य है ऐसे कर्ताकी प्रतिपत्ति इस अनुमानसे नहीं हो सकती। आशय यह है कि पृथिवी वगैरह किसी बुद्धिमान् कर्ताकी बनायी हुई हैं, क्योंकि कार्य हैं, जैसे घर। इस अनुमानसे घटको बनानेवाले कुम्हारके समान ही सशरीर अल्पज्ञ कर्ताकी सिद्धि हो सकती है सर्वव्यापी नित्य आदि ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती।

नैयायिक—सशरीर अल्पज्ञ व्यक्ति पृथिवी आदिका निर्माण नहीं कर सकता। अतः उनका कर्ता असाधारण ही सिद्ध होता है।

जैन—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है इससे तो पृथिवी वगैरहमें कर्ताके अभावका ही प्रसंग आता है। क्योंकि साधारण कर्तासे भिन्न किसी असाधारण कर्ताकी प्रतीति कभी भी नहीं होती।

नैयायिक—जिसको कारकोंकी शक्तिका ज्ञान नहीं है वह कार्यका कर्ता नहीं हो सकता, अन्यथा सब व्यक्तियोंको सब कार्योंके कर्ता होनेका प्रसंग आता है। और हम लोगोंको पृथिवी आदिके सब कारकोंकी शक्तिका ज्ञान नहीं है; क्योंकि परमाणु आदि अतीन्द्रिय हैं। अतः चूँकि ईश्वरको समस्त कारकोंकी शक्तिका परिज्ञान है अतः वही पृथिवी आदिका कर्ता सिद्ध होता है।

जैन—उक्त कथन भी अविचारित रमणीय है। सूत्रधार (मकान बनानेवाला) आदिको धर्मादिका ज्ञान नहीं होता फिर भी वह मकान बनाता है। और प्रारम्भ किये हुए कार्यके सम्पन्न न होनेसे जैसे सूत्रधार आदिमें धर्मादि समस्त कारकोंका अपरिज्ञान सिद्ध होता है वैसे ही ईश्वरके द्वारा प्रारम्भ किये हुए अंकुरादि कार्य भी सम्पन्न नहीं होते, अतः ईश्वरको भी समस्त कारकोंका अपरिज्ञान सिद्ध होता है।

नैयायिक—यद्यपि ईश्वरको समस्त कारकोंका परिज्ञान है, तथापि उपभोक्ताओंके अदृष्टवश प्रारब्ध कार्य निष्पन्न नहीं होते।

जैन—तो सूत्रधार आदिके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। अथवा ईश्वरको समस्त कारकोंका परिज्ञान रहो। फिर भी एक व्यक्ति समस्त कारकोंका अधिष्ठाता नहीं हो सकता। अनेक व्यक्ति भी अनेक कारकोंके अधिष्ठाता हो सकते हैं। समस्त कार्य एकको ही करना चाहिए अथवा एकके द्वारा

अधिष्ठित अनेकोंको ही करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। कार्यका कर्तापना अनेक प्रकारसे देखा जाता है। कहीं एक व्यक्तिके द्वारा एक कार्य किया जाता है जैसे जुलाहेके द्वारा वस्त्र। कहीं एकके द्वारा अनेक कार्य किये जाते हैं, जैसे कुम्हारके द्वारा घट, सकोरे आदि। कहीं अनेकोंके द्वारा अनेक कार्य किये जाते हैं, जैसे कुम्हार आदिके द्वारा घट, वस्त्र, मुकुट, गाड़ी वगैरह। कहीं अनेकोंके द्वारा एक कार्य किया जाता है, जैसे दीमकोंके द्वारा बामी। उनका कोई एक अधिष्ठाता नहीं है। अनेक कारीगर एक सूत्रकारके द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं, इसलिए यदि एक ईश्वरको जगत्का अधिष्ठाता मानते हो तो अनेक दीमकें किसी एकके द्वारा अधिष्ठित हुए बिना ही कार्य करती देखी जाती हैं, अतः जगत् ईश्वरके द्वारा अधिष्ठित हुए बिना ही प्रवृत्ति करे तो क्या हानि है? दोनों ही प्रतीतियाँ समान रूपसे प्रमाण हैं। दो प्रकारके कार्य देखे जाते हैं। कुछ कार्य तो बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा रचे जाते हैं जैसे घट। कुछ कार्य बुद्धिमान् कर्ताके बिना ही होते हैं जैसे स्वयं उगनेवाली वनस्पति। इस तरह जब दोनों ही प्रकारकी प्रतीतियाँ प्रमाण हैं तो दोनों ही प्रकारके कार्योंकी सिद्धि सम्भव है। यदि कहा जायेगा कि स्वयं उगनेवाली वनस्पतिको भी हम वृक्ष पृथिवी वगैरहमें सम्मिलित करते हैं अतः उससे व्यभिचार नहीं आता, तब तो कोई हेतु व्यभिचारी नहीं ठहरेगा; क्योंकि जिससे व्यभिचार आता होगा उसको ही पक्षमें सम्मिलित कर लिया जायेगा। तथा ईश्वरकी बुद्धि आदिसे भी हेतुमें व्यभिचार आता है; क्योंकि ईश्वरकी बुद्धि भी कार्य है, फिर भी अपने समवायी कारण ईश्वरसे भिन्न किसी अन्य बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा उसकी रचना नहीं होती। यदि उसको भी किसी अन्य बुद्धिमान् कर्ताकी कृति मानेंगे तो अनवस्था दोष आता है। तथा कार्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट है; क्योंकि स्वयं उगे हुए अंकुरोंमें कर्ताका अभाव प्रत्यक्षसे ही निश्चित है।

नैयायिक—जो दृश्य होते हुए भी प्रत्यक्षसे दिखाई नहीं देता उसीका प्रत्यक्षसे अभाव सिद्ध होता है। ईश्वर तो दृश्य नहीं है तब प्रत्यक्षसे उसका अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है।

जैन—उक्त कथन भी ठीक नहीं है। यदि ईश्वरका किसी प्रमाणसे सद्भाव सिद्ध हो तो यह कहा जा सकता है कि चूँकि ईश्वर अदृश्य है, अतः उसका अनुपलम्भ है। किन्तु उसका सद्भाव इसी प्रमाणसे सिद्ध होता है या अन्य किसी प्रमाणसे? प्रथम पक्षमें चक्रक दोष आता है। इसी प्रमाणसे ईश्वरका सद्भाव सिद्ध होनेपर ईश्वरके अदृश्य होनेसे उसका अनुपलम्भ सिद्ध होता है, और उसके

सिद्ध होनेपर हेतु कालात्ययापदिष्ट नहीं होता, और हेतुके कालात्ययापदिष्ट न होनेसे उसीसे ईश्वरके सद्भावकी सिद्धि होती है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि ईश्वरके सद्भावका साधक किसी अन्य प्रमाणका अभाव है। अथवा ईश्वरका सद्भाव रहे फिर भी उसके अदृश्य होनेमें कारण क्या शरीरका अभाव है या विद्या वगैरहका प्रभाव है अथवा जातिविशेष है? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है। यदि ईश्वर अशरीर है तो वह कार्योंका कर्ता नहीं हो सकता। अतः ईश्वर, पृथिवी वगैरहका कर्ता नहीं है क्योंकि वह अशरीर है जैसे मुक्तात्मा।

नैयायिक—कर्तापनेकी सामग्रीमें शरीर सम्मिलित नहीं है। शरीरके अभावमें भी ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नका आश्रय होने मात्रसे कर्तापन देखा जाता है।

जैन—यह ठीक नहीं है। आत्माका शरीरसे सम्बन्धका नाम ही सशरीरपना है। उसके होनेपर ही अपने शरीरमें या अन्यत्र कार्यका कर्तापना बनता है। शरीरके अभावमें मुक्तात्माकी तरह ईश्वर ज्ञानादिका भी आश्रय नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्तिमें शरीर निमित्त कारण है। यदि निमित्त कारण शरीरके अभावमें भी ईश्वरमें ज्ञान रहता है तो मुक्तात्मामें भी ज्ञान होना चाहिए।

नैयायिक—ज्ञानादिक नित्य हैं, अतः उक्त दोष ठीक नहीं है।

जैन—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानादिकी नित्यता रूपसे कहीं भी प्रतीति नहीं होती। तथा 'ईश्वरके ज्ञानादि नित्य नहीं हैं, ज्ञानादि होनेसे जैसे 'हमारे ज्ञानादि' इस अनुमानसे भी विरोध आता है। यदि ईश्वरके ज्ञानादि अन्य ज्ञानादिमें पाये जानेवाले स्वभावका अतिक्रमण करते हैं तो वृक्षादिमें भी दृष्ट स्वभावका अतिक्रम मानना होगा। अतः ज्ञानादिको शरीरके द्वारा सम्पाद्य ही मानना चाहिए। ऐसी स्थितिमें शरीर अकिंचित्कर कैसे हो सकता है? यदि ईश्वर विद्या आदिके प्रभावके कारण अदृश्य है तो कभी तो वह अवश्य दिखाई देना चाहिए। जो विद्याधारी या तान्त्रिक होते हैं वे सर्वदा अदृश्य नहीं पाये जाते। यदि कहा जायेगा कि अन्य विद्याधारियोंसे ईश्वर विलक्षण है अतः उसमें दृष्ट स्वभावका अतिक्रमण देखा जाता है तो जगत् रूप कार्य भी संसारके अन्य कार्योंसे विलक्षण है अतः अन्य कार्योंमें पाये जानेवाले स्वभावका उसमें अतिक्रमण होना सम्भव है।

पिशाच आदिकी तरह ईश्वरकी जाति विशिष्ट है इसलिए वह अदृश्य है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, जाति तो अनेक व्यक्तियोंमें रहती है और ईश्वर एक है अतः उसमें जाति-विशेषका होना सम्भव नहीं है। अथवा ईश्वर यदि अदृश्य है तो रहे, किन्तु वह सत्तामात्रसे पृथिवी आदिका कारण है, या ज्ञान-

वत्तासे या ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नवाला होनेसे, या ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न-पूर्वक व्यापार करनेसे पृथिवी आदिका कारण है ? प्रथम पक्षमें कुम्भकार आदिको भी पृथिवी आदिका कारण होनेका प्रसंग आता है, क्योंकि सत्तामात्र तो उनमें भी है। दूसरे पक्षमें योगिजन भी पृथिवी आदिके कर्ता हो सकेंगे। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसका शरीर नहीं है वह ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नवाला नहीं हो सकता। तथा शरीरसे रहित व्यक्ति व्यापार भी नहीं कर सकता। व्यापार या तो कायकृत होता है या वचनकृत होता है। जिसके शरीर नहीं है, उसमें दोनों ही व्यापार नहीं हो सकते। किसीको भी इस प्रकारकी प्रतीति नहीं होती कि मुझे ईश्वरने वचन या कायके द्वारा इस कार्यमें प्रेरित किया है। तथा व्यापारका मतलब है क्रिया। ईश्वरमें क्रिया हो नहीं सकती; क्योंकि वह आकाश-की तरह सर्वव्यापक है। यदि ईश्वर सक्रिय है तो वह सर्वदा तदवस्थ नहीं रह सकता और ऐसा होनेसे अनित्यताका प्रसंग आता है। सर्वथा नित्य और एक-रूप तो वही हो सकता है जिसकी अवस्थामें रंच मात्र भी परिवर्तन न हो। इसमें परमाणुसे व्यभिचार नहीं आता; क्योंकि हमें परमाणुकी भी परिणमन रूपसे अनित्यता इष्ट है। यदि आप ईश्वरको भी परिणमन रूपसे अनित्य मानते हैं तो अनित्य होनेसे वह भी कार्य होगा और तब उसके लिए कोई दूसरा बुद्धिमान् कर्ता मानना होगा और ऐसी स्थितिमें अनवस्था दोष आता है। यदि अनित्य होकर भी ईश्वरका कोई बुद्धिमान् कर्ता नहीं है तो कार्यत्व हेतुको ईश्वरसे ही व्यभिचार आता है।

तथा, ईश्वर प्रत्येक कार्यके लिए एकदेशसे व्यापार करता है या सर्वात्मना व्यापार करता है। यदि एकदेशसे व्यापार करता है तो जितने कार्य हैं उतने ही ईश्वरके अवयव होने चाहिए। और ऐसी स्थितिमें ईश्वरको निरंश माननेकी बात नहीं बनती। यदि ईश्वर, प्रत्येक कार्यके लिए सर्वात्मना व्यापार करता है तो जितने कार्य हैं उतने ही ईश्वर मानने होंगे और तब ईश्वरके एक होनेकी प्रतिज्ञाको क्षति पहुँचेगी। तथा ईश्वरमें रचनेकी इच्छा और संहार करनेकी इच्छा क्या एक साथ होती हैं या क्रमसे। यदि एक साथ होती है तो सृष्टि और संहारका एक साथ प्रसंग आता है। यदि क्रमसे होती है तो उसका कारण बतलाइए। यदि वह कारणकी अपेक्षा करती है तो नित्य नहीं हो सकती।

नैयायिक—यद्यपि इच्छा, प्रयत्न आदि नित्य हैं तथापि विचित्र सहकारियोंके सान्निध्यसे विचित्र कार्योंको करते हैं।

जैन—वे सहकारी उस ईश्वरके अधीन हैं या नहीं ? यदि नहीं हैं तो उन्हींसे कार्यत्व हेतुमें व्यभिचार आता है। यदि ईश्वरके अधीन हैं तो वे सहकारी उसी

समय क्यों नहीं होते ? यदि कहा जाता है कि उनके कारणोंका अभाव है तो पुनः वही प्रश्न होता है कि वे कारण ईश्वरके अधीन हैं या नहीं, और इस प्रकार अनवस्था दोष आता है।

जगत्के निर्माणमें ईश्वरकी प्रवृत्ति अपनी रुचिके अनुसार होती है, या कर्मकी परवशतासे होती है, या करुणासे होती है, या धर्म आदिके प्रयोजनके उद्देश्यसे होती है, या क्रीड़ासे होती है, या लोगोंका निग्रह और अनुग्रह करनेके लिए होती है, या स्वभावसे होती है ? यदि रुचिके अनुसार ईश्वर जगत्के निर्माणमें प्रवृत्त होता है तो कभी सृष्टि बिलकुल विलक्षण भी हो सकती है। यदि ईश्वर कर्माधीन है तो उसकी स्वतन्त्रतामें हानि आती है, ईश्वरत्व या स्वातन्त्र्य तो यही है कि अन्य किसीका मुख देखना न पड़े। यदि ईश्वर करुणावश जगत्की रचना करता है तो दयालु होनेसे एक साथ सभीको ऐश्वर्यशाली बनाना चाहिए। तब संसारमें कोई दुःखी ही न रहेगा, क्योंकि दयालुकी यही दयालुता है कि दूसरोंको दुःखका लेश भी न हो।

नैयायिक—पूर्व उपार्जित कर्मोंके वश होकर ही प्राणी दुःख उठाते हैं उसमें ईश्वर क्या कर सकता है ?

जैन—तब ईश्वरका क्या पौरुष रहा। कर्म तो उपभोगसे ही क्षय होते हैं। यदि ईश्वर अदृष्टकी अपेक्षा करके जगत्का निर्माण करता है तो ईश्वरको माननेसे क्या लाभ है ? क्योंकि यदि ईश्वर अदृष्टके अधीन है तो जगत्को ही अदृष्टके अधीन मान लेना चाहिए, इस अन्तर्गडु ईश्वरसे क्या लाभ ? यदि ईश्वर धर्म आदि प्रयोजनके उद्देश्यसे जगत्के निर्माणमें प्रवृत्ति करता है तो वह कृतकृत्य कैसे हो सकता है, क्योंकि जो कृतकृत्य हो जाता है उसे धर्मादिका प्रयोजन नहीं रहता।

यदि ईश्वर क्रीड़ावश प्रवृत्ति करता है तो वह साधारण जनकी तरह वीतराग कैसे हुआ। ईश्वर परमपुरुष है और बच्चोंकी तरह क्रीड़ा करता है यह तो महान् आश्चर्य है। इसी तरह यदि वह शिष्ट जनोंके अनुग्रह और दुष्ट जनोंके निग्रहके लिए प्रवृत्ति करता है तो वह वीतराग और वीतद्वेष कैसे हुआ। जैसे सूर्य स्वभावसे ही प्रकाशित होता है वैसे ही ईश्वर यदि स्वभावसे ही जगत्के निर्माणमें प्रवृत्ति करता है तो अचेतन भी जगत्की प्रवृत्ति स्वभावसे ही हो, एक अधिष्ठाताकी कल्पनासे क्या लाभ है ? अनादिकालसे जगत् अपने स्वभावसे ही स्थित है। तथा बुद्धिमान् ईश्वरकी बुद्धि नित्य है या अनित्य ? नित्य तो हो नहीं सकती, क्योंकि नित्यता अनुमानसे भी और प्रतीतिसे भी बाधित है। यदि अनित्य है तो किससे उस बुद्धिकी उत्पत्ति होती है—इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे या समाधि-विशेष-

से या समाधिसे उत्पन्न हुए धर्मके माहात्म्यसे, या ध्यानमात्रसे। प्रथम पक्ष युक्त नहीं है; क्योंकि ईश्वर तो अशरीरी है उसके मुक्तात्माकी तरह न तो मन है और न इन्द्रियाँ हैं। यदि हैं तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान नियत अर्थको ही जानता है।

समाधि-विशेष और अनुध्यान भी ज्ञानविशेष ही हैं और ईश्वर अभीतक भी असिद्ध है तब स्वयंसे स्वयंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जब समाधि-विशेष ही असम्भव है तो उससे उत्पन्न हुआ धर्म ईश्वरमें कैसे हो सकता है, जिससे उसके माहात्म्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव हो। तथा अशरीरी ईश्वरमें समाधि भी कैसे सम्भव है? अतः कारणके असम्भव होनेसे ईश्वरमें ज्ञानका सद्भाव नहीं बनता। ऐसी स्थितिमें ईश्वरमें बुद्धिमत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है।

तथा ईश्वरको माननेमें संसारका ही लोप हो जाता है; क्योंकि ईश्वरके व्यापारसे पहले शरीर और इन्द्रिय वगैरहका अभाव होनेसे सब आत्माओंके बुद्धि आदि गुणोंका भी अभाव होगा और शरीर इन्द्रिय वगैरहके अभावमें तथा बुद्धि आदि विशेष गुणोंके अभावमें आत्यन्तिक शुद्धिको प्राप्त आत्माओंको अमुक्त मानना युक्त नहीं है। इस प्रकार संसारकी रचनामें प्रवृत्त हुआ ईश्वर संसारका अभाव कर देता है यह तो उसकी बड़ी भारी बुद्धिमत्ता है? अतः योगके द्वारा माना गया ईश्वर समस्त जगत्का जनक नहीं हो सकता और इसलिए वह सर्वज्ञ भी सिद्ध नहीं होता।

ईश्वरके स्वरूपके विषयमें सांख्यका[1] पूर्वपक्ष

योगसूत्रमें लिखा है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥१-२४॥"

क्लेश, शुभ-अशुभ कर्म उन कर्मोंके फलका उपभोग रूप विपाक तथा आशय (नाना प्रकारके तदनुरूप संस्कार) से अछूता जो पुरुष-विशेष है वह ईश्वर है। किन्तु मुक्तात्मा ईश्वर नहीं है; क्योंकि वे बन्धसे सर्वदा अछूते नहीं होते। जो सर्वदा बन्धसे मुक्त है और जिसे कभी भी क्लेशादि नहीं सताते वही ईश्वर है। ईश्वरके सिवाय जो अन्य मुक्तात्मा हैं वे ऐसे नहीं हैं। उनके प्राकृत, वैकारिक और दक्षिणके भेदसे तीन प्रकारका बन्ध[2] होता है। आत्मा और अनात्माके विवेकका न होना प्राकृतबन्ध है। विषयोंमें आसक्तिका होना वैकारिक बन्ध है। और

---

१. न्या० कु० च०, पृ० १०९-१११।
२. सां० का०, माठरवृत्ति, पृ० ६२ आदि।

धर्म-अधर्मस्वरूप दक्षिणाबन्ध है। इन तीनों प्रकारके बन्धोंसे ईश्वर ही सर्वदा अछूता रहता है। मुक्तात्मा तो इन तीनों बन्धोंको विवेक ज्ञानसे, माध्यस्थ्यसे तथा कर्मफलके उपभोगसे नष्ट करके ही कैवल्यको प्राप्त हुए हैं, भगवान् ईश्वर तो सदा ही मुक्त है, सदा ही ईश्वर है, न तो उसके संसारसे मुक्त हुए आत्माओंकी तरह पूर्वा कोटि है और न प्रकृतिलीन तत्त्वज्ञानी योगियोंकी तरह अपरा कोटि है। योगी लोग मुक्तिको प्राप्त करके भी पुन: बन्धनमें पड़ जाते हैं।

ईश्वरमें निरतिशय उत्कृष्ट सत्त्वशाली बुद्धि रहती है अतः उससे उसकी ऐश्वर्यशालिता सिद्ध है तथा शास्त्रसे उसकी निरतिशय उत्कृष्ट सत्त्वशालिता सिद्ध है। शास्त्रका और निरतिशय सत्त्वके उत्कर्षका अनादि सम्बन्ध होनेसे अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता।

ईश्वरका वह ऐश्वर्य आठ प्रकार[1]का है—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायिता। अणुशरीर होकर ईश्वर समस्त प्राणियोंको दिखाई न देते हुए जो समस्त लोगमें संचार करता है यह अणिमा है। लघु होकर वायुकी तरह विचरण करता है, यह लघिमा है। वह समस्त लोकमें पूजित और बड़ोंसे भी बड़ा होता है, यह महिमा है। जो-जो वह मनमें सोचता है वह-वह उसे प्राप्त होता है, यह प्राप्ति है। विषयोंको भोगनेमें समर्थ होता है, यह प्राकाम्य है। तीनों लोकोंका स्वामी होता है, यह ईशिता है। स्थावर और जंगम प्राणियोंको अपने वशमें करता है तथा जितेन्द्रिय होता है, यह वशिता है। ब्राह्म, प्राजापत्य, दैव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पैत्र और पिशाच इन आठ देवयोनियोंमें पाँच प्रकारके तिर्यंचों और मनुष्योंमें जहाँ-जहाँ उसकी इच्छा होती है वहीं बसता है, यह यत्रकामावसायिता है[2]।

इन ज्ञान और ऐश्चर्य आदिका प्रकृष्ट और प्रकृष्टतम रूपसे तारतम्य देखा जाता है। जिसमें इनका सर्वाधिक प्रकर्ष पाया जाता है वही ईश्वर है। इस अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि होती है। जो इस प्रकार है—

जिसके तारतम्यका प्रकर्ष—हीनता और अधिकताकी चरमसीमा देखा जाता है, उसका कहीं पर्यवसान होता है। जैसे परिमाणका प्रकर्ष आकाशमें। ज्ञान और ऐश्वर्य आदि धर्मोके तारतम्यका प्रकर्ष देखा जाता है। उस ईश्वरकी प्रवृत्ति समस्त संसारियोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही होती है। वह कल्प, प्रलय और महाप्रलयमें 'समग्र जगत्का उद्धार करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके ही स्थित रहता

---

१. माठरवृ०, पृ० ४१। योगसूत्र व्या० भा०, ३।४५।

२. माठरवृ०, पृ० ७०।

है। जो ध्यानी उसका ध्यान करते हैं, वचनसे उसका जप करते हैं उनको वह अभीष्ट फल देता है। कालके द्वारा[1] उसका कभी विनाश नहीं होता, अतः वह कपिलमहर्षि आदि पूर्व गुरुओंका भी गुरु है। कपिलादि कल्प महाकल्प आदि कालके द्वारा नष्ट हो जाते हैं, किन्तु ईश्वर सदा अवस्थित रहता है।

उत्तरपक्ष—[2]सांख्यका उक्त कथन अविचारित रमणीय है। यतः उस ईश्वरका स्वरूप क्या क्लेश आदिसे अछूता होना मात्र है या क्लेश आदिसे अछूता रहते हुए सर्वज्ञ होना उसका स्वरूप है? प्रथम पक्षमें तो वह मुक्त ही हुआ, ईश्वर नहीं, क्योंकि अन्य मुक्त भी क्लेश आदिसे अछूते होते हैं। फिर भी यदि वह ईश्वर है तो अन्य मुक्तोंको भी ईश्वरत्वका प्रसंग आता है।

सांख्य—मुक्त जीव बन्धसे सर्वदा अस्पृष्ट नहीं होते, अतः उन्हें ईश्वरत्वका प्रसंग नहीं आता।

जैन—ईश्वर भी बन्धसे सर्वदा अस्पृष्ट नहीं हो सकता। इस बातका कथन आगे मोक्षके कथनमें किया जायेगा।

दूसरे पक्षमें अर्थात् यदि क्लेशादिसे अस्पृष्ट होते हुए सर्वज्ञता ईश्वरका स्वरूप है तो उसकी सिद्धि कैसे करते हैं, सब जगत्का कर्ता होनेसे अथवा ऐश्वर्यका आश्रय होनेसे? प्रथम पक्षमें योगोंके द्वारा माने गये ईश्वरके पक्षमें जो दूषण दिये गये हैं वे सब दूषण आते हैं। तथा यदि आप ईश्वरको कर्ता मानते हैं तो आपने आत्माको जो 'अकर्ता निर्गुणः शुद्धः' आदि कहा है, वह नहीं बनता।

सांख्य—अकर्ता आदि अन्य आत्माओंका ही लक्षण है, ईश्वरका नहीं। ईश्वर अन्य आत्माओंसे विशिष्ट है। अतः उसमें कोई दोष नहीं।

जैन—तब तो शुद्धता आदि भी ईश्वरका स्वरूप नहीं हो सकेगी और इस तरह ईश्वर अन्य आत्माओंसे अत्यन्त विशिष्ट हो जायेगा।

अथवा ईश्वर कर्ता रहे, किन्तु वह ईश्वर स्वतन्त्ररूपसे कार्य करता है या प्रकृतिके अधीन होकर कार्य करता है? यदि वह स्वतन्त्र कार्य करता है तो योगोंके द्वारा माने गये ईश्वरसे उसमें कोई विशेषता नहीं है अतः उसमें दूषण देनेसे ही इसको भी दूषित समझ लेना चाहिए। यदि वह ईश्वर प्रकृतिके अधीन होकर कार्य करता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आगे प्रकृतिके स्वरूपका निराकरण करेंगे। तथा ईश्वर प्रकृतिके अधीन क्यों है? क्या प्रकृति ईश्वरमें कुछ अतिशयका आधान करती है या मिलकर कार्य करती है? पहला पक्ष ठीक

१. योगसू० १।२५।
२. न्या० कु० च०, पृ० ११?–११४।

नहीं है, ईश्वर सर्वथा नित्य होनेसे अविकारी है, अतः प्रकृति उसमें अतिशयका आधीन नहीं कर सकती। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जब ईश्वर और प्रकृति दोनों कारण सर्वत्र सर्वदा वर्तमान हैं और उनकी शक्ति भी अप्रतिहत है तो अविकल कारण होनेसे सभी कार्य एक साथ उत्पन्न हो जायेंगे। जो जब अविकल कारण होता है वह तब उत्पन्न होता ही है, जैसे अन्तिम क्षण अवस्थाको प्राप्त कारण सामग्रीसे अंकुरकी उत्पत्ति होती ही है। नित्य व्यापी ईश्वर और प्रधान नामक दो कारणोंके अधीन समस्त कार्य अविकल कारण हैं, अतः उनकी उत्पत्ति एक साथ होगी ही।

सांख्य—यद्यपि ईश्वर और प्रकृति रूप दोनों कारण सर्वत्र सर्वदा वर्तमान रहते हैं फिर भी सर्वत्र सर्वदा कार्योत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कार्योंकी स्थिति, उत्पत्ति और विनाशमें क्रमसे प्रकटपनेको प्राप्त सत्त्व, रज और तम सहायक हैं और प्रकटपनेको प्राप्त सत्त्व, रज और तम क्रमसे होते हैं।

जैन—यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जिस समय ईश्वर और प्रकृति स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयमें-से किसी एकको उत्पन्न करते हैं तो उनमें शेष दोको उत्पन्न करनेकी शक्ति है या नहीं? यदि है तो सृष्टिके समयमें भी स्थिति और प्रलयका प्रसंग आता है; क्योंकि सृष्टिकी तरह वे दोनों भी अविकल कारण हैं। इसी तरह स्थितिके समय उत्पाद और विनाशका तथा विनाशके समय स्थिति और उत्पादका प्रसंग आता है। किन्तु यह युक्त नहीं है; क्योंकि परस्परके परिहारसे रहनेवाले उत्पाद आदि धर्मोंका एकधर्मीमें एक साथ सद्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। यदि एकको उत्पन्न करनेके समय शेष दोको उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है तो स्थिति आदिमें-से जिसको उत्पन्न करनेकी शक्ति है वही एक कार्य सदा होगा, शेष दोनों नहीं होंगे; क्योंकि ईश्वर और प्रकृतिमें उन दोनोंको उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है। और यतः दोनों अविकारी हैं उनमें कोई विकार होना शक्य नहीं है, अतः उनमें पुनः शक्तिकी उत्पत्ति हो नहीं सकती अन्यथा वे दोनों नित्य एक स्वभाववाले नहीं हो सकते।

सांख्य—ईश्वर और प्रकृतिमें यद्यपि स्थिति, उत्पाद और विनाश तीनोंको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है तथापि जब उद्भूतवृत्ति (प्रकटपनेको प्राप्त) रज सहायक होता है तब वे उत्पत्ति करते हैं, जब सत्त्व सहायक होता है तो स्थिति करते हैं और जब तम सहायक होता है तो प्रलय करते हैं।

जैन—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व, रज और तमकी उद्भूतवृत्तिता नित्य है या अनित्य है। नित्य तो है नहीं; क्योंकि वह कादाचित्क (कभी-कभी

होनेवाली) है। तथा यदि उसको नित्य मानेंगे तो स्थिति वगैरहके एक साथ होनेका प्रसंग आता है। यदि सत्त्व आदिकी उद्भूतवृत्तिता अनित्य है तो वह किससे उत्पन्न होती है ? प्रकृति और ईश्वरसे ही, या किसी अन्यसे, अथवा स्वतन्त्र रूपसे ? प्रथम पक्षमें उद्भूतवृत्तिताके सदा सद्भावका प्रसंग आता है क्योंकि उसके कारण प्रकृति और ईश्वर नित्य होनेसे सदा रहते हैं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति और ईश्वरके सिवाय कोई तीसरा कारण आप मानते ही नहीं। तीसरे पक्षमें उद्भूतवृत्तिताका आविर्भाव काल और देशके नियमसे नहीं हो सकता; क्योंकि जो स्वतन्त्रतापूर्वक होता है उसका देशनियम और कालनियम नहीं बन सकता। अतः विचार करनेपर ईश्वरमें कर्तापना किसी भी तरह नहीं बनता। अतः कर्ता होनेसे ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

ऐश्वर्यका आश्रय होनेसे भी ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि विचार करनेपर ईश्वरमें ऐश्वर्य भी नहीं बनता। इसका विशेष इस प्रकार है—ईश्वरमें ऐश्वर्य स्वाभाविक है या प्रकृतिकृत है ? स्वाभाविक तो हो नहीं सकता, क्योंकि सांख्य ऐश्वर्यको बुद्धिका धर्म मानते हैं। और आत्मामें केवल चैतन्यको स्वाभाविक मानते हैं। यदि ऐश्वर्य प्रकृतिकृत है अर्थात् जब प्रकृति बुद्धिरूप परिणमन करती है तब उसकी अवस्था विशेष धर्म-ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि प्रकट होते हैं, तब तो आपने ही ईश्वरमें ऐश्वर्यका अभाव बतला दिया क्योंकि जब ऐश्वर्य बुद्धिका परिणाम है और ईश्वर उससे भिन्न है तो ईश्वरमें ऐश्वर्य कैसे हो सकता है, अन्यथा अन्य आत्माओंमें भी ऐश्वर्य मानना पड़ेगा।

तथा, अपने इष्ट कार्यके सम्पादनमें द्रव्य सहाय आदिकी सम्पन्नताको ऐश्वर्य कहते हैं, यदि ईश्वर अपने किसी इष्ट कार्यको नहीं करता, केवल वस्तुको ज्योंका त्यों जानता है, तो वह इतने ही से ऐश्वर्यवान् कैसे हुआ। जो जिसे जानता है वह उस विषयमें ईश्वर है, ऐसी तो बात नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे अतिप्रसंग दोष आता है। यदि कहा जाता है कि ईश्वरका ज्ञान कालसे विच्छिन्न नहीं होता, अतः वही ईश्वर है, अन्य नहीं। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कालसे विच्छिन्न न होनेसे नित्यताकी सिद्धि होती है, ऐश्वर्यकी नहीं।

अतः जगत्का कर्ता होने आदिके द्वारा सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध नहीं होता। किन्तु कर्मोंके आवरणके हट जानेपर आत्मा ही सर्वज्ञ सिद्ध होता है। ऐसा आगे बतलायेंगे।

परोक्षप्रमाण

अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। परोक्ष प्रमाणके पाँच भेद हैं – स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। सभी जैन तार्किकोंने परोक्ष प्रमाणके उक्त ये पाँच भेद किये हैं। केवल एक अपवाद है। अकलंकदेवकृत न्याय-विनिश्चयके टीकाकार वादिराज सूरिने अपने 'प्रमाण[1] निर्णय' नामक निबन्धमें परोक्षके दो भेद किये हैं—एक अनुमान और दूसरा आगम। अनुमानके दो भेद किये हैं – गौण और मुख्य। गौण अनुमानके तीन भेद किये हैं – स्मरण, प्रत्य-भिज्ञा और तर्क। स्मरण प्रत्यभिज्ञामें कारण है, प्रत्यभिज्ञा तर्कमें कारण है और तर्क अनुमानमें कारण है। इस तरह ये तीनों चूँकि परम्परासे अनुमान प्रमाणमें कारण हैं, इसलिए गौण प्रमाण मानकर वादिराजने इन्हें अनुमानमें गर्भित कर लिया है। ऐसा करनेका एक ही कारण प्रतीत होता है – न्यायविनिश्चयके तीन परिच्छेदोंमें अकलंकदेवने क्रमसे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणका ही कथन किया है। अतः वादिराज सूरिने परोक्षके अनुमान और आगम भेद करके शेष तीन परोक्ष प्रमाणोंको अनुमानमें गर्भित कर लिया प्रतीत होता है।

स्मरण अथवा स्मृति

पहले जानी हुई वस्तुके स्मरणको स्मृतिज्ञान कहते हैं। जैसे, वह देवदत्त।

स्मृतिको प्रमाण न माननेवाले बौद्ध आदिका पूर्व पक्ष—बौद्धोंका कहना है, [2]स्मृतिज्ञानके स्वरूप और विषयका विचार करनेसे स्मृति ज्ञानको प्रमाण मानना ठीक प्रतीत नहीं होता। विशेष इस प्रकार है – 'स्मृति' शब्दसे आप क्या लेते हैं – ज्ञान मात्र अथवा अनुभूत अर्थको विषय करनेवाला ज्ञान? यदि ज्ञानमात्रका नाम स्मृति है तब तो प्रत्यक्ष आदि ज्ञान भी स्मृति कहे जायेंगे और ऐसा होनेसे स्मृतिके सिवा शेष सभी प्रमाणोंका लोप हो जायेगा; क्योंकि आप प्रत्येक ज्ञानको स्मृति मानते हैं। यदि अनुभूत अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानको स्मृति कहते हैं तो देवदत्तके द्वारा अनुभूत पदार्थमें यज्ञदत्तको जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह भी

---

१. 'तच्च द्विविधमनुमानमागमश्चेति। अनुमानमपि द्विविधं गौण-मुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति। तस्य चानुमानत्वं यथापूर्व-मुत्तरोत्तरहेतुतयाऽनुमाननिबन्धनत्वात्।—प्रमाणनि० पृ० ३३१।

२. न्याय० कु० च०, पृ० ४०५। प्र० क० मा०, पृ० ३३६।

स्मृति कहा जायेगा। शायद आप कहें कि जिस मनुष्यने पहले जिस वस्तुको प्रत्यक्षसे जाना है, कालान्तरमें उसी मनुष्यको उसी वस्तुका जो ज्ञान होता है वह स्मृति है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा माननेसे तो धारावाही प्रत्यक्ष भी स्मृति कहा जायेगा। यतः धारावाही प्रत्यक्षमें भी उसी मनुष्यको उसी वस्तुका पुनः-पुनः ज्ञान होता है।

दूसरे, यदि अनुभूत वस्तुमें होनेवाले ज्ञानको आप स्मृति कहते हैं तो अनुभूत वस्तुमें ज्ञान हुआ यह कैसे मालूम होता है, प्रत्यक्षसे, स्मृतिसे अथवा दोनोंसे ? प्रत्यक्षसे यह ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि जिस समय प्रत्यक्ष ज्ञान होगा उस समय स्मृति ही नहीं रहेगी। तब असत् स्मृति ज्ञानको प्रत्यक्ष कैसे जान सकता है ? क्योंकि जो असत् होता है उसे जाना नहीं जा सकता, जैसे खरविषाण असत् है अतः उसे कोई जान नहीं सकता। इसी तरह प्रत्यक्षके समय स्मृतिज्ञान असत् है अतः उसे प्रत्यक्ष जान नहीं सकता। और जब प्रत्यक्ष ज्ञान स्मृतिको जान नहीं सकता तब वह यह कैसे जान सकता है कि अनुभूत पदार्थमें स्मृति होती है। अतः प्रत्यक्षसे तो इस बातकी प्रतीति हो नहीं सकती।

स्मृतिसे भी उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि यदि स्मृति प्रत्यक्ष और उसके विषयभूत अर्थको जान सकती तो वह यह जान सकती थी कि 'मैं अनुभूत पदार्थमें उत्पन्न हुई हूँ।' किन्तु स्मृति उन्हें नहीं जानती। तथा यदि 'अनुभूतता' प्रत्यक्षका विषय होती तो स्मृति भी यह जान सकती कि 'मैं अनुभूत पदार्थमें उत्पन्न हुई हूँ'; क्योंकि स्मृति तो प्रत्यक्षका अनुसरण करती है। किन्तु प्रत्यक्षका विषय अनुभूतता नहीं है, अनुभूयमानता है। अतः स्मृति भी इस बातको नहीं जानती। और न स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों ही इस बातको जानते हैं; क्योंकि प्रत्येक पक्षमें जो दूषण ऊपर दिये हैं वे दूषण आते हैं। अतः विचार करनेपर स्मृतिका स्वरूप नहीं बनता। और न विषय ही बनता है। स्मृतिका विषय वस्तुमात्र है अथवा अनुभूत वस्तु है ? यदि वस्तु मात्र स्मृतिका विषय है, तो सभी प्रमाण स्मृति हो जायेंगे। और यदि अनुभूत वस्तु स्मृतिका विषय है तो देवदत्तसे अनुभूत पदार्थमें होनेवाला यज्ञदत्तका ज्ञान और धारावाही ज्ञान स्मृति कहे जायेंगे। यदि स्मृति अनुभूत अर्थको जानती है तो वह प्रमाण नहीं हो सकती; क्योंकि उसका विषय अविद्यमान है, जो अविद्यमानको विषय करता है, वह प्रमाण नहीं होता। और यदि अविद्यमानको विषय करनेपर भी स्मृतिको आप प्रमाण मानते हैं तब तो बड़ी गड़बड़ी उपस्थित होगी। अतः स्मृति प्रमाण नहीं है।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना है कि [1]हम संस्कार-विशेषसे उत्पन्न होनेवाले तथा अनुभूत अर्थको विषय करनेवाले 'वह' इस आकार रूप ज्ञानको स्मृति मानते हैं। यह स्मृति ज्ञान अन्य ज्ञानोंसे भिन्न है। पूर्व ज्ञानका प्रबल संस्कार स्मृतिका कारण है जब कि प्रत्यक्षादि ज्ञान चक्षु आदि कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। 'वह देवदत्त' यह स्मृतिका स्वरूप है जब कि 'यह देवदत्त' आदि प्रत्यक्षादिका स्वरूप है। स्मृतिका विषय अनुभूत पदार्थ है जब कि प्रत्यक्षादिका विषय वर्तमान पदार्थ आदि है। इस प्रकार कारणभेद, स्वरूपभेद और विषयभेदसे स्मृति प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भिन्न ही है। फिर भी उसे प्रमाण न माननेका क्या कारण है? क्या वह गृहीत वस्तुको ही ग्रहण करती है इसलिए प्रमाण नहीं है, अथवा उसका कोई विशेष विषय नहीं है इसलिए वह अप्रमाण है, अथवा असत् अतीत वस्तुको विषय करनेसे वह अप्रमाण है, अथवा वह अर्थसे उत्पन्न नहीं होती इसलिए अप्रमाण है, अथवा वह भ्रान्त होती है इसलिए अप्रमाण है, अथवा वह समारोप (संशयादि) को दूर नहीं करती इसलिए अप्रमाण है, अथवा उससे कोई प्रयोजन नहीं सधता इसलिए वह अप्रमाण है?

यदि गृहीत वस्तुको ग्रहण करनेके कारण स्मृतिको अप्रमाण कहते हैं तो अनुमानसे जानी हुई अग्निको पीछे प्रत्यक्षसे जाननेपर वह प्रत्यक्ष भी अप्रमाण कहा जायेगा; क्योंकि वह भी गृहीत वस्तुको ग्रहण करता है। शायद कहा जाये कि अनुमानसे जानी हुई अग्निको जाननेपर भी प्रत्यक्षज्ञानमें अनुमान ज्ञानसे कुछ अपूर्वता रहती है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण है तो फिर स्मृति क्यों अप्रमाण है; क्योंकि जो वस्तु पहले वर्तमान रूपसे जानी गयी थी उसे ही वह अतीत रूपसे जानता है अतः स्मृतिमें भी कुछ अपूर्वता है ही। अतः स्मृति प्रमाण है; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जाने हुए भी पदार्थको कुछ अपूर्वताको लिये हुए जानती है। अतः गृहीतग्राही होनेसे स्मृतिको अप्रमाण नहीं माना जा सकता। दूसरी आपत्ति भी उचित नहीं है; क्योंकि पहले कहीं रखी हुई वस्तुको, विचारित वस्तुको और पठित वस्तुको स्मरण कराना स्मृतिका ही कार्य है। वह कार्य किसी अन्य प्रमाणसे नहीं हो सकता। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस अतीत वस्तुको स्मृति जानती है वह अतीत वस्तु स्वकालमें असत् है या स्मृतिकालमें असत् है? स्वकालमें तो वह असत् नहीं है, क्योंकि अतीतकालमें वह वस्तु विद्यमान थी। और स्मृतिकालमें स्मृतिके विषयभूत अर्थके अविद्यमान होनेसे स्मृति अप्रमाण नहीं हो सकती।

---

१. न्या० कु० च०, पृ० ४०६। प्र० क० मा० पृ० ३३६।

ऐसा माननेसे तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरेगा; क्योंकि क्षणिकवादी बौद्ध प्रत्यक्षके विषयभूत अर्थको प्रत्यक्षकालमें सत् नहीं मानते। अत: अविद्यमानको जाननेके कारण प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरता है।

इसी तरह यदि अर्थसे उत्पन्न न होनेके कारण स्मृति अप्रमाण है, तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरेगा; क्योंकि प्रत्यक्षकालमें बौद्ध मतानुसार अर्थके न रहनेसे प्रत्यक्ष भी अर्थसे उत्पन्न नहीं होता। तथा अर्थ ज्ञानका कारण नहीं है, यह पहले कह भी आये हैं अत: यह आपत्ति भी उचित नहीं है।

भ्रान्त होनेसे स्मृतिको प्रमाण न मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि अपने विषयमें स्मृति निर्भ्रान्त होती है। हाँ, यदि कहीं भ्रान्ति पायी जाये तो उसे स्मृति न मानकर स्मृत्याभास मानना चाहिए। जैसे कि जिस प्रत्यक्षमें भ्रान्ति होती है उसे प्रत्यक्ष न मानकर प्रत्यक्षाभास (झूठा प्रत्यक्ष) कहते हैं। इसी तरह समारोपको दूर न करनेके कारण स्मृतिको प्रमाण न मानना भी अनुचित है। क्योंकि स्मृतिके विषयभूत अर्थमें विपरीत आरोपका प्रवेश सम्भव नहीं है।

स्मृतिसे कोई प्रयोजन नहीं सधता इसलिए वह अप्रमाण है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति स्मृति प्रमाणपर ही निर्भर है। जो मनुष्य पहले साध्य और साधनका सम्बन्ध निर्णीत कर लेता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है, वह मनुष्य जब कहीं धुआँ देखता है तो तत्काल उसे धूम और अग्निके पूर्व निर्णीत सम्बन्धका स्मरण होता है और उसके बाद वह अनुमानसे अग्निको जान लेता है। अत: अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्तिमें कारण होनेसे स्मृतिके प्रामाण्यका निषेध कैसे किया जा सकता है? यदि स्मृति प्रमाण न हो तो अनुमान प्रमाण ही नहीं बन सकता। अत: स्मृतिको एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण

[१]प्रत्यक्ष और स्मरणकी सहायतासे जो जोड़ रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही देवदत्त है, गवय गौके समान होता है, भैंस गौसे विलक्षण होती है, यह उससे दूर है, इत्यादि जितने भी इस तरहके जोड़ रूप ज्ञान होते हैं वे सब प्रत्यभिज्ञान हैं। इन उदाहरणोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामने देवदत्तको देखकर पहले देखे हुए देवदत्तका स्मरण आनेसे यह ज्ञान होता है कि यह

---

१. दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।'—परीक्षामु० ३-५।

वही देवदत्त है। इस ज्ञानके होनेमें प्रत्यक्ष और स्मरण कारण होते हैं। तथा यह ज्ञान पहले देखे हुए देवदत्तमें और वर्तमानमें सामने विद्यमान देवदत्तमें रहनेवाले एकत्वको विषय करता है, इसलिए इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। किसी मनुष्यने गवय नामका पशु देखा। देखते ही उसे पहले देखी हुई गौका स्मरण हुआ उसके पश्चात् 'गौके समान यह गवय है' ऐसा ज्ञान होता है। यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंसको देखकर गौका स्मरण हो आनेपर 'भैंस गौसे विलक्षण होती है' होनेवाला यह ज्ञान वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी तरह प्रत्यक्ष और स्मरणके विषयभूत पदार्थोंमें परस्परकी अपेक्षाको लिये हुए जितने भी जोड़रूप ज्ञान होते हैं, जैसे यह उससे दूर है, यह उससे पास है, यह ऊँचा है या यह उससे नीचा है आदि, वे सब प्रत्यभिज्ञान हैं।

पूर्वपक्ष—[२]क्षणिकवादी बौद्ध स्मृतिकी तरह प्रत्यभिज्ञानको भी प्रमाण नहीं मानता। उसका कहना है—पहले जानी हुई वस्तुको पुनः कालान्तरमें 'यह वही है' इस रूपसे जाननेका नाम प्रत्यभिज्ञान है। किन्तु यह एक ज्ञान नहीं है; क्योंकि इसमें 'वह' यह ज्ञान स्मरणरूप होनेसे अस्पष्ट है और 'यह' ज्ञान प्रत्यक्ष रूप होनेसे स्पष्ट है। अतः अस्पष्ट और स्पष्टरूप दो विरोधी धर्मोंका आधार एक ज्ञान नहीं हो सकता। यदि हो सकता है तो ये दो आकार प्रत्यभिज्ञानमें एकमेक होकर प्रतिभासित होते हैं अथवा अलग-अलग प्रतिभासित होते हैं। यदि एकमेक होकर प्रतिभासित होते हैं तो दोनोंमें से किसी एक आकारका ही प्रतिभास होना चाहिए क्योंकि दूसरा आकार तो उससे अभिन्न है। और यदि दोनों आकार अलग-अलग प्रतिभासित होते हैं तो यह एक ज्ञान न होकर अलग-अलग दो ज्ञान सिद्ध होते हैं तब प्रत्यभिज्ञान नामका एक ज्ञान कैसे सम्भव है?

दूसरे, प्रत्यभिज्ञानका कोई कारण भी नहीं है। उसका कारण इन्द्रिय है, अथवा पूर्व प्रत्यक्षसे उत्पन्न हुआ संस्कार है, अथवा दोनों हैं? इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञानका कारण हो नहीं सकती; क्योंकि वह वर्तमान पदार्थका ही ज्ञान करा सकती है। संस्कार भी प्रत्यभिज्ञानका कारण नहीं है; क्योंकि वह स्मरणका कारण है। इन्द्रिय और संस्कार दोनों भी प्रत्यभिज्ञानके कारण नहीं हैं, क्योंकि दोनोंको कारण माननेसे दोनों पक्षोंमें दिया गया दोष उपस्थित होगा। अन्य कोई कारण भी प्रतीत नहीं होता जिसे प्रत्यभिज्ञानका कारण माना जाये अतः प्रत्यभिज्ञान नामका कोई ज्ञान सम्भव नहीं है।

यह मान भी लिया जाये कि प्रत्यभिज्ञान सम्भव है तो भी वह प्रमाण नहीं

२. न्या० कु० च०, पृ० ४११।

हो सकता; क्योंकि उसका कोई विषय नहीं है। उसका विषय पूर्वज्ञानमें प्रतिभासित वस्तु है या उससे कोई भिन्न है? यदि पूर्वज्ञानसे जानी हुई वस्तुको ही प्रत्यभिज्ञान जानता है तो धारावाही ज्ञानकी तरह गृहीतग्राही होनेसे वह प्रमाण नहीं है। यदि पूर्व ज्ञानमें प्रतिभासित वस्तुसे प्रत्यभिज्ञानका विषय भिन्न है तो वह किस बातमें भिन्न है?

शायद कहा जाये कि अतीत कालवर्ती और वर्तमान कालवर्ती देवदत्तमें ऐक्यकी प्रतीति प्रत्यभिज्ञानसे होती है। अतः पूर्वज्ञानमें प्रतिभासित वस्तुको विशेषरूपसे प्रत्यभिज्ञान जानता है इसलिए वह अगृहीतग्राही होनेसे प्रमाण है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह ऐक्य क्या चीज़ है, जिसे आप प्रत्यभिज्ञानका विषय बतलाते हैं—एकत्व संख्या या स्थायित्व? यदि ऐक्यसे मतलब एकत्व संख्यासे है तो एकत्व संख्याकी प्रतीति तो प्रत्यक्ष कालमें ही हो जाती है; क्योंकि प्रत्यक्षसे एक देवदत्तका ज्ञान होता है तब प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रत्यक्षसे क्या विशेषता रही? यदि एकत्वसे मतलब स्थायित्वसे है तो वह स्थायित्व देवदत्तसे भिन्न है या अभिन्न है? यदि अभिन्न है तो जिस समय पूर्वज्ञानने देवदत्तको जाना उसी समय उससे अभिन्न स्थायित्वको भी उसीने जान लिया, तब प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही क्यों नहीं हुआ।

यदि वह स्थायित्व देवदत्तसे भिन्न है तो वह प्रत्यभिज्ञानके समयमें ही देवदत्तमें उत्पन्न होता है अथवा उससे पहले उत्पन्न हो जाता है। यदि पहले उत्पन्न हो जाता है तो पूर्वज्ञान जब देवदत्तको जानता है तब उसके स्थायित्वको भी जान लेगा फिर प्रत्यभिज्ञानका विषय पूर्वज्ञानसे अधिक कैसे हुआ?

यदि वह स्थायित्व प्रत्यभिज्ञानके समय ही उत्पन्न होता है तो वह प्रत्यभिज्ञानका विषय नहीं हो सकता; क्योंकि पहले जाने हुए पदार्थको कालान्तरमें जाननेपर ही प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः प्रत्यभिज्ञान नामका कोई प्रमाण नहीं है।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना है कि जैसे[1] चित्रज्ञानमें नील, पीत आदि अनेक रूपोंकी प्रतीति होती है वैसे ही प्रत्यभिज्ञानमें 'यह वही है' इन दो आकारोंकी प्रतीति होती है। अतः एक ज्ञानमें दो आकारोंके प्रतिभासित होनेमें कोई विरोध नहीं है। जैसे बौद्धमतमें चित्रपट आदि सामग्रीसे एक चित्रज्ञान पैदा होता है अथवा प्रत्यक्षादि सामग्रीसे निर्विकल्पक और सविकल्पक आकारोंको लिये हुए एक विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है। वैसे ही

१. न्या० कु० च०, पृ० ४१४। प्र० क० मा०, पृ० ३४०।

प्रत्यक्ष और स्मरण रूप सामग्रीसे उत्पन्न होने वाला प्रत्यभिज्ञान दोनों आकारोंको लेकर ही उत्पन्न होता है। जैसे बौद्धमतमें एक ही ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष तथा निर्विकल्प और सविकल्प दो विरोधी धर्मोंका आधार होता है वैसे ही प्रत्यभिज्ञान भी यदि दो धर्मोंका आधार हो तो उसमें क्या आपत्ति है? अतः बौद्धोंका यह प्रश्न कि दोनों आकार परस्परमें अलग-अलग प्रतिभासित होते हैं या एकमेक होकर प्रतिभासित होते हैं, व्यर्थ ही है। दोनों आकारोंके 'एकमेक' का मतलब यदि 'एक आधारमें रहना' है तो हमें इष्ट है; क्योंकि एक प्रत्यभिज्ञानमें दोनों आकार निर्बाधरूपसे प्रतीत होते हैं। और जो निर्बाध रूपसे प्रतीत हो, उसमें कुतर्क करनेसे कोई लाभ नहीं है। यदि इस तरह कुतर्क किया जाये तो बौद्धोंका चित्रज्ञान भी नहीं सिद्ध हो सकता। अतः परस्परमें विरोधी दो धर्मोंका आधार होनेसे प्रत्यभिज्ञानका अभाव सिद्ध करना युक्त नहीं है।

इसी तरह कारणका अभाव होनेसे प्रत्यभिज्ञानका अभाव सिद्ध करना भी अनुचित है, क्योंकि प्रत्यक्ष और स्मरण प्रत्यभिज्ञानके कारण हैं। शायद कहा जाये कि प्रत्यक्ष और स्मरणका तो भिन्न-भिन्न विषय है तथा प्रत्यक्षका आकार 'यह' है और स्मरणका आकार 'वह' है तब ये दोनों एक प्रत्यभिज्ञानके कारण कैसे हो सकते हैं? किन्तु यह आशंका उचित नहीं है, क्योंकि जो जिसके होनेपर ही होता है और नहीं होनेपर नहीं होता, वह उसका कारण माना जाता है। जैसे बीजके होनेपर ही अंकुर उत्पन्न होता है और बीजके अभावमें अंकुर नहीं होता तो बीजको अंकुरका कारण माना जाता है। वैसे ही दर्शन और स्मरणके होनेपर ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है अतः दर्शन और स्मरण उसके कारण हैं।

अब रह जाता है प्रश्न प्रत्यभिज्ञानके प्रमाण होनेका। जो प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण नहीं मानते उनसे हमारा प्रश्न है कि वे उसे प्रमाण क्यों नहीं मानते? क्या उसका कोई विषय नहीं है? या वह गृहीतग्राही है अथवा वह दूसरे प्रमाणके द्वारा बाध्यमान है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाला एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञानका विषय है। इसके सिवा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जब प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप भिन्न है तो उसका विषय भी भिन्न होना ही चाहिए। क्योंकि जिसका जिससे भिन्न स्वरूप होता है तो उसका उससे विषय भी विलक्षण होता है। जैसे प्रत्यक्षसे स्मरणका स्वरूप भिन्न है तो विषय भी भिन्न है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप अन्य ज्ञानोंसे विलक्षण है। अतः उसका विषय भी जुदा ही है। प्रत्यक्षका विषय वर्तमान वस्तु है और स्मरणका विषय

अतीतकालीन वस्तु है किन्तु प्रत्यभिज्ञानका विषय अतीत और वर्तमान कालमें रहनेवाला द्रव्य-विशेष है। शायद कहा जाये कि सभी अर्थ प्रतिसमय क्षणिक हैं अतः ऐसा कोई द्रव्य-विशेष नहीं है जो प्रत्यभिज्ञानका विषय हो। किन्तु ऐसा कहना भी असंगत है। क्योंकि विचार करनेपर क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता।

अतः विषयके न होनेसे प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता और न गृहीतग्राही होनेसे ही उसे अप्रमाण कहा जा सकता है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके विषयको अन्य कोई प्रमाण ग्रहण नहीं कर सकता। इसका विशेष इस प्रकार है—प्रत्यक्ष वर्तमान वस्तुका ग्राहक है, अतः वह अतीत और वर्तमान पर्यायमें रहनेवाले एकत्वको ग्रहण करनेमें असमर्थ है। स्मरण केवल अतीत पर्यायको विषय करता है अतः वह भी उसे ग्रहण नहीं कर सकता। अतः प्रत्यभिज्ञानके सिवा अन्य कोई प्रमाण ऐसा नहीं है, जो अतीत और वर्तमान पर्यायमें रहनेवाले एकत्वको विषय कर सके।

बौद्ध—यदि प्रत्यक्ष और स्मरण एकत्वको विषय करनेमें असमर्थ हैं तो वे दोनों एकत्वको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानको कैसे उत्पन्न कर देते हैं, क्योंकि जो जिसका विषय नहीं होता वह उसके विषयमें ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता, जैसे चक्षु रसके विषयमें ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती। इसी तरह एकत्व भी प्रत्यक्ष और स्मरणका विषय नहीं है।

जैन—उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इससे तो बौद्धमतमें ही दूषण आता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति मानता है और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सामान्यको विषय नहीं करता फिर भी वह उसमें सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न कर देता है।

बौद्ध—यद्यपि सामान्य रूप अवस्तु निर्विकल्पकका विषय नहीं है फिर भी विकल्प वासनाकी सहायतासे निर्विकल्पक उसमें सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न कर देता है।

जैन—यह युक्ति तो हमारे पक्षमें भी समान है। प्रत्यक्ष भी स्मरणकी सहायतासे एकत्वमें प्रत्यभिज्ञानको उत्पन्न कर देता है।

यद्यपि एकत्व प्रत्यक्षका भी विषय है, किन्तु वह नियत वर्तमान पर्यायमें रहनेवाले एकत्वको ही विषय करता है। परन्तु प्रत्यभिज्ञान अतीत और वर्तमान पर्यायमें रहनेवाले एकत्वको विषय करता है। अतः प्रत्यभिज्ञानका विषय कथंचित् अपूर्व है, इसलिए गृहीतग्राही होनेसे उसे अप्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि सर्वथा अपूर्व अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानको ही प्रमाण माना जायेगा तो अनुमान

आदि भी अप्रमाण हो जायेंगे; क्योंकि उनका विषय भी सर्वथा अपूर्व नहीं होता।

तथा बाध्यमान होनेसे भी प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है; क्योंकि उसका कोई बाधक ही नहीं है। यदि कोई बाधक है तो वह प्रत्यक्ष है अथवा अनुमान है। प्रत्यक्ष बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं है। और जो जिसके विषयको नहीं जानता वह उसका बाधक नहीं हो सकता। जैसे रूपज्ञानका रसज्ञान बाधक नहीं है। इसी तरह अनुमान भी बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें अनुमानकी भी प्रवृत्ति नहीं है। और यदि प्रवृत्ति हो भी तो वह उसका समर्थक ही होता है बाधक नहीं।

बौद्ध—नाखून कट जानेपर पुनः बढ़ जाते हैं। अतः कटनेपर बढ़े हुए नाखूनोंको यदि कोई प्रत्यभिज्ञानसे जान ले कि 'ये वही नाखून हैं' तो उसका ज्ञान बाध्यमान देखा जाता है। तब प्रत्यभिज्ञान प्रमाण कैसे है?

जैन—यदि कटनेपर पुनः बढ़े हुए नखोंमें 'यह वही नख है' यह प्रत्यभिज्ञान बाधित होता है तो इससे सच्चे प्रत्यभिज्ञानमें बाधा कैसे आ सकती है? यदि एक जगह किसी ज्ञानके असत्य सिद्ध होनेपर सब जगह उस ज्ञानको असत्य माना जायेगा तो सीपमें चाँदीका ज्ञान भ्रान्त होता है, इसलिए क्या चाँदीमें होनेवाला चाँदीका ज्ञान भी भ्रान्त माना जायेगा? अत: एकत्व प्रत्यभिज्ञानको न मानना युक्त नहीं है।

इसी तरह सादृश्य प्रत्यभिज्ञानको न मानना भी अनुचित है, क्योंकि सादृश्य प्रत्यभिज्ञानके अभावमें अनुमान प्रमाण उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस मनुष्यने पहले धूमसहित अग्निको देखा है उसीको बादमें पूर्व धूमके समान धूमके देखनेसे अग्निका अनुमानज्ञान होता है, अन्यको नहीं। और बिना प्रत्यभिज्ञानके 'यह धूम पहले देखे हुए धूमके समान है' यह ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि पहलेका प्रत्यक्ष वर्तमान धूमको नहीं जान सकता, और अबका प्रत्यक्ष पहले देखे हुए धूमको नहीं जान सकता। और दोनोंको जाने बिना दोनोंमें रहनेवाले सादृश्यको नहीं जाना जा सकता। अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञानकी तरह सादृश्य प्रत्यभिज्ञानको भी मानना चाहिए।

उपमान प्रमाणवादी मीमांसकका पूर्वपक्ष—जिस[1] मनुष्यने गौको तो देखा, किन्तु गवयको नहीं देखा और न यही सुना कि गौके समान गवय होता है, वह मनुष्य जंगलमें घूमते हुए गवयको देखता है। गवयको देखनेके अनन्तर उसे 'इसके समान गौ होती है' इस प्रकारका जो परोक्ष गौमें सादृश्य ज्ञान होता है उसे

---

१. न्या० कु० च०, पृ० ४८९। प्र० क० मा०, पृ० ३४७।

उपमान प्रमाण कहते हैं। यदि उपमान प्रमाणको नहीं माना जायेगा तो गवयके देखनेसे दूरवर्ती गौमें जो सादृश्यज्ञान होता है वह कैसे होगा ?

वह उपमान पहले नहीं जानी गयी वस्तुका ही ज्ञान कराता है इसलिए इसे प्रमाण मानना चाहिए। यद्यपि उस मनुष्यने गौको पहले ही जान लिया था और गवयको देखते ही उसमें रहनेवाले सादृश्यको प्रत्यक्षसे जान लिया। किन्तु 'गवयके समान गौ है' इसको पहले नहीं जाना अतः उपमानका विषय अपूर्व ही है। शायद कहा जाये कि गवयके दर्शन कालमें ही गौका स्मरणसे और सादृश्यका प्रत्यक्षसे ज्ञान हो जाता है और इसके अतिरिक्त और कुछ जाननेको नहीं है अतः उपमान जानी हुई बातको ही जानता है ? किन्तु ऐसा कहना भी अयुक्त है यद्यपि प्रत्यक्षसे सादृश्यका और स्मृतिसे गौका ज्ञान हो जाता है फिर भी सादृश्यविशिष्ट गौका ज्ञान न तो स्मृतिसे होता है, न प्रत्यक्षसे होता है और न दोनोंसे होता है। उसको तो उपमान ही जानता है अतः उपमान अगृहीतग्राही होनेसे प्रमाण है। अनुमानको भी तो इसीलिए प्रमाण माना जाता है। यद्यपि पर्वत आदि स्थानका प्रत्यक्ष हो जाता है और स्मृतिसे अग्निका बोध हो जाता है, फिर भी अग्निविशिष्ट पर्वतका ज्ञान तो अनुमानसे ही होता है, अतः अनुमान प्रमाण है, इसी तरह उपमानको भी प्रमाण मानना चाहिए।

शायद आप कहें कि उपमान प्रमाण भले ही हो, किन्तु वह एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। किन्तु ऐसा कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि उपमानका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें नहीं हो सकता। इसका विशेष इस प्रकार है — उपमान प्रत्यक्षरूप नहीं है; क्योंकि परोक्ष गौमें इन्द्रिय सम्बन्धके बिना ही उपमान प्रमाण उत्पन्न होता है। स्मरण रूप भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे जाने हुए पदार्थका ही कालान्तरमें स्मरण हुआ करता है। अतः जिस समय गौका प्रत्यक्ष हुआ था उस समय गवयका प्रत्यक्ष न होनेसे स्मरण गवयगत सादृश्यको नहीं जान सकता। अतः उपमान स्मरणरूप नहीं है। उपमान अनुमानरूप भी नहीं है, क्योंकि अनुमान लिंग (हेतु) से उत्पन्न होता है और यह लिंगसे उत्पन्न नहीं होता। तथा यह शब्द प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि जिसने गौके समान गवय होता है, यह वाक्य नहीं सुना उस मनुष्यको उपमान ज्ञान होता है। यह अर्थापत्ति प्रमाण भी नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति किसी ऐसे देखे हुए अथवा सुने हुए अर्थकी अपेक्षा लेकर होती है जिसके बिना वैसा हो सकना शक्य न हो। किन्तु उपमानमें किसी ऐसे दृश्य अथवा श्रुत अर्थकी अपेक्षा नहीं रहती। और अभाव प्रमाण तो यह हो ही कैसे सकता है, क्योंकि अभाव तो वस्तुके अभावको जानता है और उपमान सद्भावको जानता है। अतः उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

उपमानका सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना है कि मीमांसकने उपमानका जो स्वरूप बतलाया है वही ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रकारसे प्रतीति ही नहीं होती। जिस मनुष्यने यह नहीं सुना कि 'गौके समान गवय होता है' जंगलमें घूमते हुए यदि वह गौके समान किसी ऐसे पशुको देखता है जिसे उसने पहले नहीं देखा तो उसको यही प्रतीति होती है कि 'यह गौके समान ही कोई जानवर है।' किन्तु 'इसके समान गौ है' इस प्रकारका ज्ञान या व्यवहार किसीको भी नहीं होता। और यदि किसीको ऐसा ज्ञान हो भी तो यह प्रत्यभिज्ञानसे जुदा प्रमाण नहीं है।

मीमांसक—प्रत्यभिज्ञान अनुभूत पदार्थमें ही होता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष और स्मरणसे उत्पन्न होता है। किन्तु सामने वर्तमान गवयमें रहनेवाले सादृश्यके साथ गौका अनुभव पहले कभी नहीं हुआ; क्योंकि गवयको बिना जाने गवयगत सादृश्यसे विशिष्ट गौको कैसे जान सकता है। तब प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति इसमें कैसे हो सकती है?

जैन—इस तरहसे तो 'यह वही है' इत्यादि प्रतीतिको भी प्रत्यभिज्ञान नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि पहले जब देवदत्तको देखा था तब उसकी उत्तरपर्यायका अनुभव नहीं हुआ था। शायद कहा जाये कि एकत्व प्रत्यभिज्ञानमें यद्यपि उत्तर पर्यायका पहले अनुभव नहीं होता किन्तु उस पर्यायमें अनुस्यूत जो देवदत्त नामक द्रव्य है उसका अनुभव तो पहले हो जाता है अतः प्रत्यभिज्ञान सम्भव है। तो यह बात तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें भी सम्भव है। क्योंकि यद्यपि गवयका पहले प्रत्यक्ष नहीं हुआ किन्तु सादृश्यका प्रत्यक्ष तो पहले ही हो गया।

मीमांसक—जब गवयका प्रत्यक्ष नहीं हुआ तो सादृश्यका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

जैन—सादृश्यका प्रत्यक्ष कब नहीं हुआ? गौको देखनेके समय नहीं हुआ या बादमें नहीं हुआ? यदि गौके प्रत्यक्षके समय सादृश्यकी प्रतीति न होनेसे उसे गौका विशेषण नहीं मानते हो तो एकत्व प्रत्यभिज्ञानमें पूर्व पर्यायकी प्रतीतिके समय उत्तर पर्यायकी प्रतीति नहीं होती अतः उत्तर पर्याय देवदत्तरूप द्रव्यका विशेषण नहीं हो सकती। यदि बादमें होनेवाले प्रत्यक्षसे उत्तर पर्यायकी प्रतीति होनेपर भी उत्तर पर्याय देवदत्तरूप द्रव्यका विशेषण हो सकती है तो गवयको जाननेवाले प्रत्यक्षसे जाना हुआ सादृश्य भी पहले देखी हुई गौका विशेषण हो सकता है।

अतः ज्ञाता पुरुष गवयको देखकर पहले अनुभूत गौका स्मरण करता है और

फिर गौ और गवयमें सादृश्यव्यवहार करके यह संकलन करता है कि इसके समान गौ है। और जो संकलनात्मक ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान ही है।

मीमांसक—यदि इस ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान मानते हैं तो इसे भी स्मरण और प्रत्यक्ष रूप सामग्रीसे उत्पन्न होना चाहिए। किन्तु वह सामग्री उपमानमें नहीं है, उपमान तो गवयके प्रत्यक्ष रूप सामग्री मात्रसे उत्पन्न होता है।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है, उपमानमें भी प्रत्यक्ष और स्मरणरूप सामग्री मौजूद है। हम पूछते हैं कि गवयका प्रत्यक्ष 'इसके समान गौ है' इस ज्ञानको स्मरणकी सहायतासे उत्पन्न करता है अथवा उसकी सहायताके बिना उत्पन्न करता है? यदि स्मरणकी सहायताके बिना भी गवय प्रत्यक्ष 'इसके समान गौ है' इस ज्ञानको उत्पन्न करता है तो जिस व्यक्तिने गौको कभी नहीं देखा उसे भी गवयके देखनेसे यह ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए कि इसके समान गौ है। यदि स्मरणकी अपेक्षासे उक्त ज्ञान उत्पन्न होता है तो स्मरणमात्रकी सहायतासे उत्पन्न होता है अथवा गौका स्मरण होनेपर ही उत्पन्न होता है? यदि स्मरणमात्रकी सहायतासे ही गवय प्रत्यक्ष उक्त ज्ञानको उत्पन्न करता है तो गवयको देखते समय घोड़ेका स्मरण आ जानेसे भी 'इसके समान गौ है' यह ज्ञान उत्पन्न हो जाना चाहिए। यदि गौका स्मरण होनेपर ही गवय प्रत्यक्ष उक्त ज्ञानको उत्पन्न करता है तो केवल गौकी स्मृति होनेसे करता है या सादृश्य विशिष्ट गौका स्मरण होनेसे करता है? प्रथम पक्षमें भैंसका स्मरण होनेपर भी गवय प्रत्यक्ष उक्त ज्ञानको उत्पन्न कर देगा क्योंकि बिना सादृश्य प्रतीतिके जैसी हो भैंस वैसी हो गौ। यदि गवयकी समानतासे युक्त गौके स्मरणकी अपेक्षासे ही गवय प्रत्यक्ष 'इसके समान गौ है' इस ज्ञानको उत्पन्न करता है, तो यह सिद्ध होता है कि सादृश्यका प्रत्यक्ष पहले ही गोदर्शन कालमें हो जाता है, यदि ऐसा न हो तो उत्तरकालमें गवयगत सादृश्यसे विशिष्ट गौका स्मरण नहीं हो सकता। अतः स्मृति और प्रत्यक्षकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला उपमान प्रत्यभिज्ञानसे पृथक् प्रमाण नहीं है।

उपमानप्रमाणवादी नैयायिकका पूर्वपक्ष—नैयायिक भी उपमान नामका एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है, किन्तु उसके उपमानका लक्षण मीमांसकसे भिन्न है। अतः उसका कहना है कि मीमांसकका उपमान प्रमाण प्रत्यभिज्ञान वगैरहसे भले ही जुदा प्रमाण न हो, किन्तु नैयायिकोंने जो उपमान माना है वह तो एक स्वतन्त्र ही प्रमाण है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—किसी मनुष्यने यह सुना कि जैसी गौ होती है वैसा ही गवय होता है। उसके पश्चात् उसे जंगलमें घूमते हुए गौके समान एक पशु दिखाई दिया। उसे देखते ही उसे पहले सुने हुए वाक्यका स्मरण

हो आया। उससे उसे यह ज्ञान हुआ कि 'इस प्राणीका नाम गवय है'। यह ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका फल नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष तो वनमें स्थित गवयके आकारमात्रका ज्ञान कराता है, अनुमानमें अन्वय, व्यतिरेक आदि सामग्रीकी आवश्यकता होती है जब कि यह उसके बिना ही होता है। आगम प्रमाणका भी यह फल नहीं है; क्योंकि वह मनुष्य 'गौके समान गवय होता है' केवल इस वाक्यके स्मरणसे ही जंगलमें स्थित पशुको 'यह गवय नामका प्राणी है' इस रूपमें नहीं जानता। किन्तु प्रसिद्ध गौके साथ उसकी समानता देखकर जानता है। और गवयको देखे बिना 'यह गवय नामका प्राणी है' इस प्रकार गवय संज्ञा और गवय संज्ञावाले प्राणीके सम्बन्धका ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यह ज्ञान उपमान प्रमाणका ही फल है। उपमानके स्वरूपके विषयमें यह नव्य नैयायिकोंका मत है।

वृद्ध नैयायिकोंका मत कुछ भिन्न है। वे उपमानका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—कोई नागरिक पुरुष गवयके स्वरूपसे अनभिज्ञ है। वह किसी जानकार वनवासीसे पूछता है कि 'गवय कैसा होता है?' वनवासी कहता है कि 'जैसी गौ होती है वैसा ही गवय होता है'। यह वाक्य अप्रसिद्ध गवयकी प्रसिद्ध गौके साथ समानता बतलाते हुए अप्रसिद्ध पशुको गवयशब्द वाच्य ज्ञापित करता है। यह उपमान प्रमाण है।

(उत्तरपक्ष) नैयायिकोंके उपमानप्रमाणका सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव— जैनोंका कहना है कि [1]जो संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी साक्षात् प्रतिपत्तिका अंग है उसे यदि उपमान प्रमाण मानते हैं तो मीमांसकोंके द्वारा माने गये उपमान प्रमाणसे नैयायिकोंके उपमान प्रमाणमें कोई विशेषता नहीं रहती और ऐसा होनेसे मीमांसकोंके उपमान प्रमाणमें जो दूषण दिये हैं वे सब नैयायिकोंके उपमान प्रमाणमें भी आते हैं।

नैयायिकों-द्वारा कल्पित अप्रसिद्ध गवयपिण्डमें इन्द्रियोंसे होनेवाला प्रसिद्ध गोपिण्डके सादृश्यका ज्ञान संज्ञा-संज्ञीके सम्बन्धकी साक्षात् प्रतिपत्तिका अंग नहीं हो सकता। यदि वह उसकी प्रतिपत्तिका अंग है तो अकेला या संज्ञा-संज्ञीके सम्बन्धकी स्मृतिकी सहायताकी अपेक्षा लेकर? यदि अकेला ही उसकी प्रतिपत्तिका अंग है तो जिसने यह नहीं सुना कि गौके समान गवय होता है किन्तु गौको देखा है ऐसे नागरिकको भी जंगलमें गवयको देखकर गौके सादृश्यका ज्ञान यह प्रतिपत्ति करा देगा कि यह गवय नामका प्राणी है। शायद कहा जाये कि 'गौके समान गवय होता है' इस वाक्यके सुननेकी सहायतासे ही गौके सादृश्यका

१० न्या० कु० च०, पृ० ४६७।

ज्ञान यह प्रतिपत्ति करा सकता है कि यह गवय नामका प्राणी है, अकेला नहीं करा सकता ? तो जिस मनुष्यने उस वाक्यको सुना तो, किन्तु भूल गया उस मनुष्यको भी जगंलमें गवय देखकर गौके सादृश्यका ज्ञान यह प्रतिपत्ति करा देगा कि यह गवय नामका प्राणी है ? इन आपत्तियोंके भयसे यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि 'गौके समान गवय होता है' इस वाक्यके स्मरणकी सहायतासे ही गौके सादृश्यका ज्ञान यह प्रतिपत्ति कराता है कि 'यह गवय नामका प्राणी है' तो 'प्रत्यभिज्ञानके प्रसादसे ही संज्ञा-संज्ञीके सम्बन्धको साक्षात् प्रतिपत्ति होती हैं' यह बात आपने स्वीकार कर ली; क्योंकि गौ और गवयके सादृश्यका परामर्श करके प्रत्यभिज्ञान ही संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी प्रतिपत्तिमें कारण होता है। अतः 'गौके समान गवय होता है' इस वाक्यके स्मरणकी सहायतासे ही गवयका प्रत्यक्ष, पहले देखी हुई गौ और वर्तमानमें सामने मौजूद गवयमें समानताको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानको उत्पन्न करता है। प्रत्यभिज्ञानके सिवा अन्य कोई ज्ञान गौ और गवयके सादृश्यको विषय नहीं कर सकता। गवयका प्रत्यक्ष, अथवा गौका स्मरण, अथवा दोनों उक्त सादृश्यको विषय नहीं कर सकते यह मीमांसकके द्वारा माने गये उपमान प्रमाणका विचार करते समय कह आये हैं। अतः गौ और गवयके सादृश्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान ही यह प्रतिपत्ति कराता है कि यह गवय नामका प्राणी है।

इसीसे जो संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी परम्परया प्रतिपत्तिमें अंग है वह उपमान है, ऐसा कथन भी खण्डित हुआ समझना चाहिए। संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी साक्षात् प्रतिपत्ति करानेवाले प्रत्यभिज्ञानका जनक होनेसे गौगत सादृश्य ज्ञान आदिको उपचारसे उपमान माननेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इसीसे वृद्ध नैयायिकोंने जो उपमान प्रमाणका लक्षण किया है कि गौ और गवयकी समानता बतलानेवाला अतिदेश वाक्य ही उपमान प्रमाण है, वह भी खण्डित हुआ समझना चाहिए; क्योंकि वाक्यरूप प्रमाण तो आगम ही हो सकता है, उपमान नहीं हो सकता। अतः गौ और गवयके सादृश्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान हो वास्तवमें उपमान है उसके सिवा अन्य कोई उपमान प्रमाण नहीं है।

तथा यदि इस तरहके ज्ञानको उपमान प्रमाणका फल माना जायेगा तो नैयायिक और मीमांसकको अनेक प्रमाण मानने पड़ेंगे। जैसे, किसी मनुष्यने सुना 'जो सिंहासनपर बैठा हो वह राजा है।' या 'जो दूध और पानीको अलग-अलग कर दे वह हंस है' या छह पैरका भौंरा होता है, जिसमें सात-सात पत्ते हों वह

विषमच्छद नामका वृक्ष है। और इन वाक्योंका संस्कार उसके मनमें बैठ गया। उसके पश्चात् जब वह मनुष्य उस प्रकारके राजा वगैरहको देखता है तो उसे 'यह राजा है' 'यह भौंरा है' इस प्रकार संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति होती है। यह प्रतिपत्ति उपमान तो नहीं है; क्योंकि उपमान तो प्रसिद्ध अर्थकी समानताकी अपेक्षा करता है। उक्त उदाहरणोंमें प्रसिद्ध अर्थकी समानताकी कोई अपेक्षा नहीं है। किन्तु उक्त सब ज्ञान स्मृति और प्रत्यक्षकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं और जोड़रूप हैं अतः इन सबका अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञानमें हो जाता है। अतः उपमानके स्थानपर प्रत्यभिज्ञान प्रमाणको स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है।

तर्कप्रमाण

जिसे जैन सिद्धान्तमें 'चिन्ता' कहा है उसे ही दार्शनिक क्षेत्रमें तर्क कहते हैं। इसका एक नाम ऊह भी है। व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। और साध्य तथा साधनके अविनाभावको व्याप्ति कहते हैं। अविनाभाव एक नियम है और वह नियम दो प्रकारसे व्यवस्थित है। उनमें एक प्रकारका नाम है तथोपपत्ति और दूसरे प्रकारका नाम है अन्यथानुपपत्ति। इन दोनों प्रकारोंको भी 'अविनाभाव' कहते हैं। साध्यके होनेपर ही साधन होता है इसे तथोपपत्ति अविनाभाव कहते हैं। 'साध्यके न होनेपर साधन नहीं होता' इसे अन्यथा-नुपपत्ति अविनाभाव कहते हैं। जैसे, अग्निके होनेपर ही धूम होता है और अग्निके अभावमें धूम नहीं होता। यहाँ अग्नि साध्य है और धूम उसका साधन है, क्योंकि धूमको देखकर उससे उस स्थानपर अग्निको सिद्ध किया जाता है। जो सिद्ध किया जाता है उसे साध्य कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साधन कहते हैं।

बार-बार धूमके होनेपर अग्निका अस्तित्व देखकर और अग्निके अभावमें धूमका अभाव देखकर धूम और अग्निके विषयमें अविनाभाव नियम बनाया जाता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता। इसीका नाम व्याप्ति है।

शंका—'जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता' यह कैसे ज्ञात होता है?

उत्तर—अग्निके अभावमें धूमकी प्रतीति नियमसे नहीं होती। अतः अग्निके होनेपर ही धूम होता है। यदि ऐसा न हो तो जैसे धूमके अभावमें भी कहीं अग्नि पायी जाती है वैसे ही अग्निके अभावमें कहीं धूम भी पाया जाना चाहिए।

अतः जो जिसके बिना भी पाया जाता है वह उससे नियत नहीं है। जैसे धूमके अभावमें भी पायी जानेवाली आग धूमसे नियत नहीं है। किन्तु धूम अग्निके बिना नहीं होता अतः वह अग्निसे नियत है।

शंका—अग्निके अभावमें धूमका नियमसे अभाव होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जादूगरके घड़ेसे बिना अग्निके भी धूम निकलता हुआ देखा जाता है।

उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, जादूगरके घड़ेमें भी अग्निके होनेपर ही धूमका सद्भाव सम्भव है। अग्निके बिना धुआँ उत्पन्न ही नहीं हो सकता। तब जादूगरके घड़ेमें अग्निके अभावमें धूमके सद्भावकी आशंका कैसे की जा सकती है?

शंका—तब जैसे पर्वतपर धुआँ उठता देखकर वहाँ अग्निको जाना जाता है कि पर्वतपर आग है; क्योंकि धुआँ उठ रहा है, वैसे ही जादूगरके घड़ेसे धुआँ निकलते देखकर उस घड़ेमें अग्निका सद्भाव क्यों नहीं सिद्ध किया जाता?

उत्तर—पर्वतके धुएँसे जादूगरका धुआँ निराला होता है। पर्वतपर आग जलनेसे उठा हुआ धुआँ घना और ध्वजाकी तरह लहराता हुआ होता है, किन्तु जादूगरके घड़ेसे निकलनेवाला धुआँ वैसा नहीं होता। अतः उससे वहाँ अग्निके होनेका अनुमान नहीं किया जाता।

शंका—यदि अग्नि और धूमकी वास्तवमें व्याप्ति है तो प्रथम ही धूम और अग्निका दर्शन होनेपर व्याप्तिका ग्रहण क्यों नहीं होता?

उत्तर—उस समय उसका ग्राहक ज्ञान नहीं है। जिस समय जिसका ग्राहक नहीं होता उस समय उसका प्रतिभास नहीं होता। जैसे रूप दर्शनके समय रसका प्रतिभास नहीं होता। इसी तरह अग्नि और धूमके प्रथम दर्शनके समय व्याप्तिका ग्राहक ज्ञान नहीं है इससे उसका ग्रहण नहीं होता।

शंका—अग्नि और धूमके प्रथम दर्शनके समय व्याप्तिका ग्राहक ज्ञान क्यों नहीं है?

उत्तर—व्याप्तिज्ञानके कारण दो हैं—एक प्रत्यक्ष और एक अनुपलम्भ। अग्निके होनेपर धूमके होनेका ज्ञान प्रत्यक्ष है और अग्निके अभावमें धूमके अभावका ज्ञान अनुपलम्भ है। धूम और अग्निके प्रथम दर्शनके समय ये दोनों कारण नहीं होते, इससे उस समय व्याप्तिका ज्ञान नहीं होता। किन्तु व्याप्तिका ज्ञान न होनेसे उस समय धूम और अग्निमें व्याप्तिका अभाव नहीं है; क्योंकि यदि धूम और अग्निके प्रथम दर्शनके समय उनमें व्याप्ति न हो तो धूम और अग्निका बार-बार उपलम्भ और अनुपलम्भ होनेपर व्याप्तिकी प्रतीति कैसे

हो सकती है ? [1]इसीसे परीक्षामुखमें कहा है कि 'उपलम्भ (साध्यके होनेपर ही साधनका होना) और अनुपलम्भ (साध्यके अभावमें साधनका न होना) के निमित्तसे होनेवाले व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते हैं ।

[2]व्याप्तिका ज्ञान न तो प्रत्यक्षसे हो सकता है और न अनुमानसे हो सकता है अतः तर्क एक पृथक् ही प्रमाण है ।

प्रत्यक्षसे ही व्याप्तिका ज्ञान माननेवाले [3]यौगोंका पूर्वपक्ष—नैयायिकोंका कहना है कि साध्य और साधनके अविनाभावकी प्रतीति प्रत्यक्षसे ही हो जाती है । क्योंकि प्रथम प्रत्यक्षमें भी जो धूमकी प्रतीति होती है वह अग्निके सम्बन्धी-रूपसे ही होती है । अतः धूम और अग्निके नियमकी प्रतीति भी तभी हो जाती है । प्रथम प्रत्यक्षके समय 'यह धूम क्या अग्निसे उत्पन्न हुआ है अथवा किसी दूसरे कारणसे उत्पन्न हुआ है' न तो इस प्रकारका संशय होता है और 'यह धूम अग्निसे भिन्न किसी दूसरे कारणसे ही उत्पन्न हुआ है' न इस प्रकारका विपर्यय ज्ञान होता है । किन्तु 'अग्निका ही यह धुआँ है' इस प्रकार अग्निके सम्बन्धीके रूपसे ही धूमकी प्रतीति होती है ।

इस प्रकार प्रथम प्रत्यक्षमें व्याप्तिकी प्रतीति हो जानेपर उसके पश्चात् जो अग्नि और धूमका बार-बार उपलम्भ और अनुपलम्भ होता है वह उसी ज्ञानको दृढ़ करता है । शायद कहा जाये कि जब प्रथम प्रत्यक्षमे ही व्याप्तिकी प्रतीति हो जाती है तो उसी समय 'धूम अग्निसे नियत (बद्ध) है' इस प्रकारकी व्याप्तिकी प्रतीति क्यों नहीं हो जाती ? इसका उत्तर यह है कि उस समय ऐसी सामग्री मौजूद नहीं है । व्याप्तिका उल्लेख तो अनुसन्धानसे होता है, अनुसन्धानका तात्पर्य है–एक बार रसोईघरमें अग्निके होनेपर धूम देखा, पश्चात् किसी दूसरी जगह भी वैसा ही देखा । यह अनुसन्धान बार-बार अग्निके सद्भावमें धूमका सद्भाव और अग्निके अभावमें धूमका अभाव देखनेसे होता है । इनमें-से प्रथमको अन्वय और दूसरेको व्यतिरेक कहते हैं । सन्देहको दूर करनेके लिए अन्वय और व्यतिरेकका दर्शन उचित ही है । अतः बार-बार धूम और अग्निके अन्वय और व्यतिरेकको देखकर इन्द्रियोंसे होनेवाला व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष ही है ।

उत्तरपक्ष—व्याप्तिग्रहणके लिए जैनोंके द्वारा तर्ककी आवश्यकताका समर्थन— नैयायिकोंका कहना है कि प्रत्यक्षसे ही अविनाभावकी प्रतीति होती है तो हम

१. 'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।' ३–११ ।

२. 'अविकल्पधिया लिङ्गं न किंचित् संप्रतीयते । नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तर-माञ्जसम् ।'—लघीय० ३–११ ।

३. न्या० कु० च०, पृ० ४२८ ।

उनसे पूछते हैं कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ग्रहण होता है अथवा मानस प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ग्रहण होता है ? इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ग्रहण नहीं हो सकता; क्योंकि प्रतिनियत देश और प्रतिनियत कालमें स्थित जिस पदार्थके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होता है उसे ही इन्द्रियप्रत्यक्ष जानता है। व्याप्ति तो समस्त देश और समस्त कालवर्ती अर्थको लेकर होती है। अतः तीनों लोकोंमें रहनेवाले अतीत, अनागत और वर्तमान समस्त पदार्थोंका उपसंहार करनेसे ही व्याप्तिका ग्रहण हो सकता है, क्योंकि व्याप्तिका अर्थ है व्यापना अर्थात् समस्त व्याप्य व्यक्तियोंको व्याप्य रूपसे और समस्त व्यापक व्यक्तियोंको व्यापक रूपसे अपने अंकमें लेना। किन्तु समस्त व्याप्य और व्यापक व्यक्तियोंके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध सम्भव नहीं है और न इन्द्रियोंमें उनका ग्रहण करनेकी सामर्थ्य ही है। इन्द्रिय तो वर्तमान नियत अर्थको ही ग्रहण कर सकती है। तब प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

नैयायिकोंका यह कहना भी कि—'प्रथम प्रत्यक्षके समय ही अग्निके सम्बन्धीके रूपमें धूमकी प्रतीति होती है अतः धूम और अग्निके नियमका प्रतिभास भी उसी समय हो जाता है, ठीक नहीं है; क्योंकि रसोईघरमें धूमका प्रथम प्रत्यक्ष होनेपर धूमकी प्रतीति रसोईघरके अन्दर स्थित नियत अग्निके सम्बन्धीके रूपमें होती है अथवा सब अग्नियोंके सम्बन्धीके रूपमें होती है ? अर्थात् 'यह धूम इस अग्निका है' ऐसी प्रतीति होती है या सर्वत्र धूमके होनेपर अग्नि होती है ऐसी प्रतीति होती है ? प्रथम पक्षमें प्रथम प्रत्यक्षके समय व्याप्तिकी प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है; क्योंकि व्याप्ति तो सर्वोपसंहारवती होती है प्रतिनियत व्यक्तिमें व्याप्ति नहीं हुआ करती। दूसरे पक्षमें एक प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या, सैकड़ों प्रत्यक्षोंसे भी व्याप्तिको नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष सम्बद्ध और वर्तमान अर्थको ही विषय करता है। अतः वह जो कोई भी धूम है वह सब अग्निके होनेपर ही होता है' इस तरह सबको उपसंहार करके अविनाभाव नियमको जाननेमें असमर्थ है।

शायद कहा जाये कि अन्वय और व्यतिरेककी सहायतासे प्रत्यक्ष व्याप्तिको जान लेगा। किन्तु ऐसा कहना भी गलत है; क्योंकि हजारों बार अन्वय और व्यतिरेककी सहायता होनेपर भी जिस विषयमें प्रत्यक्षमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति होती है वहीं पर वह व्यक्तिको जान सकता है न कि 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता' इस प्रकार सर्वोपसंहार रूपसे व्याप्तिको जान सकता है। और जिस विषयमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति होती है केवल वहींके धूम और अग्निकी व्याप्तिको जानना व्यर्थ है; क्योंकि व्याप्तिकी

आवश्यकता अनुमानके लिए होती है, किन्तु जब साध्य और साधनको प्रत्यक्षसे ही जान लिया तब अनुमानकी आवश्यकता ही नहीं रहती।

तथा नैयायिकने जो यह कहा है कि 'व्याप्तिका उल्लेख अनुसन्धानसे होता है' सो उसका यह कहना ठीक है, क्योंकि जैनदर्शन उपलम्भ और अनुपलम्भसे होने-वाले ज्ञानको ही व्याप्तिकी प्रतिपत्ति करानेमें समर्थ मानता है। किन्तु वह ज्ञान प्रत्यक्ष रूप नहीं है, उसकी उत्पादक सामग्री और विषय प्रत्यक्षसे भिन्न ही है। प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय आदि सामग्रीसे उत्पन्न होता है और इन्द्रियसे सम्बद्ध वर्तमान अर्थको विषय करता है, यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु तर्क नामका वह ज्ञान वैसा नहीं है तब उसे प्रत्यक्ष रूप कैसे माना जा सकता है ?

शंका—यदि तर्कज्ञान प्रत्यक्ष रूप नहीं है तो वह इन्द्रियोंकी अपेक्षा क्यों करता है ?

उत्तर—व्याप्तिज्ञानके कारण हैं – प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ। और प्रत्यक्ष तथा अनुपलम्भमें इन्द्रिय कारण है। अतः इन्द्रिय तर्कके कारणकी कारण है। इसलिए तर्कमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है। अतः इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष व्याप्तिको जाननेमें समर्थ नहीं है। मानस प्रत्यक्ष भी व्याप्तिको नहीं जान सकता; क्योंकि बाह्य इन्द्रियकी सहायताके बिना बाह्य पदार्थोंमें मनकी प्रवृत्ति नहीं होती। और व्याप्ति बाह्य पदार्थोंका धर्म होनेसे बाह्य पदार्थ है। इसके सिवा न्यायदर्शनमें मनको अणुरूप माना है। अतः अणुरूप मनका एक साथ समस्त पदार्थोंके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह व्याप्तिको कैसे जान सकता है ?

अतः इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष व्याप्तिको नहीं जान सकते। इसी तरह योगिप्रत्यक्ष भी व्याप्तिको नहीं जान सकता; क्योंकि वह विचारक नहीं है, अतः 'जितना भी धूम है वह सब अग्निसे ही उत्पन्न होता है, बिना अग्निके नहीं होता' इस तरहका विचार वह नहीं कर सकता। अतः किसी भी प्रत्यक्षसे साध्य और साधनकी व्याप्तिको नहीं जाना जा सकता। अतः व्याप्तिके ग्राहक तर्कको एक पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है। उसके बिना व्याप्तिका ग्रहण नहीं हो सकता और व्याप्तिका ग्रहण हुए बिना अनुमान प्रमाण नहीं बन सकता। अतः जैसे अनुमानके बिना साध्यकी सिद्धि नहीं होती इसलिए अपने-अपने अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धिके लिए अनुमान आवश्यक है वैसे ही साध्य और साधनकी व्याप्तिके सिद्ध हुए बिना अनुमान नहीं बन सकता। अतः अनुमानकी सिद्धिके लिए व्याप्तिकी सिद्धि आवश्यक है अतः उसके लिए तर्क नामका पृथक् प्रमाण मानना चाहिए।

अनुमान प्रमाण

[1]साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रमाण कहते हैं। साधनको लिंग और साध्यको लिंगी भी कहते हैं। अतः ऐसा भी कह सकते हैं कि लिंगसे लिंगीके ज्ञानको अनुमान[2] कहते हैं। लिंग अर्थात् चिह्न और लिंगी अर्थात् उस चिह्नवाला। जैसे धूमसे अग्निको जान लेना अनुमान है। यहाँ धूम साधन अथवा लिंग है और अग्नि साध्य अथवा लिंगी है। अग्निका चिह्न धूम है। कहीं धुआँ उठता हुआ दिखाई दे तो ग्रामीण लोग तक धुएँको देखकर यह अनुमान कर लेते हैं कि वहाँ आग जल रही है। क्योंकि बिना आगके धुआँ नहीं उठ सकता। अतः ऐसे किसी अविनाभावी चिह्नको देखकर उस चिह्नवालेको जान लेना अनुमान है।

साधन अथवा लिंग ऐसा होना चाहिए जो साध्य अथवा लिंगीका अविनाभावी रूपसे सुनिश्चित हो। अर्थात् साध्यके होनेपर हो हो और साध्यके न होनेपर न हो। ऐसा साधन ही साध्यकी ठीक प्रतीति कराता है। अकलंकदेवने साधन अथवा लिंगको 'साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षण' कहा है। अर्थात् साध्यके साथ सुनिश्चित अविनाभाव ही साधनका प्रधान लक्षण है। इसीको संक्षेपमें 'अन्यथानु[3]पपत्ति' भी कहते हैं। 'अन्यथा' यानी साध्यके अभावमें साधनकी 'अनुपपत्ति—अभावको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। अत: जो साध्यके अभावमें न रहता हो और साध्यके सद्भावमें ही रहता हो वही साधन सच्चा साधन है। साधनको हेतु भी कहते हैं।

हेतुके लक्षणके विषयमें बौद्धका पूर्वपक्ष—बौद्ध[4] का कहना है कि हेतुका जो लक्षण 'साध्याविनाभाव' कहा है वह ठीक नहीं है, हेतुका एक लक्षण नहीं है, किन्तु उसके तीन लक्षण हैं। वे तीन लक्षण हैं—१ पक्षधर्मत्व, २ सपक्षसत्त्व और ३ विपक्ष असत्त्व। अर्थात् हेतुको पक्षका धर्म होना चाहिए, सपक्षमें रहना चाहिए और विपक्षमें नहीं ही रहना चाहिए। जिसमें ये तीनों लक्षण पाये जाते हैं, वही हेतु सम्यक् हेतु है। जैसे, इस पर्वतमें आग है; क्योंकि यह धूमवाला है। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है, जैसे रसोईघर। और जहाँ आग नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे तालाब। इस अनुमानमें 'पर्वत' पक्ष है, आग साध्य है, 'धूमवाला' हेतु है, रसोईघर सपक्ष है और

१. 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्' ३-१४। –परीक्षामु०।

२. 'लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्। लिङ्गिधीरनुमानं…'–लघीय० ३-१२।

३. 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते।' –प्रमाणप० पृ० ७२

४. न्या० कु० च० पृ० ४३८।

तालाब विपक्ष है। जहाँ साध्यकी सिद्धि की जाती है उसे पक्ष कहते हैं। जैसे ऊपरके अनुमानमें पर्वतमें आग सिद्ध करना है अतः पर्वत पक्ष है। जहाँ साधनके सद्भावमें साध्यका सद्भाव दिखाया जाये उसे सपक्ष कहते हैं जैसे रसोईघर। और जहाँ साध्यके अभावमें साधनका भी अभाव दिखाया जाये, उसे विपक्ष कहते हैं जैसे तालाब। ऊपरके अनुमानमें धूमवत्त्व हेतु पर्वतरूपमें रहता है, सपक्ष रसोईघरमें भी रहता है किन्तु विपक्ष तालाबमें नहीं रहता। अतः वह निर्दोष हेतु है। हेतुके पक्षमें रहनेसे असिद्धता नामका दोष नहीं रहता, सपक्षमें रहनेसे विरुद्धता नामका दोष नहीं रहता और विपक्षमें नहीं रहनेसे अनैकान्तिक नामका दोष नहीं रहता। यदि हेतु पक्षमें न रहे तो असिद्धता दोष दूर नहीं हो सकता, यदि हेतु सपक्षमें न रहे तो विरुद्धता दोष दूर नहीं हो सकता और यदि हेतु विपक्षमें भी रहता हो तो अनैकान्तिक दोष दूर नहीं हो सकता। अतः त्रैरूप्य ही हेतुका लक्षण है।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना है कि हेतुका लक्षण पक्षधर्मत्व आदि त्रैरूप्य नहीं है; क्योंकि त्रैरूप्य तो सदोष हेतुओंमें भी पाया जाता है। और जैसे अग्निका 'सत्त्व' लक्षण ठीक नहीं है; क्योंकि सत् तो प्रत्येक पदार्थ होता है। इसी तरह पक्षधर्मत्व आदि त्रैरूप्य हेत्वाभास (सदोष हेतु) में भी रह जाता है, अतः वह हेतुका लक्षण नहीं हो सकता। इसका विशेष इस प्रकार है–

किसीने कहा—'मैत्रकी पत्नीके गर्भमें जो बालक है, वह काला है; क्योंकि वह मैत्रका पुत्र है, जैसे मैत्रके अन्य पुत्र।' इस अनुमानमें वह 'मैत्रका पुत्र है' यह हेतु है। मैत्रका गर्भस्थ बालक पक्ष है; क्योंकि उसीको 'काला' सिद्ध करना है। उस गर्भस्थ बालकमें 'मैत्रका पुत्रत्व' रूप हेतु रहता ही है; क्योंकि वह मैत्रका पुत्र है। सपक्ष हैं उसके अन्य भाई, चूँकि वे भी मैत्रके पुत्र हैं, अतः उनमें भी मैत्रतनयत्व हेतु रहता ही है। विपक्ष है मैत्रके सिवा किसी दूसरे व्यक्तिका गौरांग बालक। चूँकि वह मैत्रका पुत्र नहीं है इसलिए उसमें 'मैत्रपुत्रत्व' रूप हेतु नहीं रहता। इस तरह त्रैरूप्यके होते हुए भी यह हेतु सम्यक् हेतु नहीं है; क्योंकि जो-जो मैत्रका लड़का हो वह काला ही हो ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है, वह गौरवर्ण भी हो सकता है।

बौद्ध—हेतुका लक्षण केवल त्रैरूप्य नहीं है, किन्तु अविनाभावसे विशिष्ट त्रैरूप्य ही हेतुका लक्षण है। वह लक्षण 'मैत्रपुत्रत्व' रूप सदोष हेतुमें नहीं पाया जाता।

जैन—तब तो त्रैरूप्यकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है; क्योंकि त्रैरूप्यके बिना

भी अविनाभाव रूप नियमके होनेसे ही हेतु अपने साध्यकी सिद्धिमें समर्थ सिद्ध होता है। जैसे, 'रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका नक्षत्रका उदय हो चुका है' इस अनुमानमें पक्षधर्मता नहीं है; क्योंकि यहाँ रोहिणी नक्षत्र पक्ष है और उसका भविष्यमें उदय होना साध्य है तथा 'कृत्तिकाका उदय' हेतु है। 'कृत्तिकाका उदय' हेतु रोहिणीपक्षमें नहीं रहता; क्योंकि कृत्तिका-का उदय कृत्तिकाका धर्म है न कि रोहिणीका। अतः यहाँ पक्षधर्मता सम्भव नहीं है, फिर भी वह हेतु साध्यकी सिद्धि करता है।

बौद्ध—इस अनुमानको हम इस प्रकार कहेंगे—'आकाशमें शकट (रोहिणी) का उदय होगा; क्योंकि वह कृत्तिकाके उदयसे युक्त है' ऐसा कहनेसे इसमें पक्ष-धर्मता बन जाती है।

जैन—इस तरहसे तो सभी हेतु पक्षधर्मतावाले हो सकते हैं। और 'जगत्'को पक्ष बनाकर मकानको सफेद सिद्ध करनेके लिए, कौवेके कालेपनको भी हेतु बना-कर उसमें पक्षधर्मताकी कल्पना की जा सकती है। जैसे, यह जगत् सफेद मकान-वाला है क्योंकि इसमें काले कौवे पाये जाते हैं। अथवा यह जगत् समुद्रमें आगको लिये हुए है क्योंकि इसमें धुएँवाले रसोईघर हैं।

अतः पक्षधर्मताके होनेसे ही हेतु अपने साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता। इसलिए पक्षधर्मता हेतुका लक्षण नहीं है।

इसी तरह सपक्षसत्त्व भी हेतुका लक्षण नहीं है; क्योंकि ऐसे बहुत-से हेतु हैं जो सपक्षमें नहीं रहते, फिर भी साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ हैं। जैसे, 'शब्द अनित्य है; क्योंकि सुनाई देता है' 'सब जगत् क्षणिक है; क्योंकि सत् है।' इन दोनों अनुमानोंमें कोई सपक्ष नहीं है; क्योंकि प्रथममें शब्दमात्रको पक्ष बनाया है, शब्दके सिवा अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सुनाई देती हो, अतः 'सुनाई देना' रूप हेतु सपक्षमें नहीं रहता। इसी तरह जब समस्त जगत्को पक्ष बना लिया तो कुछ शेष बचा ही नहीं जिसे सपक्ष बनाया जा सके। अतः 'सत्' हेतु भी सपक्षमें नहीं रहता। फिर भी ये दोनों हेतु गमक हैं—अपने साध्यको सिद्ध करते हैं। शायद कहें कि 'ये दोनों हेतु विपक्षमें नहीं रहते अतः साध्यके साथ अविनाभाव नियमसे बद्ध होनेके कारण ही गमक होते हैं' तो उसीको हेतुका प्रधान लक्षण मानना चाहिए। अतः पक्षधर्मता और सपक्षसत्त्व हेतुके लक्षण नहीं हैं। किन्तु विपक्षमें हेतुके असत्त्वका निश्चय ही हेतुका मुख्य लक्षण है। उसे ही अन्यथानुप-पत्ति कहते हैं।

अन्यथानुपपत्ति नियमके होनेसे ही हेतुमें असिद्धता आदि दोष नहीं रहते।

जो हेतु असिद्ध है, या विरुद्ध है, या अनैकान्तिक है उसका अपने साध्यके साथ अन्यथानुपपत्ति नियम नहीं होता। 'अन्यथा' अर्थात् साध्यके अभावमें हेतुकी 'अनुपपत्ति' अर्थात् अभावका नाम अन्यथानुपपत्ति है। निश्चित अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका लक्षण है अतः बौद्धकल्पित त्रैरूप्य हेतुके लक्षण नहीं है। इसीसे आचार्य पात्रकेसरीने अपने 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रन्थमें उचित ही कहा था—[1]'जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपतासे क्या प्रयोजन है। और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता होनेसे भी क्या प्रयोजन है।' अर्थात् उसका होना या नहीं होना दोनों समान हैं।

हेतुके यौगकल्पित पांचरूप्य लक्षणकी आलोचना—[2]यौगोंने बौद्धोंके त्रैरूप्यकी तरह पांचरूप्यको हेतुका लक्षण माना है। किन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं है। हेतुके इन पाँच लक्षणोंमें-से पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व आदि तीन लक्षणोंका तो पहले ही खण्डन कर आये हैं शेष दो रहते हैं—एक अबाधित विषयत्व और एक असत्प्रतिपक्षत्व। किन्तु अन्यथानुपपत्ति अथवा साध्याविनाभाव नियमके बिना न तो हेतु अबाधित विषय होता है और न असत्प्रतिपक्ष होता है। 'अबाधित विषयका अर्थ है—'हेतुका साध्य किसी प्रमाणसे बाधित न हो।' जैसे, अग्नि ठण्डी होती है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे जल। इस अनुमानमें अग्निका ठण्डापन साध्य है, किन्तु यह साध्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है क्योंकि प्रत्यक्षसे अग्नि उष्ण सिद्ध है। अतः यह बाधित विषय है; क्योंकि 'जो-जो द्रव्य हो वह वह ठण्डा हो' ऐसा कोई अविनाभाव नियम नहीं है; द्रव्य ठण्डे भी होते हैं और गरम भी होते हैं। अतः अविनाभावके अभावके बिना कोई हेतु बाधितविषय नहीं हो सकता। बाधितविषय और अविनाभावका परस्परमें विरोध है। साध्यके सद्भावमें ही हेतुका पक्षमें रहना अविनाभाव है। और साध्यके अभावमें हेतुका रहना 'बाधितविषय' है। असत्प्रतिपक्षका अर्थ है—जिसका कोई प्रतिपक्ष न हो। जैसे किसीने कहा—यह जगत् किसी बुद्धिमान्का बनाया हुआ है; क्योंकि कार्य है। दूसरेने कहा—यह जगत् किसीका बनाया हुआ नहीं है; क्योंकि उसका कोई कर्ता नहीं है। यह सत्प्रतिपक्ष है। अब यहाँ यह विचारणीय है कि असत्प्रतिपक्षतासे तुल्य बलवाले प्रतिपक्षका निषेध इष्ट है अथवा अतुल्य बलवाले प्रतिपक्षका निषेध इष्ट है? यदि पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों समान

---

१. 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।' इस ऐतिहासिक कारिकाका रोचक विवरण जाननेके लिए न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागकी प्रस्तावनाका पृ० ७३ देखें।

२. न्या० कु० च०, पृ० ४४२।

बलवाले हों तो उनमें बाध्य-बाधकभाव नहीं हो सकता; क्योंकि जो समान बलवाले होते हैं उनमें बाध्य-बाधक भाव नहीं होता, जैसे समान बलशाली दो राजाओंमें। यदि पक्ष और प्रतिपक्ष अतुल्य बलवाले हैं तो उनके अतुल्य बल होनेका कारण क्या है—एकमें पक्षधर्मता वगैरहका होना और एकमें उनका न होना अथवा अनुमानबाधा ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि पक्षधर्मता आदि दोनों अनुमानोंमें पायी जाती है। जैसे, एकने कहा—'यह मनुष्य मूर्ख है; क्योंकि अमुकका पुत्र है। दूसरेने कहा—यह मनुष्य मूर्ख नहीं है; क्योंकि शास्त्रका व्याख्यान करता है।' इन दोनों अनुमानोंमें पक्षधर्मता आदि पायी जाती है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है—क्योंकि जब दोनों अनुमानोंमे पक्षधर्मता आदि पायी जाती है तो उनमें-से एक बाधित और एक बाधक नहीं हो सकता, अन्यथा दोनोंमें-से कोई भी बाध्य और कोई भी बाधक हो जायेगा तथा अन्योन्याश्रय नामका दोष भी आता है—क्योंकि जब दोनों अनुमान अतुल्यबल सिद्ध हों तो अनुमानबाधा आये और जब अनुमानबाधा हो तो अतुल्यबलत्व सिद्ध हो। अतः हेतुका लक्षण अविनाभाव नियम निश्चय ही मानना चाहिए।

ऊपरकी चर्चाका निष्कर्ष यह है कि जैनदर्शनमें हेतुका एक रूप ही माना है—अविनाभाव नियम। उसका कहना है कि जब तीन अथवा पाँच रूपोंके नहीं होनेपर भी कुछ हेतु गमक हो सकते हैं तो अविनाभाव नियमको ही हेतुका लक्षण मानना चाहिए, तीन या पाँच रूप तो अविनाभावका ही विस्तार है।

अविनाभावके भेद—अविनाभाव नियमके दो भेद हैं—एक सहभाव नियम और एक क्रमभाव नियम। सहचारियोंमें और व्याप्य-व्यापकमें सहभाव नियम नामक अविनाभाव होता है। जैसे रूप और रस सहचारी हैं; क्योंकि रूप रसके बिना नहीं रहता और रस रूपके बिना नहीं रहता, दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं अतः इन दोनोंमें सहभाव नामक अविनाभाव है। तथा वृक्षत्व और आम्रत्वमें-से वृक्षपन व्यापक है और आम्रपन व्याप्य है; क्योंकि वृक्षपन तो सभी प्रकारके वृक्षोंमें रहता है किन्तु आम्रपन केवल आमके वृक्षोंमें ही रहता है। ये दोनों भी सहचारी हैं; क्योंकि जिसमें आम्रपन रहता है उसमें वृक्षपन अवश्य रहता है।

पूर्वोत्तरचारियोंमें (सदा आगे-पीछे रहनेवालोंमें) और कार्य-कारणमें क्रमभाव नियम होता है। जैसे कृत्तिका नक्षत्रके पश्चात् ही रोहिणी नक्षत्रका उदय होता है। अतः ये दोनों पूर्वोत्तरचारी हैं। तथा धूम और अग्निमें-से धूम कार्य है और अग्नि कारण है। कारण पहले होता है और कार्य बादको होता है। अतः इनमें क्रमभाव नियम नामका अविनाभाव है। सारांश यह है कि जो साथ-साथ रहते हैं उनमें सहभाव नियम होता है और जो क्रमसे होते हैं उनमें क्रमभाव

नियम होता है। इस तरह अविनाभावके दो भेद हैं।

हेतुके भेद—जैनदर्शनमें हेतुके बहुत-से प्रकार[1] बतलाये हैं। संक्षेपसे हेतुके दो भेद हैं––एक उपलब्धि रूप (भावरूप) और एक अनुपलब्धि रूप (अभावरूप)। दोनोंमें-से प्रत्येकके छह-छह भेद हैं—कार्य, कारण, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर। ये छह उपलब्धि रूप हेतुके भेद हैं। १. कार्यहेतु––जैसे, वहाँ आग है क्योंकि धूम है। यहाँ धूम हेतु अग्निका कार्य है। २. कारणहेतु––जैसे, वहाँ छाया है; क्योंकि छाता तना हुआ है। यहाँ 'छाता' हेतु छायाका कारण है। ३. व्याप्य-हेतु––जैसे सब अनेकान्तात्मक हैं क्योंकि सत् हैं। यहाँ सत् हेतु अनेकान्तात्मक रूप साध्यका व्याप्य है। ४. पूर्वचर––शकट (रोहिणी) नक्षत्रका उदय होगा क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो चुका। यहाँ कृत्तिकाका उदय शकटके उदयका पूर्व-चर है। ५. उत्तरचर––जैसे, भरणीका उदय हो चुका; क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है। यहाँ कृत्तिकाका उदय, भरणीनक्षत्रके उदयका उत्तरवर्ती है। ६. सहचर हेतु-जैसे, इस आममें रूप हैं; क्योंकि रस है। यहाँ रस हेतु रूप साध्यका सहचारी है। अनुपलब्धि रूप हेतुके छह भेद इस प्रकार हैं—कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि, व्यापकानुपलब्धि, पूर्वचरानुपलब्धि, उत्तरचरानुपलब्धि और सहचरानुपलब्धि। १. कार्यानुपलब्धि—जैसे, इस मुर्दे शरीरमें जान नहीं है; क्योंकि हलन-चलन आदि नहीं पाया जाता। यहाँ जीवनका कार्य हलन-चलन आदिकी अनुपलब्धि-रूप हेतुसे जीवनका अभाव सिद्ध किया गया है। २. कारणानुपलब्धि—यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि आग नहीं है। धूमका कारण अग्नि है। अग्निकी अनुपलब्धि रूप हेतुसे धूमका अभाव सिद्ध किया गया है। ३. व्यापकानुपलब्धि—यहाँ शिंशपा नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं हैं। शिंशपा व्याप्य है और वृक्ष व्यापक है अतः व्यापक वृक्षके अभावमें व्याप्य शिंशपाका भी अभाव होता है। ४. पूर्वचरानुप-लब्धि—एक मुहूर्तमें शकटका उदय नहीं होगा; क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं हुआ। ५. उत्तरचरानुपलब्धि—भरणीका उदय अभी नहीं हुआ; क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं हुआ। कृत्तिकाका उदय शकटसे एक मुहूर्त पहले होता है और भरणीके उदयसे एक मुहूर्त्तबाद होता है। अतः कृत्तिका शकटका पूर्वचर है और भरणी-का उत्तरचर है। दोनोंमें उसकी अनुपलब्धि है। ६. सहचरानुपलब्धि—इस तराजूका एक पलड़ा ऊँचा नहीं है; क्योंकि दूसरा पलड़ा नीचा नहीं है। तराजूके पलड़ोंमें ऊँचा-नीचापना एक साथ रहता है। अतः एकके अभावमें दूसरेका अभाव सिद्ध किया गया है।

१. हेतुके प्रकार देखनेके लिए परीक्षामुखके अध्याय तीनके सूत्र ५७–९३ देखने चाहिए।

हेतुके भेदोंके विषयमें बौद्धका पूर्व पक्ष—बौद्धों[1] का कहना है कि अविनाभावके बलसे ही हेतु अपने साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ होता है, यह तो ठीक है, किन्तु अविनाभाव नियम उन्हींमें होता है, जिनमें या तो तादात्म्य सम्बन्ध होता है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है। अतः हेतुके दो ही भेद हैं–एक कार्य हेतु और एक स्वभाव हेतु। तादात्म्यसे स्वभावहेतुका अविनाभाव होता है; तदुत्पत्तिसे कार्यहेतुका अविनाभाव होता है। कार्य और स्वभावके सिवा अन्य कोई हेतु नहीं है। अनुपलब्धिका अन्तर्भाव भी स्वभाव हेतुमें ही हो जाता है; क्योंकि घट वगैरहका अभाव, घट आदिसे शून्य भूतल आदि स्वभावरूप ही है, अतः घटरहित भूतल आदि स्वभावकी उपलब्धि ही घटकी अनुपलब्धि है। आशय यह है कि पृथ्वीपर घड़ा होनेसे पृथ्वी और घड़ेका ग्रहण एक ज्ञानसे होता है किन्तु यदि प्रत्यक्षसे केवल पृथ्वी ही गोचर हो और घड़ा दिखाई न दे तो घड़ेका ग्रहण न होना ही उसके अभावका ग्रहण होना है, क्योंकि यदि जमीनपर घड़ा होता तो जमीनके साथ ही घड़ेका भी ग्रहण होना चाहिए था। अतः अभाव भावान्तर स्वरूप ही है। इसीसे अनुपलब्धिरूप हेतुका अन्तर्भाव भी स्वभाव हेतुमें हो जानेसे हेतुके दो ही भेद है। तथा 'अविनाभावका ग्रहण तर्कज्ञानसे होता है' यह भी ठीक नहीं हैं; क्योंकि कार्यहेतुके अविनाभावकी प्रतीति प्रत्यक्ष और अनुपलम्भके पाँच बार होनेसे हो जाती है। विशेष इस प्रकार है–पहले किसी स्थानपर अग्नि और धूम दोनोंको ही नहीं देखा। यह एक अनुपलम्भ हुआ। पीछे कहीं अग्निको देखा उसके बाद धूमको देखा। ये दो उपलम्भ हुए। फिर अग्निको नहीं देखा तो धूमको भी नहीं देखा। ये दो अनुपलम्भ हुए। इस तरह पाँच बार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भके होनेसे एक ही व्यक्तिमें कार्यकारण भावका ज्ञान हो जाता है कि अग्निका कार्य धूम है। और जो उसका कार्य है वह अपने कारणसे नियत है। यदि कार्य अपने कारणसे नियत न हो तो कारणकी अपेक्षा न करनेसे कार्य या तो सदा सत् ही होगा या सदा असत् ही होगा। तथा, जो नियत होता है उसका कोई नियामक अवश्य होता है। नियामकके अभावमें स्वतन्त्र हो जानेसे कार्यके नित्य सत् होनेका अथवा नित्य असत् होनेका पुनः प्रसंग उपस्थित होगा। अतः यह निष्कर्ष निकला–जो एक बार भी जिससे उत्पन्न होता हुआ देखा गया है वह उसीसे उत्पन्न होता है, अन्यसे उत्पन्न नहीं होता। यदि जो जिसका कारण नहीं है वह उससे भी उत्पन्न होने लगे तो सबसे सबकी उत्पत्ति होने लगेगी। इस तरह प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे कार्यहेतुकी सार्वदेशिक

---

१. न्या० कु० च०, पृ० ४४४।

व्याप्ति प्रतीत होती है। तथा स्वभावहेतुकी व्याप्ति विपक्षमें बाधक प्रमाणके होने-से प्रतीत होती है, जैसे सत्वकी क्षणिकत्वके साथ व्याप्तिकी प्रतीति होती है। इसका विशेष इस प्रकार है—सत्त्वका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है; अर्थात् जो कुछ काम करता है वह सत् है। अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत् होती है। अतः क्रमयौगपद्य व्यापक हैं और अर्थक्रिया व्याप्य है। किन्तु नित्य पदार्थ न तो क्रमसे अर्थक्रिया (अपना कार्य) कर सकता है, क्योंकि जब वह नित्य समर्थ है तो अपना काम उसे तुरन्त कर डालना चाहिए; और न वह सब काम एक साथ कर सकता है; क्योंकि यदि वह सब काम तुरन्त कर डालेगा तो फिर उसे करनेके लिए कुछ भी नहीं रहनेसे वह असत् हो जायेगा। इसलिए नित्यमें क्रम यौगपद्यके न रहनेसे अर्थक्रिया भी नहीं रह सकती। और अर्थक्रियाके न रहनेसे नित्यपदार्थ असत् सिद्ध होता है। तथा नित्यपदार्थके असत् सिद्ध होनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि क्षणिक पदार्थ ही सत् है; क्योंकि नित्य और क्षणिकके सिवा कोई तीसरा प्रकार तो है नहीं, जो सत् हो सके।

रहा अनुपलब्धि रूप हेतु, किन्तु अनुपलब्धिका अन्तर्भाव स्वभावानुपलब्धिमें हो जाता है और स्वभावानुपलब्धि स्वभावहेतु है तथा उसका तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः उसके लिए किसी अन्य अविनाभाव नियमकी आवश्यकता नहीं है।

इस तरह अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे ही नियत है अतः हेतुके दो ही भेद हैं—स्वभावहेतु और कार्यहेतु। ऐसा बौद्धोंका मत है।

उत्तरपक्ष—जैनोंका[1] कहना है कि 'अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे ही नियत है' इत्यादि कथन अविचारपूर्ण है; क्योंकि तादात्म्य अविनाभाव नियमका निमित्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि सम्बन्ध उन्हींमें होता है जिनमें भेद नहीं होता है। किन्तु तादात्म्यके होते हुए भेद नहीं हो सकता और भेदके अभावमें सम्बन्ध नहीं हो सकता। तादात्म्यका अर्थ है—साध्यके साथ साधनकी एकता। एकताके होते हुए भेद नहीं हो सकता और भेदके होते हुए एकता नहीं हो सकती। अतः वृक्षत्वमें और आम्रत्वमें तादात्म्य होनेसे आम्रत्वसे वृक्षत्वकी प्रतीति कैसे हो सकती है? तथा यदि साध्य और साधनमें तादात्म्य होनेसे साधन-साध्यका गमक होता है तो जिस समय हेतुका ग्रहण होता है उसी समय हेतुसे अभिन्न होनेके कारण साध्यकी भी प्रतीति हो ही जायेगी तब अनुमानकी आवश्यकता ही नहीं रहती; क्योंकि साधनका ग्रहण किये बिना उससे साध्यका ज्ञान नहीं हो सकता और साधनकी प्रतीति होनेपर भी यदि साध्यकी प्रतीति नहीं हुई तो उन दोनोंमें

१. न्या० कु० च०, पृ० ४४६।

तादात्म्य कैसे कहा जायेगा ? और यदि साधनकी प्रतीतिके साथ ही साध्यकी प्रतीति हो जाती है तो अनुमानकी विफलता सिद्ध है।

यदि कहा जाये कि विपरीत समारोपको दूर करनेके लिए अनुमानकी आवश्यकता है, तो उसमें यह प्रश्न पैदा होता है कि हेतुका स्वरूप जान लेनेपर समारोप होता है या बिना जाने ही उसमें विपरीत समारोप होता है ? यदि हेतुका स्वरूप जान लिया तो फिर विपरीत समारोपको स्थान ही कहाँ रहा; क्योंकि यदि अन्धेरेमें खड़े ऊँचे पदार्थमें हाथ-पैर आदि दिखाई दे जायें तो उसे स्थाणु (ठूँठ) कौन समझ सकता है? और यदि हेतुका स्वरूप नहीं जाना तो विपरीत समारोपका प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि वस्तुको बिना जाने विपरीत ज्ञान नहीं होता। जब साध्य और साधनमें तादात्म्य है तो जैसे आम्रपनेको देखकर वृक्ष होनेका अनुमान करते हैं वैसे ही वृक्षपनसे आम्रत्वका अनुमान क्यों नहीं किया जाता। यदि कहा जाये कि आम्रत्व तो वृक्षत्वसे बँधा हुआ है; किन्तु वृक्षत्व आम्रत्वसे बँधा नहीं है। अर्थात् जिसमें आम्रत्व पाया जाता है उसमें वृक्षत्व अवश्य पाया जाता है किन्तु जो-जो वृक्ष होता है वह-वह आमका ही वृक्ष होता है ऐसी व्याप्ति नहीं है, तब तो तादात्म्य होनेसे हेतु साध्यका गमक नहीं होता, बल्कि अविनाभावसे ही हेतु साध्यका गमक होता है। अतः तादात्म्यसे अविनाभाव नियत नहीं है और न तदुत्पत्तिसे ही अविनाभाव नियत है। क्योंकि धूमका धर्म कालापन वगैरह भी अग्निसे ही उत्पन्न होता है, किन्तु उसका अग्निके साथ अविनाभाव नहीं है। तथा अग्नि सामान्य और धूमसामान्यमें कार्यकारण भाव नहीं होता, किन्तु अग्निविशेष और धूमविशेषमें कार्यकारण भाव होता है। अतः रसोईघरमें जिस अग्नि और धूममें कार्यकारण भाव जाना, उनमें तो गम्य-गमक भाव अर्थात् साध्य-साधन भाव नहीं है। और पर्वतपर पाये जाने वाले जिस धूम और अग्निमें गम्य-गमक भाव है, उनमें कार्यकारण भाव नहीं जाना। तथा कार्यकारण भावको जाने बिना पर्वतस्थ धूम और अग्निका अविनाभाव नहीं जाना जा सकता। और अगृहीत अविनाभाव अनुमानका अंग नहीं है। अब यदि अनुमान प्रयोगके कालमें कार्यकारणके अविनाभावका ग्रहण मानते हैं तो हेतुकी प्रतीति होते ही साध्यकी प्रतीतिके हो जानेसे अनुमानकी आवश्यकता ही क्या है ?

इसके सिवा जिनमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो उनमें ही यदि अविनाभाव नियम मानते हैं तो कृत्तिका नक्षत्र और रोहिणीनक्षत्रके उदयमें तथा चन्द्रोदय और समुद्रकी वृद्धिमें साध्य-साधनभाव कैसे बनेगा; क्योंकि इनमें न तो तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध है।

तथा यह कहना कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे अविनाभावकी प्रतीति होती है, उचित नहीं है, क्योंकि आपका प्रत्यक्ष निर्विकल्प होनेसे व्याप्तिको ग्रहण नहीं कर सकता और अनुपलम्भ पदार्थान्तरके उपलम्भ स्वरूप होनेसे व्याप्तिको ग्रहण नहीं कर सकता। 'अमुक वस्तु अमुक वस्तुके होनेपर ही होती है, और नहीं होनेपर नहीं होती' इतना विचार, निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें नहीं हो सकता; क्योंकि वह विचारक नहीं है। निर्विकल्पकसे उत्पन्न होनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी व्याप्तिको ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि बौद्ध उसे प्रमाण नहीं मानते।

'स्वभाव हेतुकी व्याप्ति विपक्षमें बाधक प्रमाणके बलसे जानी जाती है' यह कथन भी ठीक नहीं है। 'सब क्षणिक हैं, क्योंकि सत् हैं' इस अनुमानमें 'सत् हैं' यह स्वभावहेतु है। तथा वहाँपर विपक्ष नित्य है। बौद्धोंके कथनानुसार 'सत्' हेतु विपक्ष नित्यमें नहीं रहता; क्योंकि विपक्षमें बाधक प्रमाण यह अनुमान है— 'नित्यमें अर्थक्रिया नहीं होती, क्योंकि उसमें न तो क्रम पाया जाता है और न 'यौगपद्य' पाया जाता है।

जिसकी व्याप्ति सिद्ध होती है वही अनुमान अपने साध्यको सिद्धि करता है। अतः अब प्रश्न यह होता है कि विपक्षमें बाधक जो अनुमान है उस अनुमानकी व्याप्ति दूसरे अनुमानसे सिद्ध होती है या उसी अनुमानसे सिद्ध है? यदि एक अनुमानकी व्याप्ति दूसरे अनुमानसे सिद्ध होती है तो दूसरे अनुमानकी व्याप्ति तीसरे अनुमानसे सिद्ध होगी। इस तरह अनवस्था दोष आता है। और यदि वह अनुमान अपनी व्याप्तिको स्वयं ही सिद्ध करता है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है; क्योंकि जब व्याप्ति सिद्ध हो तो अनुमान बने और जब अनुमान बने तो व्याप्ति सिद्ध हो। अतः यदि बौद्ध अनुमान प्रमाणको मानते हैं तो उन्हें व्याप्तिके ग्राहक तर्कको एक जुदा प्रमाण मानना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानसे व्याप्तिका ग्रहण नहीं हो सकता।

तथा तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धके अभावमें भी अविनाभावके बलसे ही हेतु अपने साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ होता है। जैसे—'वहाँ छाया है; क्योंकि वृक्ष है' अथवा अँधेरेमें आम खानेपर उसके रसके स्वादसे जो आमके रूपका अनुमान किया जाता है, इन दोनों अनुमानोंमें, 'वृक्ष' और 'रस' हेतु क्रमशः साध्य छाया और रूपका न तो स्वभाव हैं, क्योंकि रस और छायामें तथा रूप और रसमें भेद पाया जाता है, और न कार्य हैं; क्योंकि दोनों एक साथ रहते हैं।

बौद्ध—रसके चखनेपर तथा वृक्षके देखनेपर उसकी सामग्रीका अनुमान किया जाता है और सामग्रीसे रूप और छायाका अनुमान किया जाता है।

जैन—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस प्रकारका व्यवहार नहीं पाया जाता। अर्थात् रसके चखनेपर व्यवहारी मनुष्य उसकी सामग्रीका अनुमान नहीं करता अन्यथा वर्तमान रूप आदिकी प्रतीति नहीं हो सकेगी। और ऐसी स्थितिमें 'इस आम्रका रूप अमुक प्रकारका है; क्योंकि उसमें अमुक प्रकारका रस पाया जाता है' इस प्रकारका अनुमान तथा उस प्रकारके रूपके इच्छुक मनुष्यकी उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। इसके सिवा यदि आप (बौद्ध) सामग्रीसे रूपका अनुमान मानते हैं तो सामग्री कारण हुई और रूप उसका कार्य हुआ। अतः कारणसे कार्यका अनुमान माननेपर, बौद्धोंने हेतुके जो दो ही भेद माने हैं—स्वभाव हेतु और कार्य हेतु, उसमें बाधा आती है, क्योंकि इस तरह एक तीसरा कारण हेतु भी मानना पड़ेगा। इससे सिद्ध हुआ कि वृक्ष आदि छाया आदिके न तो स्वभाव ही हैं और न कार्य ही हैं, फिर भी उनसे छाया आदिका अनुमान होता है। यदि कहा जाये कि वृक्ष आदिसे छाया आदिके अनुमान करनेमें व्यभिचार देखा जाता है तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि वृक्ष आदिसे छाया आदिका अनुमान करनेपर बादमें छाया आदि प्रत्यक्षसे सत्य प्रतीत होती हैं। जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब देखकर उससे आकाशमें चन्द्रमाके होनेका अनुमान किया जाता है। किन्तु आकाशमें स्थित चन्द्रमा न तो जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाका स्वभाव है और न कार्य है। फिर भी जल चन्द्रसे चन्द्रमाका निर्दोष ज्ञान होता है। अतः स्वभाव और कार्यके सिवा एक कारण हेतुको भी मानना चाहिए। 'एक मुहूर्तमें रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा; क्योंकि कृत्तिका नक्षत्रका उदय हो चुका' इस अनुमानमें 'कृत्तिका नक्षत्रका उदय हो चुका' यह हेतु है और 'रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा' यह साध्य है। किन्तु कृत्तिकाका उदयरूप हेतु रोहिणीके उदयरूप साध्यका न तो कार्य है और न स्वभाव है, परन्तु दोनोंके उदयमें अविनाभाव नियम है इसलिए लोग आकाशमें कृत्तिकाका उदय देखकर भविष्यमें रोहिणी नक्षत्रके उदय होनेका अनुमान करते हैं। इस तरहके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं—जैसे, कल प्रातः सूर्यका उदय होगा, क्योंकि आज सूर्यका उदय हुआ है। तथा 'कल ग्रहण लगेगा; क्योंकि गणित करनेसे अमुक प्रकारके अंक आते हैं।' ये सब पूर्वचर हेतुके उदाहरण हैं अर्थात् इनमें साध्यसे हेतु पूर्वचारी होता है। अतः बौद्धोंने जो हेतुके दो ही प्रकार माने हैं वे ठीक नहीं हैं, स्वभाव हेतु और कार्य हेतुके सिवा कारण हेतु, पूर्वचर आदि हेतु भी देखे पाये जाते हैं।

हेतुके पाँच भेद माननेवाले नैयायिकका पूर्वपक्ष—नैयायिक-वैशेषिक-

१. न्या० कु० चं०, पृ० ४६० ।

का कहना है कि हेतुके पाँच भेद हैं–कारण, कार्य, संयोगी, समवायी और विरोधी। ये पाँच हेतु ही अनुमानके अंग हैं, इन्हींमें अविनाभाव नियम पाया जाता है। पाँचों हेतुओंका उदाहरण इस प्रकार है–

१. **कारणसे कार्यका अनुमान**—जैसे जलते हुए ईंधनको देखकर भस्म होनेका अनुमान करना—ईंधनका जलना राखका कारण है। २. **कार्यसे कारणका अनुमान**—जैसे नदीमें बाढ़ देखकर ऊपर वर्षा होनेका अनुमान करना। नदीमें बाढ़ आनेका कारण वर्षा होना है। ३. **संयोगीके दर्शनसे संयोगीका अनुमान**—जैसे धूमके देखनेसे वह्निका अनुमान करना। यहाँ धूम अग्निका संयोगी है। ४. **समवायीके दर्शनसे समवायीका अनुमान**—जैसे शब्दसे आकाशका अनुमान करना। यहाँ शब्दगुण समवाय सम्बन्धसे आकाशमें रहता है। अथवा एक अर्थमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले एक गुणके दर्शनसे उसी अर्थमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले दूसरे गुणका अनुमान–जैसे रूपसे रसका अनुमान करना। ५. **विरोधीके देखनेसे दूसरे विरोधीका अनुमान**—जैसे नेवलेके बाल उठे हुए देखकर पासमें ही सर्प होनेका अनुमान करना। ये पाँच हेतु गमक होते हैं।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना है कि नैयायिकोंका यह कहना कि पाँच हेतु ही अनुमानके अंग हैं, ठीक नहीं है, क्योंकि उन पाँचोंके अतिरिक्त, कृत्तिकोदय आदि हेतुओंको अनुमानका अंग ऊपर बतलाया ही है। अविनाभाव नियमके होनेसे ही हेतु अनुमानका अंग होता है, न कि कारण आदि होनेसे। कारणादि रूपता तो सब हेतुओंमें नहीं पायी जाती, जैसे कृत्तिकोदय आदि हेतुओंमें कारण आदि रूपता नहीं है। किन्तु अविनाभाव नियम समस्त हेतुओंमें पाया जाता है और जो हेत्वाभास है, उनमें नहीं पाया जाता। अतः अविनाभाव नियमके होनेसे ही हेतुको अपने साध्यका गमक मानना चाहिए। अविनाभावके बिना कोई भी हेतु अपने साध्यका साधक नहीं देखा जाता। अविनाभावके होनेपर ही सर्वत्र हेतुओंमें गमकता देखी जाती है। अतः नैयायिकका उक्त मन्तव्य भी उचित नहीं है।

[1]**सांख्यसम्मत हेतुके भेदोंका निराकरण**—इसी तरह सांख्यहेतुके सात भेद मानते हैं–मात्रा, मात्रिक, कार्यविरोधी, सहचारी, स्वस्वामी और बध्यघातसंयोगी। १. **मात्रामात्रिक अनुमान**—जैसे चक्षुके ज्ञानका अनुमान करना। २. **कार्यसे कारणका अनुमान**—जैसे बिजलीको क्षणिक देखकर उसके कारणका अनुमान करना। ३. **प्रकृतिविरोधीके दर्शनसे उसके विरोधीका अनुमान**—जैसे, बादल नहीं बरसेगा, क्योंकि हवा प्रतिकूल बहती है।

---

१ न्या० कु० च०, पृ० ४६२।

४. सहचरका अनुमान—जैसे चकवेके युगलमें-से एकको देखकर दूसरेके होनेका अनुमान करना। ५. 'स्व'के देखनेसे स्वामीका अनुमान—जैसे, छत्र विशेषको देखनेसे राजाके होनेका अनुमान करना। ६. बध्यघात अनुमान—जैसे नेवलेको प्रसन्न देखकर यह अनुमान करना कि इसने अवश्य ही सर्प मारा है। ७. संयोगी अनुमान—जैसे, हाथमें त्रिदण्ड देखनेसे यह अनुमान करना कि यह परिव्राजक है।

नैयायिकोंके द्वारा माने गये हेतुओंकी तरह ही सांख्यके द्वारा कल्पित हेतुओंकी संख्याका निराकरण भी जान लेना चाहिए। क्योंकि पूर्वचर आदि हेतुओंका अन्तर्भाव सांख्य कल्पित हेतुओंमें भी नहीं होता। अतः सांख्यको भी उन्हें पृथक् हेतु ही मानना पड़ेगा।

साध्य—जिसे सिद्ध किया जाता है उसे साध्य कहते हैं। अतः जो सिद्ध हो वह साध्य नहीं हो सकता। किन्तु जिसमें सन्देह हो, कुछका कुछ समझ लिया गया हो, अथवा जिसके विषयमें अज्ञान फैला हुआ हो वही वस्तु साध्य हो सकती है। तथा जिस बातको सिद्ध किया जाये वह प्रत्यक्ष आदिसे बाधित नहीं होना चाहिए। जैसे यदि कोई अग्निको ठण्डी सिद्ध करना चाहें तो नहीं कर सकता, क्योंकि अग्निका ठण्डापन प्रत्यक्षसे बाधित है। अतः अबाधित ही साध्य हो सकता है।

दर्शनशास्त्रमें अनुमान प्रमाणकी आवश्यकता प्रायः उस समय मानी गयी है जब दो व्यक्तियोंमें किसी बातको लेकर वाद (शास्त्रार्थ) होता है। उन दोनोंमें-से एक वादी कहा जाता है और दूसरा प्रतिवादी कहा जाता है। वादी युक्तियोंके द्वारा अपने इष्ट तत्त्वको प्रतिवादीके सामने सिद्ध करता है। अतः साध्य वही होता है जो वादीको इष्ट हो और प्रतिवादीको असिद्ध हो। क्योंकि समझानेकी इच्छा वादीको ही होती है। इसीसे जैनदर्शनमें [1] इष्ट, अबाधित और असिद्धको साध्य कहा है।

अर्थापत्ति

पूर्वपक्ष—मीमांसक [2] एक अर्थापत्ति नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि अर्थापत्ति प्रत्यक्ष वगैरहसे एक जुदा प्रमाण है, क्योंकि उसका स्वरूप अन्य प्रमाणोंसे भिन्न है। जिसका जिससे भिन्न स्वरूप होता है वह उससे एक जुदा

---

१. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्। साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ॥ २० ॥ —प्रमाणसंग्रह।

२. न्या० कु० च० पृ० ५०५।

प्रमाण होता है जैसे अनुमान प्रत्यक्षसे एक जुदा प्रमाण है। उसी तरह अर्थापत्ति-का स्वरूप भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बिलकुल भिन्न है। इसका विशेष इस प्रकार है—प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणोंसे जाना गया अथवा सुना गया जो अर्थ जिसके बिना न हो सके उस अदृष्ट अर्थकी कल्पना करनेको अर्थापत्ति कहते हैं। प्रत्यक्ष आदि निमित्तोंके भेदसे अर्थापत्ति छह प्रकारकी होती है। जैसे, प्रत्यक्षसे अग्निका जलाना रूप कार्य देखकर यह कल्पना करना कि अग्निमें जलानेकी शक्ति है अन्यथा वह जला नहीं सकती, वह प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति है। सूर्यको एक जगहसे दूसरी जगह देखकर अनुमानसे जानते हैं कि सूर्य चलता है। और अनुमानसे जानी हुई सूर्यकी गतिके आधारपर यह कल्पना करना कि सूर्यमें गमन करने-की शक्ति है, यह अनुमानपूर्वक अर्थापत्ति है। उपमान प्रमाणसे गवयसादृश्य विशिष्ट गौको जानकर उसके आधारपर यह कल्पना करना कि सादृश्यविशिष्ट गौमें उपमान प्रमाणके द्वारा ग्राह्य होनेकी शक्ति है, अन्यथा वह उपमान प्रमाणसे ग्राह्य नहीं हो सकता, यह उपमानपूर्वक अर्थापत्ति है। ये अर्थापत्तियाँ जुदा ही प्रमाण हैं, क्योंकि ये अतीन्द्रिय शक्तिको विषय करते हैं। शक्तिको न तो प्रत्यक्षसे जाना जा सकता है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है; न अनुमानसे जाना जा सकता है, क्योंकि जिस विषयमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति नहीं है, उसमें अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

शब्द और उपमान प्रमाणकी तो सम्भावना ही नहीं है कि वे शक्तिको जान सकें। क्योंकि शब्द और सादृश्यके बिना ही शक्तिकी प्रतीति हो जाती है। अतः अर्थापत्ति ही शक्तिको विषय कर सकती है।

यदि शब्दमें वाचक शक्ति न होती तो शब्दसे अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती थी। इस अर्थापत्तिसे शब्दमें वाचकशक्ति जानकर उसके आधारपर शब्दमें नित्यताकी कल्पना करना अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति है। 'मोटा देवदत्त दिनमें नहीं खाता' यह बात सुनकर उसके रात्रिमें भोजन करनेकी कल्पना करना श्रुत अर्थापत्ति है। जीवित चैत्र नामके व्यक्तिको घरपर न देखकर उसके आधार-पर यह कल्पना करना कि वह कहीं बाहर गया है, अभावपूर्वक अर्थापत्ति है।

यदि कहा जाये कि यह तो अनुमान ही है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमानकी सामग्री अर्थापत्तिमें नहीं पायी जाती। पक्षधर्मता आदि सामग्रीसे जो ज्ञान होता है उसे ही अनुमान कहते हैं। वह सामग्री अर्थापत्तिमें नहीं है। अतः अर्थापत्ति एक पृथक् ही प्रमाण है।

अर्थापत्तिका अनुमानमें अन्तर्भाव

उत्तरपक्ष—[1]जैनोंका कहना है कि जिस प्रत्यक्षादिसे जाने गये अथवा सुने गये अर्थकी अन्यथानुपपत्तिके आधारपर अदृष्ट अर्थकी कल्पना की जाती है, वह दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ अपने साध्यके साथ सम्बद्ध है अथवा असम्बद्ध है। यदि असम्बद्ध है तो वह उस अदृष्ट अर्थकी कल्पनामें कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि जिस किसी पदार्थको देखकर जिस किसी पदार्थकी कल्पना नहीं की जा सकती, अन्यथा बड़ी गड़बड़ उपस्थित हो जायेगी। और यदि वह अर्थ अपने साध्यके साथ सम्बद्ध है तो उससे होनेवाला ज्ञान अनुमान ही है क्योंकि अपने साध्यके साथ सम्बद्ध होनेका नाम ही अविनाभाव है। और जो-जो अविनाभावसे ज्ञान होता है वह अनुमान ही है। अतः जब अर्थापत्ति अविनाभावके बलसे उत्पन्न होती है तो वह अनुमान ही हुई।

दूसरे, वह दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ अपने साध्यसे सम्बद्ध होते हुए भी सम्बद्ध रूपसे ज्ञात होनेपर अदृष्ट अर्थकी कल्पनामें निमित्त होता है अथवा अज्ञात होनेपर भी? अज्ञात होनेपर तो अदृष्ट अर्थकी कल्पनामें निमित्त नहीं हो सकता, अन्यथा बालजन भी उससे अदृष्ट अर्थकी कल्पना कर सकेंगे। यदि ज्ञात होनेपर वह अदृष्ट अर्थकी कल्पनामें निमित्त होता है तो साध्यका ज्ञान करनेके समयमें ही वह अर्थ अपने साध्यके साथ सम्बद्ध रूपसे जाना जाता है अथवा पहले? प्रथम पक्षमें वह अर्थ अपने साध्यके साथ सम्बद्ध रूपसे प्रमाणान्तरसे जाना जाता है अथवा उसी प्रमाणसे जाना जाता है? पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि साध्यका ज्ञान करनेके समय उसके सम्बन्धको ग्रहण करनेवाला प्रमाणान्तर सम्भव नहीं है। यदि सम्भव है तो साध्यकी सिद्धि भी उसी प्रमाणान्तरसे हो जायेगी। फिर अर्थापत्तिकी आवश्यकता ही क्या है? अथवा अर्थापत्ति मान भी ली जाये तो भी वह अनुमानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि वह ऐसे हेतुसे उत्पन्न होती है जिसका अपने साध्यके साथ सम्बन्ध प्रमाणान्तरसे जाना जाता है और जो ऐसे हेतुसे उत्पन्न होता है वह अनुमान ही है, जैसे धूमसे होनेवाला वह्निका ज्ञान। चूँकि अर्थापत्ति भी ऐसे हेतुसे ही उत्पन्न होती है अतः वह अनुमान ही है।

यदि दृष्ट अथवा श्रुत अर्थको अपने साध्यके साथ सम्बद्ध रूपसे अर्थापत्ति ही जानती है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है—अर्थापत्तिके सिद्ध होनेपर अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थकी अपने साध्यके साथ सम्बद्ध रूपसे ज्ञप्ति सिद्ध हो और उसके सिद्ध होनेपर अर्थापत्तिकी सिद्धि हो।

१. न्या० कु० च०, पृ० ५१२।

यदि अर्थापत्तिका उत्थापक अर्थ अपने साध्यके साथ सम्बद्ध रूपसे पहले ही जान लिया जाता है तो साध्यधर्मीमें जाना जाता है अथवा दृष्टान्तधर्मीमें ? प्रथम विकल्पमें अर्थापत्ति व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि उसका साध्य तो पहलेसे ही सिद्ध है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है; क्योंकि मीमांसक अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थके सम्बन्धका ज्ञान दृष्टान्तमें होना स्वीकार नहीं करते। दूसरे, अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थका अपने साध्यके साथ सम्बन्धका ज्ञान यदि दृष्टान्तमें होता है तो बार-बार दर्शनसे होता है, अथवा विपक्षमें अनुपलम्भसे होता है अथवा दूसरी अर्थापत्तिसे होता है ? बार-बार दर्शनसे हो नहीं सकता; क्योंकि अतीन्द्रिय शक्तिका बार-बार दर्शन असम्भव है। विपक्षमें अनुपलम्भसे भी नहीं हो सकता; क्योंकि विपक्षमें अनुपलम्भ भी उपलब्धियोग्य पदार्थोंमें ही सम्बन्धका ज्ञान करा सकता है। दूसरी अर्थापत्तिसे भी प्रथम अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थका अपने साध्यके साथ सम्बन्धका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि अनवस्था दोष आता है।

मीमांसक—फिर आप साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान कैसे करते हैं ?

जैन—तर्क नामके प्रमाणसे।

मीमांसक—यदि हम भी उसे मान लें तो क्या दोष है ?

जैन—आपकी प्रमाणसंख्या बढ़ जायेगी। तथा आपके यहाँ जो यह लिखा है—'प्रत्यक्षसे सम्बन्धको जाननेपर ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है' उसके विरुद्ध जायेगा।

वास्तवमें सर्वत्र अविनाभाव सम्बन्धकी प्रतीति तर्क प्रमाणसे ही होती है। तर्कके अगोचर कुछ भी नहीं है, जिससे शक्तिके अतीन्द्रिय होनेके कारण किसी हेतुके साथ उसके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति न होनेसे अनुमान प्रमाणसे शक्तिको न जाना जा सकता हो।

प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्तिका जो स्वरूप आपने कहा है कि प्रत्यक्षसे अग्निके दाहरूप कार्यको जानकर उसकी अन्यथानुपपत्तिसे अग्निमें दाहकत्व शक्तिकी कल्पना करना प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति है। इसमें अनुपपत्तिसे आपका क्या मतलब है ? दाहकत्व शक्तिके बिना स्फोट (फफोला) आदिका न होना, यदि अनुपपत्ति है ? तो 'दाहक शक्तिके बिना स्फोट आदि कार्य नहीं हो सकते' यह व्यतिरेकका ही कथन हुआ। और यह व्यतिरेक 'दाहक शक्तिके होनेपर स्फोट आदि कार्य होते हैं' इस अन्वयको प्रकट करता है। तथा अन्वय और व्यतिरेक हेतुके ही धर्म हैं। ऐसी स्थितिमें अर्थापत्ति अनुमानसे भिन्न कैसे हो सकती है ?

स्फोट आदि कार्यको देखकर उसके कारणकी सिद्धि अर्थापत्तिसे ही नहीं होती, अनुमानसे भी होती है। यथा—स्फोट आदि कारणपूर्वक होते हैं; क्योंकि कार्य हैं। जो कार्य होता है वह कारणपूर्वक ही होता है, जैसे धूम वगैरह। चूँकि स्फोट आदि कार्य हैं अतः कारणपूर्वक होने चाहिए।

उक्त कथनसे अनुमान और उपमानपूर्वक अर्थापत्तिका भी निषेध समझना चाहिए, क्योंकि उनमें भी प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्तिमें दिये गये दोष आते हैं। शब्दको नित्य सिद्ध करनेमें जो अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति बतलायी है वह भी ठीक नहीं है। शब्द अनित्य होते हुए भी वाचक हो सकता है इसका विचार श्रुतज्ञानके प्रकरणमें किया जायेगा।

श्रुत अर्थापत्तिका जो उदाहरण दिया है कि 'मोटा देवदत्त दिनमें नहीं खाता' इत्यादि, वह भी अनुमान ही है; क्योंकि उसमें कार्यसे कारणका ज्ञान किया गया है। रसायन आदिका सेवन किये बिना भी स्वयं अपनेमें तथा दूसरोंमें पाया जानेवाला मुटापा भोजनका कार्य है यह जानकर, जब वह यह सुनता है कि देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता फिर भी मोटा बना हुआ है तो उसके आधारपर वह निश्चय करता है कि देवदत्त रातमें खाता है; क्योंकि रसायन वगैरहका उपयोग न करते हुए भी तथा दिनमें न खाते हुए भी मोटा है।

इसी तरह जो अभावपूर्वक अर्थापत्ति कही है, वह भी अनुमान ही है क्योंकि 'घरमें नहीं है' इस हेतुसे जीवित चैत्रका बाहर होना सिद्ध होता है।

मीमांसक—अनुमानमें गम्य (साध्य जो जाना जाये) के बिना गमक (साधन, जिसके द्वारा जाना जाये) नहीं होता, जैसे अग्निके बिना धूम नहीं होता। किन्तु अर्थापत्तिमें गमकके बिना गम्य नहीं होता। जैसे चैत्रका बाहर रहना गम्य है, वह गम्य जीवित होते हुए घरमें अभावके बिना नहीं बनता। अतः अर्थापत्तिमें अनुमानसे विपरीतता पायी जाती है। इसलिए अर्थापत्ति अनुमानसे भिन्न प्रमाण है।

जैन—यह भी ठीक नहीं है। साध्यके अविनाभावी हेतुसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। यह अनुमानका लक्षण अर्थापत्तिमें भी पाया जाता है। अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थका साध्यके साथ अविनाभाव होता है। अतः वह अविनाभाव, जिसे अन्यथानुपपत्ति भी कहते हैं, दोनोंमें पाया जाता है, भले ही वह गमकका विशेषण हो, अथवा गम्यका विशेषण हो, केवल इतनेसे अर्थापत्ति और अनुमानमें भेद नहीं हो सकता है, अन्यथा पक्षधर्मत्वरहित अर्थापत्तिसे पक्षधर्मत्वसहित अर्थापत्तिको भी एक जुदा प्रमाण मानना पड़ेगा। तथा अर्थापत्तिमें अविनाभाव

गम्यका विशेषण होता है यह कथन भी प्रसिद्ध है। घरमें चैत्रका अभाव ही उसके बाहर होनेका गमक है और उसका अविनाभाव विशेषण हो सकता है। अविनाभावके गमकका विशेषण होनेमें कोई दोष नहीं है, जिसके भयसे अविनाभावको गम्यका विशेषण माना जाये ? तथा सभी अर्थापत्तियोंमें अविनाभावगम्यका विशेषण नहीं होता; क्योंकि प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्तिमें गमक स्फोट आदिका ही विशेषण अविनाभाव होता है। इसका कारण यह है कि उसमें गम्य शक्तिकी स्फोटके बिना अनुपपत्ति नहीं है; क्योंकि स्फोटके बिना भी शक्तिका सद्भाव माना गया है। अतः अर्थापत्ति अनुमानसे भिन्न नहीं है।

अनुमानके अवयव

अनुमानके पांच अवयव माने जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। साध्य विशिष्ट पक्षके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे, यह पर्वत अग्निवाला है। साधनके कहनेको हेतु कहते हैं। जैसे, 'क्योंकि धूमवाला है।' व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं। जैसे, जो-जो धूमवाला होता है वह-वह अग्निवाला होता है जैसे रसोईघर। और जो-जो अग्निवाला नहीं होता वह धूमवाला भी नहीं होता, जैसे तालाब। इनमें-से रसोईघर अन्वय दृष्टान्त है। जिसमें साधनके सद्भावमें साध्यका सद्भाव बतलाया जाता है, वह अन्वय दृष्टान्त होता है। और तालाब व्यतिरेक दृष्टान्त है। जिसमें साध्यके अभावमें साधनका अभाव दिखलाया जाये वह व्यतिरेक दृष्टान्त होता है। पक्षमें हेतुके दोहरानेको उपनय कहते हैं, जैसे—यह पर्वत भी उसी तरह धूमवाला है। नतीजा निकालकर प्रतिज्ञाके दोहरानेको निगमन कहते हैं जैसे, इसलिए अग्निवाला है। अनुमानका पूरा प्रयोग संक्षेपमें इस प्रकार है—यह पर्वत अग्निवाला है; क्योंकि धूमवाला है, जैसे रसोईघर, उसी तरह यह भी धूमवाला है, इसलिए अग्निवाला है।

जैन[1] न्यायमें इनमें-से दो ही अंगोंका प्रयोग आवश्यक माना गया है—एक प्रतिज्ञा और एक हेतुका। शेष तीनका प्रयोग आवश्यक नहीं माना गया। किन्तु अल्पबुद्धि जनोंको समझानेके लिए यदि आवश्यक हो तो शेष तीनोंका भी प्रयोग किया जा सकता है।

अनुमानके अवयवोंके विषयमें बौद्धका पूर्वपक्ष—

बौद्ध दर्शनमें केवल हेतुका प्रयोग ही आवश्यक माना जाता है। उसका

१. 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणमिति' ।—परीक्षामु० ३-३७।

कहना है कि पक्षका प्रयोग करना निष्प्रयोजन है। केवल हेतुके प्रयोग करनेसे ही गम्यमान पक्षमें साध्यका बोध स्वयं हो जाता है। शायद कोई कहें कि पक्षका प्रयोग करनेसे साध्यकी प्रतिपत्ति होती है अतः पक्षका प्रयोग निष्प्रयोजन नहीं है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि पक्षके कहनेसे साध्यकी प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। यदि है तो केवल पक्षके कहनेसे ही साध्य अर्थका बोध हो जाता है अथवा हेतुसहित पक्षके कहनेसे साध्यका बोध होता है। यदि केवल पक्षके कहनेसे साध्य अर्थका बोध होता है तो हेतुका कहना व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि प्रतिज्ञाके प्रयोग मात्रसे ही साध्य अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है। यदि हेतुसहित पक्षके कहनेसे साध्य अर्थकी प्रतिपत्ति होती है तो हेतुसे ही साध्य अर्थकी प्रतिपत्ति माननी चाहिए अतः प्रतिज्ञाका प्रयोग व्यर्थ है।

उत्तरपक्ष—जैनोंका[1] कहना है कि बौद्ध लोग पक्षके प्रयोगको क्यों अनावश्यक मानते हैं—क्या वह साध्यकी सिद्धिमें रुकावट डालता है? या प्रकरणसे ही पक्षके प्रयोगकी सिद्धि हो जाती है? अथवा वह प्रयोजनका साधक नहीं है, अथवा हेतुके प्रयोगकी सहायतासे प्रयोजनका साधक है, इसलिए अनावश्यक है? पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि जब वादी सम्यक् साधनके द्वारा स्वपक्षकी सिद्धि करता है तो पक्षका प्रयोग साध्यकी सिद्धिमें रुकावट नहीं डाल सकता। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रकरणसे जैसे पक्षके प्रयोगका ज्ञान स्वयं हो जाता है, वैसे ही हेतु वगैरहका ज्ञान भी स्वयं ही हो जाता है। अतः अनुमानमें हेतुका भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। शब्दको अनित्य सिद्ध करते समय 'कृतकत्व' आदि हेतु और घट आदि दृष्टान्त क्या प्रकरणसे स्वयं ज्ञात नहीं हो जाते? फिर भी यदि हेतुका प्रयोग किया जाता है तो पक्षने क्या अपराध किया है जो उसका प्रयोग नहीं करते?

'पक्षका प्रयोग प्रयोजनका साधक नहीं है' यह कथन भी असिद्ध है; क्योंकि पक्षका प्रयोग करनेसे सुनने-समझनेवालेको विशेष बोध होता है और यही पक्षके प्रयोगका प्रयोजन है। कोई श्रोता मन्दबुद्धि होता है और कोई तीव्र बुद्धि होता है। जो मन्द बुद्धि होता है, प्रतिज्ञाके प्रयोगके बिना उसे प्रकृत अर्थका विशेष ज्ञान नहीं होता। तथा नैयायिकके मतानुसार तो तीव्रबुद्धिके लिए भी अनुमानके पाँचों अवयवोंका प्रयोग जरूरी है, पाँचों अवयवोंका प्रयोग न किये जानेपर नैयायिकने निग्रह स्थान नामक दोष माना है। तीव्रबुद्धि मनुष्यको प्रतिज्ञाका प्रयोग किये बिना भी हेतुका प्रयोग करनेसे ही प्रकृत अर्थकी प्रतीति

१. न्या० कु० च०, पृ० ४३६।

हो जाती है, इसलिए यदि प्रतिज्ञाके प्रयोगको आप व्यर्थ समझते हैं तो हेतुका प्रयोग भी व्यर्थ है; क्योंकि तीव्रबुद्धि मनुष्यको किसी विश्वस्त मनुष्यके मुखसे 'वहाँ अग्नि है' इत्यादि प्रतिज्ञाको सुनकर ही प्रकृत अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है। उक्त कथनसे चौथा विकल्प भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि हेतुके प्रयोगकी सहायतासे ही प्रतिज्ञाका प्रयोग कार्यकारी है ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि कभी-कभी हेतुके प्रयोगके बिना ही केवल पक्षका ही प्रयोग करनेसे श्रोताको विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है।

यदि पक्षका कथन न किया जायेगा तो हेतुमें अनैकान्तिक आदि दोष भी हो सकते हैं; क्योंकि पक्षके प्रयोगके बिना हेतुके गुण-दोषोंका वास्तविक विचार नहीं किया जा सकता। जैसे यदि कोई धनुर्धर लक्ष्य-निर्देशके बिना बाण छोड़े तो दर्शकोंको उसका गुण भी दोष और दोष भी गुण प्रतीत होता है। किन्तु यदि वह लक्ष्यका निर्देश कर दे कि मैं अमुक वस्तुका लक्ष्य करके बाण छोड़ता हूँ तो उसका गुण और दोष ज्ञात हो जाता है कि यह धनुर्धर लक्ष्यवेधमें प्रवीण है अथवा नहीं। इसी तरह पक्षका निर्देश न करनेपर व्यामोहवश सच्चे हेतुमें भी यह आशंका उत्पन्न होनेसे कि यह हेतु साध्यमें ही रहता है अथवा साध्यके अभावमें भी रहता है, अनैकान्तिक दोष आता है, तथा 'यह हेतु विपक्षमें ही रहता होगा' ऐसी आशंका होनेसे 'विरुद्धता' नामक दोष आता है किन्तु पक्षका निर्देश कर देनेपर हेतुके गुण और दोषकी प्रतिपत्ति ठीक-ठीक हो जाती है अतः दोषकी आशंका नहीं रहती।

बौद्धोंका यह कहना कि यदि केवल पक्षसे ही साध्यका प्रतिपादन हो जाता है तो हेतुका प्रयोग व्यर्थ है, ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी कारण अकेला कार्य नहीं कर सकता। क्या अकेला बीज अंकुरको उत्पन्न कर सकता है? तथा यदि अकेला ही बीज अंकुरको उत्पन्न करनेमें समर्थ हो तो अन्य सहायक व्यर्थ नहीं हो जाते। यदि ऐसा माना जायेगा तो अकेले हेतुके साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ होनेपर भी बौद्ध जो हेतु प्रयोगके बाद उसका समर्थन करते हैं, वह भी व्यर्थ ठहरेगा।

बौद्ध—साध्यकी सिद्धिमें पक्ष हेतुकी अपेक्षा करता है, अतः वह साध्यकी सिद्धिमें कारण नहीं है।

जैन—तो बौद्धोंके द्वारा कल्पित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अर्थकी सिद्धिमें सविकल्पक प्रत्यक्षकी अपेक्षा करता है अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्षको भी अर्थकी सिद्धिमें कारण नहीं मानना चाहिए।

बौद्ध—निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे जाने हुए अर्थकी ही सविकल्पक व्यवस्था करता है ?

जैन—तो पक्षके द्वारा प्रतिपादित अर्थको ही हेतु कहता है और हेतुके द्वारा प्रतिपादित अर्थका समर्थन करता है ऐसा भी क्यों नहीं मान लेते ? हेतुकी अपेक्षा लेकर अर्थका कथन करना ही पक्षका स्वरूप है। 'पच्' धातुसे पक्ष शब्द बना है। अतः हेतुके द्वारा सुकुमार बुद्धि मनुष्योंके लिए जो अर्थको व्यक्त करता है वह पक्ष है।

यदि पक्षको नहीं माना जायेगा तो सपक्ष और विपक्षकी व्यवस्था कैसे बनेगी; क्योंकि सपक्ष और विपक्षकी व्यवस्था पक्षपूर्वक ही होती है। और सपक्ष तथा विपक्षके अभावमें हेतुका त्रैरूप्य नहीं बन सकता। अतः अनुमान प्रमाणका ही उच्छेद हो जायेगा।

यदि प्रतिज्ञाका प्रयोग अनुचित है तो शास्त्र वगैरहमें भी उसका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु शास्त्रमें प्रतिज्ञाका प्रयोग देखा जाता है।

बौद्ध—शास्त्रकार दूसरोंका कल्याण करनेके लिए शास्त्र रचते हैं, अतः वे अपने पाठकोंका ध्यान रखते हैं। इसलिए शास्त्र आदिमें प्रतिज्ञाका प्रयोग करना सयुक्तिक है।

जैन—तो वादमें भी प्रतिज्ञाका प्रयोग होना चाहिए; क्योंकि वादमें भी वाद करनेवाले दूसरोंका उपकार करनेके लिए ही प्रवृत्त होते हैं। अतः हेतुकी तरह पक्षका प्रयोग भी आवश्यक है।

अनुमानके भेद—

[1]अनुमानके दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। परोपदेशके बिना स्वयं ही जो साधनसे साध्यका ज्ञान होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं और परोपदेशसे (दूसरेके वचनोंसे) जो साधनसे साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है।

आगम या श्रुत प्रमाण

परोक्ष प्रमाणका अन्तिम भेद आगम प्रमाण है। जैन आगमिक परम्परामें इसका प्राचीन नाम श्रुत है। जैसे जैन आगमिक परम्पराका मतिज्ञान जैन तार्किक परम्परामें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके नामसे अभिहित हुआ, वैसे ही श्रुत भी आगमके नामसे अभिहित हुआ।

---

१. 'तदनुमानं द्वेधा ॥५२॥ स्वार्थपरार्थभेदात्' ॥५३–परी० मु०

आगमिक श्रुतकी चर्चा करनेसे पूर्व हम दार्शनिक आगम प्रमाणकी ओर आते हैं। जैन आगम या श्रुत प्रमाण एक तरहसे दर्शनान्तरोंके शाब्दप्रमाणका ही स्थानापन्न है यद्यपि दोनोंमें अन्तर भी है जो आगे स्पष्ट किया जायेगा, फिर भी शाब्दप्रमाणकी तरह आगम या श्रुतमें भी शब्दकी मुख्यता है; क्योंकि श्रुतका अर्थ होता है 'सुना हुआ' अर्थात् सुनकर जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। दूसरे शब्दोंमें शब्दके निमित्तसे जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। शाब्दप्रमाणका भी लगभग ऐसा ही आशय है अतः आगम या श्रुतप्रमाणमें शब्दकी मुख्यता होनेसे शब्द और शब्दसे होनेवाले ज्ञानके सम्बन्धमें जो विवाद हैं उनकी चर्चा प्रथम की जाती है। सबसे प्रथम तो वे तार्किक आते हैं जो शाब्दप्रमाणको नहीं मानते। वैशेषिक तो अनुमान प्रमाणमें उसका अन्तर्भाव करता है। बौद्धोंका कहना है कि शब्द प्रमाण ही नहीं है; क्योंकि शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा शब्दका अर्थ विधिरूप न होकर अन्यापोह रूप है। मीमांसक शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध मानता है तथा शब्दको भी नित्य मानता है। इसीसे वह वेदको अनादि अतएव अपौरुषेय मानता है। तथा शब्दका अर्थ सामान्यमात्र मानता है। अर्थात् गोशब्द गोव्यक्तिको न कहकर गोत्व सामान्यको कहता है। वैयाकरणोंका कहना है कि वर्णध्वनि क्षणिक है। अतः उससे अर्थका बोध नहीं हो सकता। इसलिए वे एक स्फोट नामका नित्य तत्त्व मानते हैं। उसके अनुसार वर्णध्वनिसे स्फोटकी अभिव्यक्ति होती है और उससे अर्थका बोध होता है। वैयाकरणोंका यह भी मत है कि संस्कृत शब्दोंमें ही अर्थका बोध करानेकी शक्ति है, पाली, प्राकृत आदि देशभाषाओंके शब्दोंमें वह शक्ति नहीं है। किन्तु जैनदर्शन उक्त सभी मान्यताओंका विरोधी है। अतः जैन नैयायिकोंने उक्त सभी मतोंकी समीक्षा की है। चूंकि श्रुत या आगमप्रमाणका मूल शब्द है अतः शब्दसम्बन्धी उक्त मान्यताओंकी समीक्षा आगे की जाती है। उसके बाद श्रुतप्रमाणका विवेचन किया जायेगा।

वैशेषिकोंका पूर्वपक्ष—वैशेषिक और बौद्ध श्रुत अथवा शब्दप्रमाणको नहीं मानते। वैशेषिकों[1] का कहना है कि शब्दप्रमाण अनुमान प्रमाणसे भिन्न नहीं है; क्योंकि दोनोंका विषय एक है तथा दोनों एक ही सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं। इसका विशेष इस प्रकार है—शब्द और अनुमान दोनों ही सामान्यग्राही हैं। तथा दोनों ही सम्बद्ध अर्थका ज्ञान कराते हैं। शायद कहा जाये कि शब्द असम्बद्ध अर्थको कहता है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा होनेसे बड़ी

१. प्रश० भा०, पृ० ५७६। प्रश० व्योम०, पृ० ५७७। प्रश० कन्द०, पृ० २१४।

गड़बड़ी पैदा हो जायेगी। अतः शब्द सम्बद्ध अर्थको ही कहता है और सम्बद्ध अर्थका ही ज्ञान करानेसे शब्दमें और लिंगमें कोई भेद नहीं रहता। इसी तरह दोनों एक ही सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं; क्योंकि जैसे अनुमानमें साध्य और साधनके सम्बन्धके स्मरणकी अपेक्षासे साधनसे साध्यका ज्ञान होता है वैसे ही वाच्य और वाचकके सम्बन्धके स्मरणकी अपेक्षासे शब्द अर्थका ज्ञान कराता है। तथा जैसे अनुमानमें अन्वयव्यतिरेक रहता है वैसे ही शब्दमें भी अन्वयव्यतिरेक रहता है। क्योंकि लोकमें जो शब्द जिस अर्थमें देखा जाता है वह उसका वाचक होता है और जिस अर्थमें नहीं देखा जाता उसका वाचक नहीं होता। तथा शब्दमें भी पक्षधर्मता रहती है। जैसे, अमुक शब्द अर्थवाला है, शब्द होनेसे। सारांश यह है कि जैसे प्रत्यक्षसे धूम देखकर अग्निका ज्ञान होता है। वैसे ही शब्द सुनकर उसके अर्थका भी ज्ञान होता है। शायद कहा जाये कि लिंगसे साध्यका ज्ञान करनेमें दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभ्यस्त विषयमे लिंग और शब्द दोनों ही दृष्टान्तकी अपेक्षाके बिना ही साध्य और अर्थका ज्ञान कराते हैं। तथा शब्द केवल वक्ताकी इच्छामें ही[1] प्रमाण है, बाह्य अर्थमें प्रमाण नहीं है; क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष पाया जाता है। जैसे 'मेरी अँगुलिके अग्र भागपर सौ हाथी बैठे हैं' इस प्रकारके शब्द बाह्य अर्थमें प्रमाण नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसा होना प्रतीतिविरुद्ध है। और जब शब्द बाह्य अर्थमें प्रमाण न होकर विवक्षामें ही प्रमाण है तो उसमें और लिंगमें कोई भेद नहीं रहता।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना[2] है कि शब्द और अनुमान प्रमाणको एक बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि दोनोंका विषय एक नहीं है। शब्दका विषय केवल अर्थ है, किन्तु अनुमानका विषय साध्यधर्मसे युक्त धर्मी है। तथा यदि इस तरह विषयका अभेद होनेसे प्रमाणोंमें अभेद माना जायेगा तब तो प्रत्यक्ष और अनुमानमें भी अभेदका प्रसंग आयेगा; क्योंकि सभी प्रमाण सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको विषय करते हैं।

इसी तरह सम्बद्ध अर्थका ज्ञान करानेके कारण शब्द अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष भी सम्बद्ध अर्थका ही ज्ञान कराता है, अतः वह भी अनुमान हो जायेगा। शायद कहा जाये कि यद्यपि प्रत्यक्ष भी सम्बद्ध अर्थका ही ज्ञान कराता है, किन्तु उसकी सामग्री अनुमानसे भिन्न है अतः वह अनुमानसे जुदा ही प्रमाण है। तो फिर शब्द अनुमानसे भिन्न क्यों नहीं है; क्योंकि शब्दप्रमाणकी सामग्री

१. प्रश० कन्द०, पृ० २१५।

२. न्या० कु० च०, ५३२–५३६।

अनुमानप्रमाणसे भिन्न है। अतः अभिन्न विषय होनेसे शब्दको अनुमान मानना उचित नहीं है।

इसी तरह अभिन्न सामग्री होनेसे भी शब्दको अनुमान मानना उचित नहीं है; क्योंकि जिस सामग्रीसे अनुमान उत्पन्न होता है वह सामग्री शब्दमें सम्भव नहीं है। अनुमानकी सामग्री है – पक्षधर्मता, सपक्ष सत्व और विपक्षमें असत्व। यह सामग्री शब्दमें सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ कोई धर्मी नहीं है।

इसी तरह शब्द और अर्थमें अन्वय और व्यतिरेक भी नहीं है। जैसे, जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है, इसी तरह जहाँ शब्द होता है वहाँ अर्थ अवश्य होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि शब्द तो मुखमें रहता है और अर्थ (वस्तु) भूमिपर रहता है। तथा व्यवहारी पुरुष भी ऐसा नहीं मानते। क्योंकि जहाँ-जहाँ 'पिण्डखजूर' शब्द सुना जाता है, वहाँ पिण्डखजूरोंका अस्तित्व कौन व्यवहारी मानता है। इसी तरह 'जिस कालमें शब्द हो उस कालमें उसका अर्थ अवश्य हो' ऐसी बात भी नहीं है। रावण और शंख चक्रवर्ती शब्द आज भी वर्तमान हैं, किन्तु रावण कभीका मर चुका और शंख चक्रवर्ती भविष्यमें होगा। अतः शब्द और अर्थमें अन्वय नहीं है और जब अन्वय नहीं है तो व्यतिरेक भी नहीं है; क्योंकि अन्वयपूर्वक ही व्यतिरेक होता है। 'जो शब्द जिस अर्थमें देखा जाता है वह उसका वाचक होता है और जिस अर्थमें नहीं देखा जाता उसका वाचक नहीं होता।' इस प्रकारका अन्वयव्यतिरेक तो हम भी मानते हैं, किन्तु इस प्रकारका अन्वयव्यतिरेक होनेसे ही शब्द अनुमान नहीं हो सकता। इस प्रकारका अन्वयव्यतिरेक तो प्रत्यक्षमें भी पाया जाता है, क्योंकि जहाँ घट होता है वहाँ उसका प्रत्यक्ष भी होता है और जहाँ घट नहीं होता वहाँ उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष भी अनुमान हो जायेगा।

'शब्द केवल वक्ताकी इच्छा (विवक्षा) में ही प्रमाण है बाह्य अर्थमें प्रमाण नहीं है' ऐसा कहना भी असंगत है। यदि शब्दका विषय केवल विवक्षा ही माना जायेगा तो उससे बाह्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति आदि नहीं हो सकती क्योंकि बाह्य अर्थ आपके मतसे शब्दका विषय नहीं है। किन्तु ऐसा मानना प्रतीतिविरुद्ध है, शब्दों-से बाह्य अर्थकी प्रतीति, बाह्य अर्थमें प्रवृत्ति तथा बाह्य अर्थकी प्राप्ति बच्चों तकको होती है। अतः बाह्य पदार्थ ही शब्दका विषय है। दूसरे, विवक्षासे आपका क्या अभिप्राय है? शब्द उच्चारणकी इच्छाका नाम विवक्षा है, अथवा अमुक शब्दसे अमुक अर्थको कहनेका अभिप्राय? प्रथमपक्षमें वक्ता और श्रोताकी शास्त्ररचनामें तथा शास्त्र सुननेमें प्रवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि कौन समझदार

मनुष्य वक्ताकी इच्छा मात्रको जाननेके लिए शास्त्र सुनना पसन्द करेगा। तथा सार्थक और निरर्थक सभी शब्द समान हो जायेंगे; क्योंकि सभी शब्द उच्चारणकी इच्छा मात्रको ही कह सकेंगे। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि तोता-मैना आदि उक्त अभिप्रायसे शब्दका उच्चारण नहीं करते। अतः शब्दको केवल विवक्षामें प्रमाण मानना उचित नहीं है। किन्तु शब्द वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न बाह्य अर्थका वाचक है, ऐसा माने बिना सच और झूठकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतः शब्द अनुमान प्रमाण नहीं है; क्योंकि उसका विषय तथा उसकी उत्पादक सामग्री अनुमानसे भिन्न है।

बौद्धोंका पूर्वपक्ष—बौद्धोंका कहना[1] है कि 'शब्दका अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भाव नहीं होता' यह कहना उचित ही है यदि शब्दप्रमाण होता तो उसका अनुमानमें अन्तर्भाव करनेका प्रयास ठीक था, किन्तु शब्द तो प्रमाण ही नहीं है और उसके अप्रमाण होनेका कारण यह है कि शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्द और अर्थका कोई सम्बन्ध है तो वह तादात्म्य सम्बन्ध है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध है? तादात्म्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता; क्योंकि शब्द भिन्न स्थानमें रहता है और अर्थ भिन्न स्थानमें रहता है। तथा यदि शब्द और अर्थका तादात्म्य माना जायेगा तो छुरा शब्दका उच्चारण करते ही मुख चिर जायेगा और लड्डू शब्द कहते ही मुख लड्डूसे भर जायेगा; क्योंकि शब्द और अर्थ एक ही है। इसी तरह शब्द और अर्थमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है; क्योंकि अर्थके अभावमें भी शब्दकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः जब शब्द बाह्य अर्थका ज्ञान नहीं करा सकते तब उन्हें प्रमाण कैसे माना जा सकता है। केवल विकल्प[2] वासनासे ही शब्दोंका जन्म होता है तभी तो वे ऐसे-ऐसे ज्ञान कराते हैं, जिनमें बाह्य अर्थकी गन्ध भी नहीं पायी जाती। जैसे—अंगुलिके अग्रभागमें सौ हाथी हैं।'

शायद कहा जाये कि इस प्रकारके ज्ञान करानेमें शब्द कारण नहीं है किन्तु पुरुषका दोष ही कारण है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि दोषी मनुष्य यदि गूँगा हो तो इस प्रकारका असत्य ज्ञान नहीं करा सकता। और हृदयमें कलुषता नहीं होनेपर भी यदि कोई आप्त पुरुष इस प्रकारका वाक्य कह दे तो सुननेवालेको तुरन्त असत्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतः यह शब्दोंकी ही महिमा है, वक्ता पुरुषके दोषोंका इसमें कोई अपराध नहीं है, शायद आप कहें कि आप्त पुरुष इस प्रकारके निरर्थक वाक्य नहीं बोल सकता और जो ऐसे

१. प्रमाण वा० टी० ३ । २१२ । तत्त्वसंग्रह, पृ० ४४० ।
२. प्रमाण वा० टी० १ । २८८ ।

वाक्य बोलता है वह आप्त नहीं है। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि निर्दोष वक्ताके द्वारा इस प्रकारके वाक्योंका (अंगुलिके अग्रभागमें सौ हाथी रहते हैं) प्रयोग होनेपर भी उन्हें सुनकर श्रोताको अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न न होता तो यह माना जा सकता था कि इस प्रकारके अयथार्थ ज्ञान करानेका कारण वक्ताका दोष है। किन्तु जब आप कहते हैं कि आप्त पुरुष इस प्रकारके वाक्योंका प्रयोग नहीं करता तब तो हमें यह सन्देह बना ही रहता है कि शब्दोंके अभावके कारण अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता अथवा दोषोंके अभावके कारण अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। दूसरे, इस प्रकारके वाक्योंका प्रयोक्ता आप्त भी हो सकता है; क्योंकि इस प्रकारके शब्दोंका उच्चारण करने-पर भी उसके अन्तरंगमें दोषोंके न होनेसे उसके आप्त होनेमें कोई विरोध नहीं आता। आप्त भी किसीको उपदेश देते हुए कह सकता है कि 'मेरी अंगुलिके नोकमें सौ हाथी रहते हैं।' इस प्रकारके वाक्य नहीं बोलना चाहिए। अतः यह शब्दोंकी ही महिमा है, दोषोंकी नहीं। अतः विकल्प वासनासे शब्दोंका जन्म होता है और शब्दोंसे विकल्पोंका जन्म होता है। शब्द अर्थको छूता भी नहीं है।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना[1] है कि शब्द और अर्थमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध न होनेपर भी योग्यता रूप सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे चक्षुका घटादि-के रूपके साथ तादात्म्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं होनेपर भी योग्यता रूप सम्बन्ध देखा जाता है।

बौद्ध—यदि योग्यता रूप सम्बन्धसे शब्द अर्थका वाचक है तो अर्थ भी शब्दका वाचक क्यों नहीं होगा।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियाँ निश्चित होती हैं। जैसे ज्ञानमें ज्ञापक शक्ति और ज्ञेयमें ज्ञाप्य शक्ति नियत है वैसे ही शब्दमें प्रतिपादक शक्ति और अर्थमें प्रतिपाद्य शक्ति प्रतिनियत है। अर्थात् शब्दमें कहनेकी शक्ति है और अर्थमें कहे जानेकी शक्ति है। इसीका नाम योग्यता है।

बौद्ध—यदि शब्द योग्यताकी वजहसे अर्थको कहता है तो जन्मसे ही पृथ्वीके गर्भमें पले हुए युवकको भी शब्द सुनकर अर्थका बोध होना चाहिए।

जैन—ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि 'इस शब्दका यह अर्थ वाच्य है और इस अर्थका वाचक अमुक शब्द है' इस प्रकारका संकेतज्ञान जिसे होता

---

१. न्या० कु० च०, पृ० ५३८।

है उसीको शब्द अपने अर्थको कहता है, और जिसे इस प्रकारका संकेतज्ञान नहीं होता उसे शब्द सुनकर भी अर्थका ज्ञान नहीं होता है। अन्यथा उस युवकको धूम देखकर अग्निका भी ज्ञान हो जाना चाहिए।

बौद्ध—जिस पुरुषमें साध्य और साधनके अविनाभाव सम्बन्धको जाना है, उसे ही साधनको देखकर साध्यका ज्ञान होता है, सबको नहीं हो सकता।

जैन—तो जिसने शब्द और अर्थके संकेतको जाना है उसीको शब्द सुनकर वाच्य अर्थका बोध होता है ऐसा मानना चाहिए।

बौद्ध—शब्द और अर्थका संकेत तो पुरुष अपनी इच्छानुसार करते हैं, किन्तु वस्तुकी व्यवस्था पुरुषकी इच्छानुसार होना उचित नहीं है। ऐसा होनेसे बड़ी गड़बड़ी उपस्थित होगी। तब तो अर्थ भी वाचक और शब्द भी वाच्य क्यों नहीं हो जायेगा; क्योंकि पुरुषकी इच्छा तो निरंकुश है?

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे धूम और अग्निका अविनाभाव सम्बन्ध स्वाभाविक है फिर भी उसके ग्रहण करनेके लिए तर्क आदिकी आवश्यकता पड़ती है। वैसे ही शब्द और अर्थमें वाच्य-वाचकशक्तिरूप सम्बन्ध स्वाभाविक ही है, केवल उसको जाननेके लिए संकेत ग्रहणकी आवश्यकता होती है। यदि इस स्वाभाविक सम्बन्धमें व्यतिक्रम किया जायेगा तो दीपक और घटमें जो प्रकाश्य-प्रकाशक शक्ति है, उसमें भी व्यतिक्रमकी आपत्ति खड़ी होगी। और ऐसा होनेपर दीपक प्रकाश्य और घट प्रकाशक हो जायेगा। यदि ऐसा होना प्रतीतिविरुद्ध है तो शब्दका वाच्य और अर्थका वाचक होना भी प्रतीतिविरुद्ध है।

बौद्ध—शब्दमें एक अर्थका ज्ञान करानेकी स्वाभाविक शक्ति है अथवा अनेक अर्थका ज्ञान करानेकी स्वाभाविक शक्ति है? यदि एक अर्थका ही ज्ञान करानेकी शक्ति है तो जैसे धूमसे कभी भी अग्निके सिवा अन्यका ज्ञान नहीं हो सकता वैसे ही सैकड़ों संकेत करनेपर भी शब्द अपने नियत अर्थका ही बोध करायेगा, उसके सिवा अन्य अर्थका बोध नहीं करा सकता। और यदि शब्दमें अनेक अर्थोंका ज्ञान करानेकी स्वाभाविक शक्ति है तो उससे एक साथ अनेक अर्थोंका ही बोध होगा, प्रतिनियत अर्थका बोध नहीं होगा।

जैन—यह चर्चा भी ठीक नहीं है, सब शब्दोंमें सब अर्थोंको कहनेकी शक्ति होती है, किन्तु प्रतिनियत संकेत कर लेनेसे प्रत्येक शब्द प्रतिनियत अर्थका ही प्रतिपादन करता है। एक ही शब्दका विभिन्न देशोंमें विभिन्न अर्थोंमें संकेत

पाया जाता है। जैसे मालवेमें कर्कटिका (ककड़ी) शब्दका अर्थ फलविशेष होता है और गुजरातमें उसका अर्थ 'योनि' होता है। देखा जाता है कि सर्वत्र रूपको जाननेमें समर्थ चक्षु भी पासमें अन्धेरा होनेपर दूरवर्ती रूपको जानती है, दूरमें अन्धेरा होनेसे समीपवर्ती रूपको जानती है, विशिष्ट अंजन लगा लेनेसे अन्धकारमें स्थित वस्तुको भी जान लेती है, किन्तु आँखमें काँच-कामला रोग होनेसे पीत रंगके अभावमें भी श्वेत शंखको पीत रूपसे जानती है। अतः जैसे अनेक रूपोंको जाननेमें समर्थ होते हुए भी चक्षु प्रतिनियत सहायकको वजहसे प्रतिनियत रूपका ही ज्ञान कराती है वैसे ही अनेक अर्थोंको कहनेकी शक्ति होते हुए भी शब्द प्रतिनियत संकेतकी वजहसे प्रतिनियत अर्थका ही प्रतिपादन करता है।

बौद्ध—जब चक्षुकी तरह शब्दका अर्थके साथ योग्यता रूप सम्बन्ध है तो चक्षुकी ही तरह शब्द संकेत ग्रहणके बिना ही अर्थका ज्ञान क्यों नहीं कराता?

जैन—शब्द ज्ञापक है अतः वह संकेतकी अपेक्षासे ही अर्थका ज्ञान कराता है; क्योंकि जो ज्ञापक होता है वह ज्ञापक और ज्ञाप्यके सम्बन्धको जिसने पहलेसे जान लिया है उस पुरुषको ही ज्ञाप्यका ज्ञान कराता है; जैसे धूम। इसी तरह शब्द भी ज्ञापक है। किन्तु चक्षु ज्ञापक नहीं है, कारक है, अतः वह सम्बन्ध ग्रहणके बिना ही रूपादिमें ज्ञानको उत्पन्न करता है। जो स्वयं प्रतीयमान होकर अज्ञात अर्थको प्रतीतिमें हेतु होता है उसे ज्ञापक कहते हैं। यह बात शब्दमें ही है, चक्षुमें नहीं है। अतः शब्द संकेतग्राही पुरुषको ही अपने अर्थका ज्ञान कराता है। शक्ति तो स्वाभाविक है। अतः जैसे रूपके प्रकाशनकी चक्षुमें शक्ति है, वैसे ही अर्थके प्रकाशनकी शक्ति शब्दमें है।

अतः बौद्धोंका यह कहना कि 'शब्द अर्थको नहीं छूता', ठीक नहीं है, क्योंकि आप्तका शब्द अर्थको स्पर्श नहीं करता, अथवा अनाप्तका शब्द अर्थको स्पर्श नहीं करता या शब्दमात्र अर्थको स्पर्श नहीं करता? प्रथम पक्षमें प्रत्यक्ष बाधा है; क्योंकि यदि कोई आप्त (प्रामाणिक) पुरुष यह कहे कि 'नदीके किनारे फल हैं' और उसको सुनकर कोई नदीके किनारे जाये तो उसे अवश्य फल मिल जाते हैं। यदि अनाप्त (अप्रामाणिक) पुरुषके शब्द अर्थको स्पर्श नहीं करते तो सब शब्दोंको अर्थको न छूनेवाला क्यों कहते हो। यदि ऐसा कहोगे तो काच-कामल रोगी मनुष्यका प्रत्यक्ष अर्थका ठीक ज्ञान नहीं कराता, इसलिए निर्दोष चक्षुसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्षको भी मिथ्या मानना पड़ेगा। इसीसे तीसरा विकल्प भी खण्डित हुआ समझना चाहिए; क्योंकि आप्त और अनाप्त पुरुषोंके द्वारा उच्चारित शब्दोंके सिवाय कोई शब्द मात्र नहीं होता।

बौद्ध—आप्त पुरुष भी यदि कहे कि 'मेरी अँगुलीकी नोकपर सैकड़ों हाथी बैठते हैं। तो सुननेवालेको मिथ्या ज्ञान होता है। अतः इस प्रकारका मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करना शब्दोंका काम है। इसमें वक्ताके दोष कारण नहीं हैं ?

जैन—आप्त पुरुष इस प्रकारके निरर्थक वाक्य नहीं बोलते। यदि वे दूसरोंको इस प्रकारके वाक्य बोलनेका निषेध करते हुए कहते हैं कि मेरी अँगुलीकी नोकपर सौ हाथी बैठते हैं' ऐसा वाक्य नहीं बोलना चाहिए तो उनका वैसा कहना उचित ही है। अतः आप्तके द्वारा कहे हुए शब्द अयथार्थ नहीं हो सकते। इसलिए 'शब्द स्वयं अर्थका स्पर्श नहीं करते' ऐसा मानना गलत है, किन्तु पुरुषके दोषोंकी वजहसे ही शब्द अयथार्थ होते हैं।

बौद्ध—पुरुष गुणवान् हो अथवा सदोष हो, उसका काम तो शब्दोंका उच्चारण मात्र कर देना है। अर्थका ज्ञान तो शब्दोंसे ही होता है, अतः यदि ज्ञान विपरीत होता है तो इसमें शब्दोंका ही अपराध है, वक्ताके दोषोंका नहीं ?

जैन—तब तो गुणवान् वक्ताके शब्दोंसे जो सत्य अर्थका ज्ञान होता है उसे भी शब्दका ही कार्य मानना होगा, वक्ताके गुणोंका नहीं। और ऐसी स्थितिमें शब्दको सर्वथा अयथार्थ मानना उचित नहीं होगा।

अतः चक्षुकी तरह अर्थमात्रको प्रकाशित करना ही शब्दका स्वरूप है। और यथार्थ अथवा अयथार्थका प्रकाशन करना गुणों और दोषोंका काम है। जैसे निर्मलता आदि गुणोंके होनेपर चक्षु वस्तुका ठीक-ठीक प्रकाशन करते हैं और काच-कामल आदि दोषोंके होनेपर कुछका कुछ दिखलाते हैं, इसी तरह शब्द भी वक्ताके गुणों और दोषोंकी अपेक्षासे सत्य अथवा असत्य वस्तुका कथन करता है। अतः अर्थका ज्ञान करानेमें निमित्त होनेसे प्रत्यक्ष आदिकी तरह ही शब्द भी प्रमाण है। शब्दके द्वारा ही स्वपक्षका साधन और परपक्षका निराकरण किया जाता है, तथा उसीके द्वारा समस्त तत्त्वोंमें उत्पन्न हुए विवादको दूर किया जाता है।

मीमांसकका पूर्वपक्ष—मीमांसक[1]का कहना है कि शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध है यह तो ठीक है, किन्तु विचारणीय यह है कि शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य है अथवा अनित्य है। अनित्य मानना ठीक नहीं है; क्योंकि अनित्य सम्बन्धका करना शक्य नहीं है। 'यह संज्ञा इस अर्थकी है' इस प्रकारका सम्बन्ध

१. न्या० कु० च०, पृ० ५४३।

प्रत्येक पुरुषके प्रति किया जाता है अथवा प्रत्येक शब्दको लेकर किया जाता है अथवा प्रत्येक अर्थको लेकर किया जाता है ?

प्रथम पक्षमें पुरुषके द्वारा प्रत्येक पुरुषके प्रति किया जानेवाला शब्दार्थ सम्बन्ध एक ही है अथवा अनेक है ? यदि वह एक है तो कृतक (किया हुआ) कैसे है ? पहले भी उसका सद्भाव था अतः वह अकृतक ही ठहरता है। क्योंकि सत् वस्तु-का पुरुषसे जन्म मानना युक्त नहीं है। हाँ, पुरुषके व्यापारसे सत्की अभिव्यक्ति ही हो सकती है। यदि पुरुषके द्वारा प्रत्येक पुरुषके प्रति किया जानेवाला शब्दार्थ-सम्बन्ध अनेक है तो 'गो' शब्दका अर्थ 'गलकम्बलवाला' है और 'अश्व' शब्दका अर्थ 'अयालवाला' है इस प्रकार एक अर्थकी संगति कैसे हो सकेगी ?

तथा प्रत्येक पुरुषके प्रति शब्दार्थका कर्ता एक ही है अथवा[1] अनेक है ? यदि एक है तो वह देशान्तरमें रहनेवाले पुरुषोंके प्रति शब्द और अर्थका सम्बन्ध कैसे करता है ? यदि उन-उन देशोंमें जाकर करता है तो पूरी आयु बिता देनेपर भी वह इस कामको नहीं कर सकता। शायद कहा जाये कि एक पुरुष निकटवर्ती बहुत-से प्रदेशोंमें शब्द और अर्थके सम्बन्धका निर्धारण करता है। फिर उन प्रदेशों-के पुरुष अन्य प्रदेशोंमें जाकर वही काम करते हैं। इस तरह सर्वत्र व्यवहार हो जाता है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि कुछ प्रयोजन होनेसे वे अन्य देशोंके पुरुष सर्वत्र क्यों जायेंगे ? अतः जहाँ वे नहीं जायेंगे वहीं व्यवहार नहीं होगा।

यदि शब्द और अर्थके सम्बन्धको निर्धारण करनेवाले अनेक पुरुष हैं तो सब देशों और कालोंमें, शब्दार्थसंकेतमें[2] एकरूपता नहीं हो सकती। शायद कहा जाये कि शब्दार्थसंकेतके कर्ता सब पुरुष एक जगह एकत्र होकर और परस्परमें विचार करके एक प्रकारका ही संकेत निर्धारित करते हैं, इसलिए संकेतोंमें एक-रूपता रहती है। किन्तु ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्रतापूर्वक शब्दार्थसंकेत करनेवाले पुरुष, मिलकर संकेतका निर्धारण क्यों करेंगे ? अतः पहला पक्ष ठीक नहीं है। यदि प्रत्येक शब्दका संकेत ग्रहण किया जाता है तो प्रत्येक शब्दका उच्चारण करके किया जाता है अथवा बिना उच्चारण किये ही किया जाता है ? बिना उच्चारण किये तो किया नहीं जा सकता, अन्यथा वह संकेत निराश्रय हो जायेगा। और यदि प्रत्येक शब्दका उच्चारण करके संकेत ग्रहण किया जाता है तो पुरुषकी सम्पूर्ण आयुमें भी इस प्रकारका सम्बन्ध करना शक्य

१. शाबरभा० १।१।५।
२. मी० श्लो०, पृ० ६४४।

नहीं है। इसी तरह प्रत्येक अर्थका सम्बन्ध कर सकना भी अशक्य है; क्योंकि अर्थों-का अन्त नहीं है तथा वे दूर-दूर देशोंमें फैले हुए हैं। अतः शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य ही मानना चाहिए। उसकी प्रतीति तीन प्रमाणोंसे होती है। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको, जिसने शब्द और अर्थका सम्बन्ध ग्रहण कर लिया है, कहता है – देवदत्त ! डण्डेसे सफेद गौको भगाओ। तो पासमें खड़ा हुआ दूसरा मनुष्य जिसने शब्द और अर्थका सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया है, श्रवणेन्द्रियसे शब्दको सुनता है और चक्षुके द्वारा अर्थका प्रत्यक्ष करता है। वह देखता है कि उक्त वाक्यको सुनते ही देवदत्त नामक पुरुष डण्डा लेकर सफेद गौको भगाता है अतः वह अनुमानसे जान लेता है कि इन शब्दोंका यह अर्थ है। उसके पश्चात् अन्यथा[1]-नुपपत्तिसे वह यह निश्चय करता है कि इन शब्दोंमें इस प्रकारके अर्थको कहनेकी शक्ति न होती तो शब्दोंको सुनते ही देवदत्त ऐसा न करता।

अतः इन शब्दोंमें इस अर्थको कहनेकी शक्ति है। इस प्रकार शब्द और अर्थके नित्य सम्बन्धकी प्रतीति प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाणसे होती है।

उत्तरपक्ष—जैनोंका[2] कहना है कि विचार करनेपर शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध नहीं बनता। इसका विशेष इस प्रकार है – शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध स्वभावसे ही है अथवा सम्बन्धियोंके नित्य होनेसे उनका सम्बन्ध भी नित्य है ? यदि स्वभावसे ही है तो इस नित्य सम्बन्धको सदा सबके प्रति अर्थका प्रका-शन करना चाहिए। शायद कहे कि संकेतके द्वारा व्यक्त होनेपर ही यह नित्य सम्बन्ध शब्दार्थका प्रकाशक होता है, तो फिर यह नित्य एकरूप तो नहीं रहा। तब तो व्यक्त और अव्यक्त रूपसे उसके भेद हो जाते हैं; क्योंकि नित्य एकरूप वस्तु यदि व्यक्त है तो सर्वदा व्यक्त ही रहेगी। दूसरे, यदि संकेतके द्वारा व्यक्त होनेपर ही नित्य सम्बन्ध शब्दार्थका प्रकाशक है तो संकेत तो पुरुषाधीन है। ऐसी स्थितिमें वह पुरुष अतीन्द्रिय ज्ञानसे रहित होनेके कारण वेदमें विपरीत संकेत भी कर सकता है। और ऐसा होनेसे वेद अप्रमाण ठहरेगा। अतः सम्बन्ध स्वभावसे नित्य नहीं है। सम्बन्धियोंके नित्य होनेसे भी सम्बन्ध नित्य नहीं है; क्योंकि नित्य सम्बन्धी कौन है – शब्द है, अथवा अर्थ है, अथवा दोनों हैं ? शब्द तो नित्य नहीं है, आगे शब्दकी नित्यतापर विचार किया जायेगा। अर्थ भी नित्य नहीं है; क्योंकि घटादि अर्थोंकी अनित्यता प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है।

मीमांसक—शब्दका अर्थ सामान्य है। और सामान्य नित्य है, इसलिए सामान्यके आश्रित सम्बन्ध भी नित्य है।

---

१. मी० श्लो०, सम्बन्ध०, १४०-१४१

२. न्या० कु० च०, पृ० ५४६।५५०। प्रमेयक० मा० ४०४-४२७।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है, शब्दका अर्थ सामान्य नहीं है, किन्तु सामान्यवान् है इसका आगे समर्थन करेंगे।

शब्द और अर्थ – दोनोंको नित्य माननेपर उभय पक्षमें दिये गये दोषोंका प्रसंग आता है, अतः सम्बन्धियोंके नित्य होनेसे भी सम्बन्ध नित्य नहीं है। जरा देरके लिए शब्दार्थसम्बन्धको नित्य मान भी लिया जाये तो यह प्रश्न पैदा होता है कि वह सम्बन्ध कैसे जाना जाता है—इन्द्रिय प्रत्यक्षसे अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे अथवा अनुमानसे। प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य स्वभावका किसी भी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। यदि वह अतीन्द्रिय है तो उससे अर्थका ज्ञान कैसे हो सकता है; क्योंकि जो अज्ञात है वह ज्ञापक (दूसरेका ज्ञान करानेवाला) नहीं हो सकता। इसीसे अनुमानसे भी नित्य सम्बन्धको प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि सम्बन्धका अप्रत्यक्ष होनेपर प्रत्यक्षपूर्वक रूपसे शब्दार्थसम्बन्धके विषयमें अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि कोई भी लिंग अविनाभाव सम्बन्ध ग्रहण किये बिना अनुमानका उत्पादक नहीं हो सकता। और शब्दार्थ सम्बन्धके अप्रत्यक्ष होनेपर अविनाभाव सम्बन्धका ग्रहण कर सकना अशक्य है। अतः किसी भी प्रमाणसे शब्दार्थके नित्य सम्बन्धकी प्रतीति नहीं होती। अतः उसे अनित्य ही मानना चाहिए।

शब्दार्थके अनित्य सम्बन्ध माननेमें मीमांसकोंने पहले जो आपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे विचारपूर्ण नहीं हैं। शाब्दव्यवहार अनादि है; क्योंकि विद्यमान जगत्का निर्मूल विनाशरूप महाप्रलय और फिर अविद्यमान जगत्की सृष्टि न हम जैन ही मानते हैं और न मीमांसक ही मानते हैं। अतः सृष्टिके आरम्भमें शब्दार्थ सम्बन्ध प्रत्येक पुरुषके प्रति किया जाता है आदि, कथन व्यर्थ ही है। यदि शब्दार्थसम्बन्धको नित्य माना जाता है तब भी उसकी अभिव्यक्ति तो अनित्य ही माननी होगी। उसमें भी ये सब दूषण दिये जा सकते हैं। अतः योग्यतारूप सम्बन्धके द्वारा ही शब्द अर्थका प्रतिपादक होता है। यही मानना श्रेष्ठ है।

शब्दके अर्थके विषयमें बौद्धोंका पूर्व पक्ष[1]—बौद्धोंका कहना है कि श्रुत अविसंवादी नहीं हो सकता; क्योंकि जो शब्द सत् अर्थमें देखे जाते हैं वे ही शब्द अर्थके अभावमें भी देखे जाते हैं। अतः शब्द विधिरूपसे अर्थका कथन नहीं करते। इसलिए अन्यापोह[2] को ही शब्दार्थ मानना चाहिए। बौद्ध मतके अनुसार

१. न्या० कु० च०, पृ० ५५१। प्रमाणवा० ३।२०७।
२. तत्त्व सं० पं०, पृ० २७४। प्रमाणवा० टी० १।४८।

शब्द और लिंगका विषय बाह्य अर्थ नहीं है। यदि बाह्य अर्थ शब्दका विषय है तो वह स्वलक्षणरूप बाह्य अर्थ है अथवा सामान्यरूप अर्थ है? पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि स्वलक्षणरूप अर्थमें संकेत ग्रहण नहीं किया जा सकता, अतः उसमें शब्दोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। संकेत ग्रहण उसीमें किया जा सकता है जो संकेतव्यवहारके कालमें मौजूद रहे। किन्तु स्वलक्षणरूप अर्थ तो एकक्षणवर्ती और निरंश परमाणुरूप होता है, अतः वह देशान्तर और कालान्तरका अनुसरण नहीं करता। क्योंकि विवक्षित देश और विवक्षित कालमें जो अर्थ है वह अन्य है तथा देशान्तर और कालान्तरमें जो अर्थ है वह अन्य है। अतः ऐसे अर्थमें संकेत ग्रहण कैसे किया जा सकता है।

तथा, 'यह शब्द इस अर्थका वाचक है' यह सम्बन्ध जिस ज्ञानमें प्रतिभासित होता है उस ज्ञानमें शब्द और स्वलक्षणरूप अर्थ प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रियका विषय है और अर्थ चक्षुका विषय है। और जो जिस ज्ञानमें प्रतिभासित नहीं होते वह ज्ञान उन दोनोंका सम्बन्ध नहीं कर सकता। जैसे गो शब्द और गौ अर्थके सम्बन्धज्ञानमें अश्व शब्द और अश्व अर्थका प्रतिभास नहीं होता अतः वह ज्ञान उन दोनोंका सम्बन्ध नहीं करा सकता। इसी तरह चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियजन्य ज्ञानमें प्रतिभासमान होनेवाले अर्थरूप स्वलक्षण तथा शब्दका 'यह इसका वाचक है' इस सम्बन्धकारी ज्ञानमें प्रतिभास नहीं होता।

दूसरे, जिस शब्दका जिस अर्थके साथ सम्बन्ध निर्धारित नहीं हुआ है, वह शब्द उस अर्थका ज्ञान नहीं करा सकता। जैसे गोशब्दका अश्व अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं है, इसलिए गोशब्द अश्वका ज्ञान नहीं करा सकता। इसी तरह स्वलक्षणरूप अर्थके साथ किसी भी शब्दका सम्बन्ध नहीं है। अतः शब्दसे स्वलक्षणरूप अर्थका बोध नहीं हो सकता। यदि शब्दज्ञान स्वलक्षणको विषय करता है, तो इन्द्रियजन्य ज्ञानकी तरह ही शाब्दज्ञान भी स्पष्ट होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। और ऐसा भी नहीं है कि एक वस्तुके स्पष्ट और अस्पष्ट दो रूप हों, जिससे शब्दज्ञानमें वस्तुगत रूपका ही प्रतिभास[1] हो। अतः स्वलक्षण रूप अर्थ शब्दका विषय नहीं हो सकता।

सामान्यरूप अर्थ भी शब्दका विषय नहीं है; क्योंकि वास्तविक सामान्य ही असम्भव[2] है। और असम्भव वह इसलिए है कि वह खर विषाणकी तरह अर्थ-

१. तत्त्वसं० पं०, पृ० २८१। अपोहसिद्धि, पृ० ७।
२. प्रमाणवा० स्ववृ० १।६५।

क्रियाकारी नहीं है। नित्य एकरूप सामान्य न क्रमसे ही अर्थक्रिया (कार्य) कर सकता है और न एक साथ ही कर सकता है। अतः शब्दका विषय अर्थ नहीं है, किन्तु अन्यापोह है।

अपोहका मतलब है निषेध। उसके दो भेद हैं—पर्युदास[1] और प्रसज्य। पर्युदासके भी दो भेद हैं—बुद्धिरूप और अर्थरूप। जैसे एक सामान्यके बिना भी हर्रे आदि अनेक औषधियाँ ज्वर आदिके शमनरूप कार्यको करती हैं, वैसे ही शाबलेय आदि अर्थ भी परस्परमें भेदके होते हुए भी स्वभावसे ही एकाकार प्रत्यवमर्शके कारण होते हैं। इन अर्थोंके अनुभवके बलसे जो सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञानमें अर्थाकार रूपसे जो अर्थका आभास होता है, उसे अपोह कहते हैं। अब प्रश्न होता है कि उसे अपोह क्यों कहते हैं ? चार कारणोंसे उसे अपोह कहते हैं। प्रथम, विकल्पान्तरवर्ती आकारोंसे भिन्न होकर वह स्वयं प्रतिभासमान होता है अथवा स्वाकारसे इतर आकारोंका उन्मूलन करता है, जिसके द्वारा अन्यका अपोह (व्यावृत्ति) किया जाये, या जो अन्यसे अपोहित हो उसे अन्यापोह कहते हैं। वह अन्यापोह शब्दका मुख्य रूपसे अभिधेय (अर्थ) है। शेष तीन कारणोंसे औपचारिक अन्यापोह इस प्रकार है—कारणमें कार्यका आरोप करनेसे, जैसे उक्त अन्यापोहका कार्य इतरसे व्यावृत्त (भिन्न) वस्तुकी प्राप्ति है। अतः उसका कारण होनेसे कार्यधर्म अन्य व्यावृत्तिका अपोहरूप कारणमें आरोप किया जाता है। दूसरा, कार्यमें कारणधर्मका आरोप—एक प्रत्यवमर्शरूप अन्यापोहका कारण अन्यसे असंसृष्ट स्वलक्षण रूप अर्थ है; क्योंकि उसके निर्विकल्प प्रत्यक्षसे ही उक्त अन्यापोहका जन्म हुआ है। और कारण रूप स्वलक्षणमें अन्य व्यावृत्ति है ही, अतः उस अन्य व्यावृत्तिका कार्यभूत एक प्रत्यवमर्श रूप अन्यापोहमें उपचार किया जाता है। तीसरे, विजातीयसे व्यावृत्त स्वलक्षणके साथ सविकल्पकमें प्रतिभासमान रूपका एकत्वाध्यवसाय होनेसे उसे अन्यापोह कहा जाता है। यह बुद्धिरूप अन्यापोहका स्वरूप है। और उस बुद्धिरूप अन्यापोहका कारण जो स्वलक्षण है वह अर्थरूप अन्यापोह है; क्योंकि उसमें वह अन्य विजातीयोंसे व्यावृत्त है। यह पर्युदासरूप अपोहका कथन हुआ।

'यह गो, अगो नहीं है' इस प्रकार केवल इतर व्यावृत्ति ही जो करता है वह प्रसज्य[2] रूप अन्यापोह है। शब्द केवल ऊपर कहे हुए अन्यापोहका ही वाचक है। सारांश यह है कि शाब्दज्ञानमें जो प्रतिभासित हो उसे ही शब्दार्थ

---

१. तत्त्व सं० पं०, पृ० ३१६।
२. तत्त्व सं०, पं०, पृ० ३१८।

मानना उचित है। शाब्दज्ञानमें न तो प्रसज्यप्रतिषेध (तुच्छाभावरूप) का ही अध्यवसाय होता है और न स्वलक्षणका ही प्रतिभास होता है। किन्तु बाह्य अर्थकी निश्चायक एक शाब्दी बुद्धि उत्पन्न होती है। अतः उसे ही शब्दार्थ मानना चाहिए। यह बौद्धका कहना है। तथा लोग जो शब्दका अर्थके साथ वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध मानते हैं वह भी वास्तवमें कार्यकारणभावसे भिन्न नहीं है; क्योंकि बुद्धिमें जो अर्थका प्रतिबिम्ब होता है, वह शब्दजन्य है इससे उसे वाच्य कहते हैं। और शब्दको उसका जनक होनेसे वाचक कहते हैं।

उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना[1] है कि सविकल्प बुद्धिमें जो अर्थाकार प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है उसे आप अन्यापोह मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि वह प्रतिबिम्ब किसका है—स्वलक्षणका अथवा सामान्यका ? वह स्वलक्षणका प्रतिबिम्ब तो नहीं हो सकता क्योंकि स्वलक्षण तो व्यावृत्ताकार है और प्रतिबिम्ब अनुगत एकरूप है। यदि वह प्रतिबिम्ब स्वलक्षणका है तो स्वलक्षणको भी अनुगत एकाकार ही होना चाहिए। यदि वह प्रतिबिम्ब सामान्यका है तो आप तो (बौद्ध) सामान्यको असत् मानते हैं, अतः असत्का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है। यदि शब्दजन्य विकल्प केवल अपने प्रतिबिम्बका ही निश्चायक है तो उससे बाह्य अर्थमें प्रवृत्ति कैसे होगी ?

बौद्ध—अनर्थमें अर्थका अध्यवसाय करनेसे बाह्यमें प्रवृत्ति होती है।

जैन—अर्थाध्यवसायसे आपका क्या मतलब है ? यदि बाह्य अर्थके ग्रहण करनेको अर्थाध्यवसाय कहते हैं तब तो हमारा ही मत सिद्ध होता है; क्योंकि बौद्ध तो शब्दज्ञानको बाह्य अर्थका ग्राहक नहीं मानते। यदि विकल्प अपने आकारको बाह्य अर्थके साथ मिला देता है यह अर्थाध्यवसायका मतलब है तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती। शायद कहा जाये कि विकल्प अपने आकारमें बाह्य अर्थका आरोप प्रकट करता है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि विकल्पाकार और बाह्य अर्थ, दोनोंका ग्रहण होनेपर ही एकका दूसरेमें समारोप हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि दोनोंको कौन ग्रहण करता है—सविकल्पक अथवा निर्विकल्पक ? निर्विकल्पक तो ग्रहण नहीं कर सकता; क्योंकि निर्विकल्पक तो केवल स्वलक्षणको ही विषय करता है अतः अन्यापोह रूप विकल्पाकारको वह विषय नहीं कर सकता। इसी तरह सविकल्पक भी दोनोंको विषय नहीं कर सकता; क्योंकि वह बाह्य अर्थको विषय नहीं

१. न्या० कु० च०, पृ० ५५७-५६६। प्रमेयक० मा०, पृ० ४३२-४५०।

करता। अतः वह स्वाकारमें बाह्य अर्थका अथवा बाह्य अर्थमें स्वाकारका आरोप कैसे कर सकता है ?

यदि शब्द और लिंगसे केवल अपोहकी प्रतीति होती है तो सब शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे; क्योंकि सभी शब्द केवल अपोहको कहते हैं। और ऐसा होनेपर विशेषण-विशेष्यका भेद, अतीत आदि कालभेद, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि लिंगभेद, तथा एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि भेद दुर्लभ हो जायेगा। तथा लिंग और लिंगीमें भी कोई भेद नहीं रहेगा; क्योंकि दोनोंका अर्थ केवल अपोह है।

बौद्ध—अपोहके भी भेद होते हैं, अतः उक्त आपत्ति ठीक नहीं है ?

जैन—तब यह बतलायें कि अपोहके भेद कैसे होते हैं ? अपोह्यके भेदसे अपोहके भेद होते हैं, अथवा वासनाके भेदसे अपोहके भेद होते हैं, अथवा भिन्न सामग्रीसे उत्पन्न होनेके कारण अपोहके भेद हैं, अथवा विभिन्न कार्य करनेसे अपोहके भेद हैं, अथवा आश्रयके भेदसे अपोहके भेद होते हैं, अथवा स्वरूप भेदसे अपोहके भेद होते हैं ? यदि अपोह्य अर्थोंके भेदसे अपोहके भेद मानते हैं तो 'सर्व' 'प्रमेय' आदि शब्द एकार्थवाची हो जायेंगे; क्योंकि सर्वराशिसे भिन्न 'असर्व' और समस्त प्रमेय राशिसे भिन्न 'अप्रमेय' तो कोई है नहीं, जिसके अपोहसे सर्व आदि सिद्ध हों। तथा ऐसी स्थितिमें बौद्ध मतमें प्रसिद्ध सत्त्व और कृतकत्व हेतु भी कैसे सिद्ध होंगे; क्योंकि बौद्धमतानुसार जगत्में न तो कोई असत् है और न कोई अकृतक है, जिसके अपोहसे सत्त्व आदि हेतु सिद्ध हों ? अतः अपोह्यके भेदसे अपोहके भेद नहीं बनते। वासनाके भेदसे भी अपोहके भेद नहीं बनते। अनुभवभेद होनेसे ही वासनाभेद होता है। किन्तु जब अपोह एकरूप है तो अनुभवमें भेद कैसे हो सकता है ? भिन्न-भिन्न सामग्रीसे उत्पन्न होनेके कारण भी अपोहमें भेद नहीं हो सकते; क्योंकि अपोह तो काल्पनिक है अतः सामग्रीविशेषसे उसकी उत्पत्ति ही नहीं बनती; क्योंकि जो काल्पनिक है वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता। और यदि अपोह सामग्री विशेषसे उत्पन्न होता है तो वह कल्पित नहीं हो सकता। इसीसे विभिन्न कार्य करनेके कारण अपोहके भेद माननेका भी खण्डन हो जाता है; क्योंकि जो वास्तविक सत् नहीं है वह विभिन्न कार्य नहीं कर सकता, जैसे आकाशपुष्प। और यदि अपोह अनेक कार्य करता है तो उसे वास्तविक सत् मानना होगा। इसी तरह आश्रयभेद और स्वरूपभेदसे अपोहमें भेद नहीं बनता; क्योंकि जो अवस्तुरूप है उसका न कोई आश्रय होता है और न कोई स्वरूप होता है।

फिर भी यदि शब्द स्वरूपभेदसे भिन्न अपोहका कथन करता है, ऐसा ही आपका मन्तव्य है तो वह अपोह पर्युदास रूप है अथवा प्रसज्य रूप है ? यदि पर्युदास रूप है तो उसे भावान्तर स्वरूप ही मानना चाहिए। वह भावान्तर, विशेष है अथवा सामान्य है अथवा सामान्यसे उपलक्षित विशेष है, अथवा सामान्य और विशेषका समुदाय है ? चारों ही पक्षोंमें शब्दका अर्थ विधि ही सिद्ध होता है, अपोह नहीं। यदि शब्द स्वरूपभेदसे भिन्न प्रसज्य रूप अपोहको कहता है तो शब्दका अर्थ केवल निषेध ही हुआ कहलाया। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती। दूसरेको समझानेके लिए ही शब्दका प्रयोग किया जाता है। और दूसरा 'नील' को जानना चाहता है, न कि केवल अनीलके निषेध मात्रको। यदि समझानेवाला जिज्ञासाके प्रतिकूल अर्थका कथन करता है तो वह बुद्धिमान् सिद्ध नहीं होता। तथा यदि शब्द निषेध मात्रको कहता है तो 'नील' और 'कमल' शब्दका सामानाधिकरण्य नहीं बनता; क्योंकि नीलशब्द केवल अनीलका निषेध कहता है और 'कमल' शब्द अकमलका निषेध मात्र कहता है। ये दोनों निषेध एकधर्मीमें सम्बद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि भावरूप धर्मी और अभावरूप अनील और अकमलका तादात्म्य आदि सम्बन्ध असम्भव है। तथा इन दोनों शब्दोंका विषय एकधर्मी भी नहीं है। 'अनिन्द्रिय' 'अनुदरा' आदि जिन शब्दोंमें 'नञ्' लगा रहता है उन्हींका पर्युदासरूप अथवा प्रसज्यरूप अर्थ होता है। किन्तु 'गो' इसमें तो 'नञ्' नहीं है तब 'अगो' का पर्युदास करके गोशब्दकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? गोका अर्थ तो विधिरूपसे ही प्रतीत होता है। अतः सामान्यविशेषात्मक वस्तु ही शब्दका विषय मानना चाहिए। प्रतीतिका अपलाप करना उचित नहीं है। वाच्य और वाचकका सम्बन्ध तर्क-प्रमाणसे प्रतीत होता है, सर्वत्र सम्बन्धकी प्रतीति उसीके द्वारा होती है।

बौद्ध—अतीत और अनागत अर्थके वाचक शब्द अर्थके अभावमें भी देखे जाते हैं; तब शब्दोंका अर्थके साथ प्रतिबन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ?

जैन—हम सभी शब्दोंको अर्थका अविनाभावी नहीं मानते; किन्तु आप्तके द्वारा कहे हुए सुनिश्चित शब्दोंको ही अर्थका अविनाभावी मानते हैं। कुछ शब्द अर्थके व्यभिचारी देखे जाते हैं, इसलिए सब शब्दोंको अर्थका व्यभिचारी मान लेना उचित नहीं है, अन्यथा मरीचिकामें होनेवाला जलज्ञान झूठा होता है, इसलिए सत्य जलके ज्ञानको भी झूठा मानना होगा। अतः जैसे प्रत्यक्षका विषय परमार्थ है वैसे ही शब्दका विषय भी परमार्थ है। दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इसलिए 'इन्द्रिय प्रत्यक्षका विषय भिन्न है और शब्दका विषय भिन्न है' ऐसा

कहना उचित नहीं है। कारणसामग्रीका भेद होनेसे एक ही अर्थमें भिन्न-भिन्न प्रतिभासका होना देखा जाता है। जैसे एक ही वृक्षका प्रतिभास दूर देशवर्ती और निकट देशवर्ती मनुष्योंको विभिन्न रूपसे होता है वैसे ही शब्दज्ञान और प्रत्यक्ष-ज्ञानका विषय एक होते हुए भी शब्द और इन्द्रिय आदि रूप सामग्रीका भेद होनेसे शाब्दज्ञान अस्पष्ट होता है और प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट होता है। अतः अन्धेको और आँखोंवाले मनुष्यको एक ही विषयका भिन्न प्रतिभास होता है।

'वाच्यवाचकभाव कार्यकारण भावसे भिन्न नहीं है' यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि बौद्धोंकी मान्यताके अनुसार शब्दोच्चारणके पश्चात् श्रोताकी बुद्धिमें जो प्रतिबिम्ब होता है, चूँकि वह शब्दजन्य है, अतः वह वाच्य है और शब्द उसका जनक होनेसे वाचक है। यदि कार्यकारण भाव और वाच्यवाचक भाव एक ही है तो श्रोत्रज्ञानमें प्रतिभासमान शब्द अपने प्रतिभासका कारण होता है अतः शब्द अपने प्रतिभासका भी वाचक हो जायेगा। तथा जैसे शब्द विकल्पका कारण है वैसे ही परम्परासे स्वलक्षण भी उसका कारण है, अतः कारण होनेसे स्वलक्षण भी वाचक हो जायेगा। अतः बौद्धोंका अन्यापोहवाद समुचित प्रतीत नहीं होता।

शब्दार्थके विषयमें मीमांसकका पूर्वपक्ष—मीमांसक[1]का कहना है कि शब्दोंका विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु नहीं है, किन्तु सामान्य मात्र ही है। किसी एक व्यक्तिमें उस सामान्यको जानकर उसके द्वारा सर्वत्र संकेत किया जा सकता है। किन्तु विशेष शब्दका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष अथवा व्यक्ति तो अनन्त हैं, उन सबको पूरी तरहसे ग्रहण करना शक्य नहीं है। अतः उन सबमें संकेत नहीं किया जा सकता। यदि जितने विशेषोंकी उपलब्धि हो उतनेमें ही संकेत ग्रहण माना जायेगा तो अन्य व्यक्तियोंमें संकेत ग्रहण न होनेसे शाब्दव्यवहार नहीं बन सकता। तथा जो असर्वज्ञ है वह क्रमसे अथवा युगपत् समस्त विशेषों (व्यक्तियों) को विषय नहीं कर सकता, अन्यथा वह असर्वज्ञ नहीं कहा जायेगा। रहा सर्वज्ञ, सो वह तो विवादग्रस्त है। और सब विशेष व्यक्तियोंको ग्रहण किये बिना 'यह इसका वाचक है और यह वाच्य है' इस प्रकार वाच्य-वाचक सम्बन्धका नियमरूप संकेत सम्भव नहीं है। और उसके अभावमें शब्द सुननेसे अर्थका ज्ञान नहीं होगा। तथा ऐसा होनेसे शाब्दव्यवहारका उच्छेद हो जायेगा। अतः शाब्दव्यवहारको जो मानता है उसे सामान्य मात्रमें ही संकेत ग्रहण मानना चाहिए। इस लिए सामान्य ही शब्दार्थ है।

१. न्या० कु० च०, पृ० ५६६। मी० श्लो०, आकृति०, श्लो० ३-४, १८, ६३। तन्त्रवा० १।३।३३। शास्त्र दी० १।३।३५। वाक्यप० ३।३३।

जो सामान्यविशिष्ट विशेषको अथवा जातिविशिष्ट व्यक्तिको शब्दार्थ मानते हैं उनसे हमारा प्रश्न है कि शब्द जातिको कहकर व्यक्तिको कहता है अथवा जातिका कथन किये बिना ही व्यक्तिको कहता है ? यदि शब्द जातिको कहकर व्यक्तिका कथन करता है, तो जातिरूप विशेषणकी प्रतिपत्तिमें ही उसकी शक्ति क्षीण हो जानेसे वह कभी भी व्यक्तिरूप विशेष्यका कथन नहीं कर सकेगा। यदि शब्द जातिको बिना कहे ही व्यक्तिका प्रतिपादन करता है तो केवल विशेष मात्रका कथन करनेसे जातिमद् वाचकत्वका अभाव ही हो जायेगा।

शायद कहा जाये कि यदि शब्द सामान्य मात्रको ही कहता है, विशेषों (व्यक्तियों) को नहीं कहता तो शब्दसे प्रयोजनार्थी मनुष्यकी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि शब्दसे केवल सामान्य मात्रकी प्रतिपत्ति होगी और सामान्य मात्रसे प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि सामान्यकी प्रतिपत्ति होनेसे विशेषोंकी भी प्रतिपत्ति होती है। पहले शब्दसे सामान्य मात्रकी प्रतीति होती है। पीछे सामान्यकी प्रतीति होनेसे लक्षणाके द्वारा व्यक्तिविशेषकी प्रतीति होती है; क्योंकि सामान्य व्यक्तिके बिना नहीं रहता। तथा सामान्यसे लक्षित व्यक्ति-विशेषकी प्रतीति होनेसे लक्षित लक्षणाके द्वारा प्रयोजनविशेषकी प्रतीति होती है।

जैनोंका उत्तरपक्ष—जैनोंका कहना[1] है कि सामान्यमात्रको ही शब्दका विषय मानना उचित नहीं है। संकेतके अनुसार ही शब्द वाचक होता है। और संकेत सामान्यविशिष्ट विशेषमें ही किया जाता है, न कि सामान्यमात्रमें। केवल सामान्य अथवा जाति न तो प्रवृत्तिका विषय है और न वह पानी भरना आदि किसी अर्थक्रियामें ही उपयोगी है, क्योंकि गौ, घट आदि व्यक्ति कार्यकारी हैं, गोत्व या घटत्व जाति कार्यकारी नहीं है। अतः केवल सामान्यमें शाब्दव्यवहार असम्भव है। और इसलिए उसमें संकेत ग्रहण करना व्यर्थ है। 'इस प्रकार के शब्दसे इस प्रकारका अर्थ समझना चाहिए। और इस प्रकारके अर्थमें इस प्रकारका शब्दप्रयोग करना चाहिए' संकेत करानेवाला व्यक्ति इस प्रकारसे सदृश परिणामसे युक्त वाच्य-वाचकमें ही संकेत ग्रहण कराता है।

'व्यक्ति अनन्त हैं, उन सबको ग्रहण करना शक्य नहीं है' इत्यादि कथन भी समुचित नहीं है। जैसे साध्यरूप व्यक्ति और साधनरूप व्यक्ति अर्थात् अग्नि और धूम अनन्त हैं फिर भी तर्कप्रमाणके द्वारा उन सबका ज्ञान हो जाता है।

---

१. न्या० कु० च०, पृ० ५६८।

वैसे ही सदृशपरिणामसे युक्त वाच्य और वाचकोंके अनन्त होनेपर भी तर्क-प्रमाणसे उन सबका ग्रहण सम्भव है। शब्द और अर्थके नित्य सम्बन्धका निषेध करते समय तथा अपोहका खण्डन करते समय इसपर प्रकाश डाला गया है। अतः 'जो असर्वज्ञ है वह समस्त विशेष व्यक्तियोंको एक साथ जानता है अथवा क्रमसे जानता है' इत्यादि कथन खण्डित हो जाता है; क्योंकि तर्कप्रमाणके द्वारा असर्वज्ञ व्यक्ति भी समस्त विशेषोंको ग्रहण कर सकता है।

तथा 'जातिको कहकर शब्द व्यक्तिको कहता है' इत्यादि कथन भी ठीक नहीं है; एक ही साथ एक ही ज्ञानमें जाति और व्यक्तिका प्रतिभास सम्भव है। शायद कहा जाये कि यदि जाति और व्यक्तिका प्रतिभास एक ही ज्ञानमें एक साथ होता है तो उसमें यह नियम नहीं बनेगा कि जाति विशेषण है और व्यक्ति विशेष्य है अथवा विशेषण भी विशेष्य रूप हो जायेगा। किन्तु ऐसा कथन भी उचित नहीं है एक ज्ञानमें एक साथ दण्ड और पुरुषकी प्रतीति होनेपर भी 'दण्ड ही विशेषण है और पुरुष ही विशेष्य है' यह नियम बराबर प्रतीत होता है। 'यह पुरुष डण्डा लिये हुए है' इस प्रकारकी प्रतीतिका नाम ही तो विशेषण-विशेष्य भावकी प्रतीति है। तथा जैसे चक्षुसे होनेवाले ज्ञानमें विशेषण-विशेष्य भावसे युक्त दण्ड और पुरुषकी एक साथ प्रतीति होनेपर भी विशेषण-विशेष्य भावके नियममें कोई विरोध नहीं आता, वैसे ही 'दण्ड' इस शब्दसे होनेवाले ज्ञानमें भी विशेषण-विशेष्य भावसे युक्त दण्ड और पुरुष दोनोंको एक साथ प्रतीति होनेपर भी विशेषण-विशेष्यके नियममें कोई विरोध नहीं आता—दण्ड विशेषण ही रहता है और पुरुष विशेष्य ही होता है।

अतः जैसे 'दण्डी' शब्दसे दण्ड विशिष्ट पुरुषकी प्रतीति होती है वैसे ही 'गौ' शब्दसे गोत्वविशिष्ट गोपिण्डकी प्रतीति होती है।

मीमांसक—'गौ' शब्दके सुननेसे 'काली' 'चितकबरी' आदि विशेषोंकी प्रतीति नहीं होती, अतः विशेष शब्दार्थ नहीं है।

जैन—'गौ' शब्दसे काला आदि विशेषोंकी प्रतीति नहीं होनेपर भी गोत्व-जातिविशिष्ट गलकम्बल तथा ककुदवाले व्यक्तिकी प्रतीति होती ही है। काला चितकबरा आदि विशेषोंकी प्रतीति 'काला' 'चितकबरा' आदि शब्दोंसे होती है। किन्तु इससे सामान्य मात्र ही शब्दार्थ मानना उचित नहीं है, गौणत्व और प्रधानतासे जाति और व्यक्ति दोनोंकी प्रतीति होती है। 'गौको लाओ' इत्यादि प्रयोगोंमें सामान्यविशिष्ट व्यक्तिके साथ ही 'लाने' रूप क्रियाका सम्बन्ध प्रतीत होता है। अतः सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही शब्दका अर्थ है। पहले

शब्द विशेषणको कहता है फिर विशेष्यको कहता है' इस प्रकार शब्दका व्यापार नहीं होता। शब्द एक साथ ही विशेषण और विशेष्यका कथन करता है। तथा, यदि शब्दसे सामान्यकी ही प्रतीति होती है तो सामान्यसे व्यक्तिकी प्रतीति होनेका क्या कारण है।

मीमांसक—व्यक्तिके साथ सामान्यका सम्बन्ध है। अतः शब्दसे प्रतीत सामान्यसे लक्षणाके द्वारा व्यक्तिकी प्रतीति होती है।

जैन—तो व्यक्तिके साथ सामान्यका क्या सम्बन्ध है ? संयोग है अथवा समवाय है, अथवा तदुत्पत्ति सम्बन्ध है, या तादात्म्य सम्बन्ध है ? संयोगसम्बन्ध तो नहीं हो सकता; क्योंकि संयोगसम्बन्ध द्रव्यका द्रव्यके साथ ही होता है, किन्तु सामान्य द्रव्य नहीं है। समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि मीमांसक समवाय सम्बन्ध नहीं मानते। इसीलिए सामान्य और विशेषमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है; क्योंकि इन दोनोंमें कार्यकारण भाव नहीं है। यदि दोनोंमें तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं तब तो एक ही 'गौ' शब्दसे सामान्य-विशेषकी विशेषण-विशेष्य रूपसे एक साथ प्रतीति होनेसे केवल सामान्यको ही शब्दार्थ मानना उचित नहीं है।

तथा शब्दप्रयोगके समय ही जाति और व्यक्तिके सम्बन्धकी प्रतीति होती है, अथवा पहले। प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि शब्दोच्चारणके कालमें व्यक्तिकी प्रतीति नहीं होती, यदि होती है तो फिर लक्षणाकी क्या आवश्यकता है ? यदि शब्दोच्चारण कालसे पहले जाति और व्यक्तिका तादात्म्य सम्बन्ध प्रतीत हुआ है तो होवे, किन्तु यह इसका मतलब नहीं है कि उन दोनोंका सर्वत्र सर्वदा सम्बन्ध होना ही चाहिए। यदि ऐसा माना जायेगा तो कभी कहींपर पटका शुक्लरूपके साथ तादात्म्य देखनेसे सर्वत्र सर्वदा उनका तादात्म्य भाव मानना होगा।

मीमांसक—जातिका यही स्वरूप है कि वह व्यक्तिमें रहती है।

जैन—यदि व्यक्तिमें रहना ही जातिका स्वरूप है तो वह जाति सर्वव्यापक है अथवा व्यक्तिमात्रमें व्यापक है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि जातिका रूप व्यक्तिनिष्ठ होता है अतः व्यक्तियोंके अन्तरालमें जातिका अभाव मानना होगा क्योंकि वहाँ व्यक्तिके न होनेसे जातिके स्वरूपका अभाव है। दूसरे पक्षमें व्यक्तिकी तरह जाति भी अनेक माननी होगी। और तब जाति और व्यक्तिमें कोई भेद न होनेसे या तो दोनोंको ही शब्दार्थ मानना होगा, अथवा दोनोंमें-से

किसीको भी शब्दार्थ मत मानो। तथा, गो शब्दसे यदि केवल गोत्वकी प्रतीति होती है तो 'गो' शब्दको सुनकर किसी भी व्यक्तिमें प्रवृत्ति नहीं बनती; क्योंकि व्यक्तिकी प्रतीति उससे नहीं होती। जिसकी प्रतीति होनेपर भी जो प्रतीत नहीं होता, उसकी प्रतीतिसे उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसे जलकी प्रतीति होनेपर अग्निकी प्रतीति नहीं होगी। अतः जलकी प्रतीतिसे अग्निमें प्रवृत्ति नहीं होती। वैसे ही गो शब्दसे गोत्व मात्रकी प्रतीति होनेपर भी खण्डी, मुण्डी आदि व्यक्ति-विशेषोंकी प्रतीति नहीं होती। अतः गोशब्दको सुनकर उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

यदि गो शब्दसे प्रतीयमान गोत्व गोव्यक्तिसे सम्बद्ध ही प्रतीत होता है तो फिर सामान्य ही शब्दार्थ नहीं सिद्ध होता। क्योंकि शब्दसे विशेषण-विशेष्य भावसे युक्त सामान्य और विशेषकी प्रतीति होती है।

मीमांसक—गो शब्दसे साक्षात् प्रतीति तो गोत्व सामान्यकी ही होती है, किन्तु सामान्य व्यक्तिके बिना नहीं रहता, अतः उसकी अन्यथानुपपत्तिसे ही व्यक्तिकी प्रतीति होती है।

जैन—तब तो जाति ही शब्दार्थ हुआ, क्योंकि व्यक्तिकी प्रतीति तो अर्थापत्ति प्रमाणसे होती है। ऐसी स्थितिमें लक्षणाके द्वारा शब्द विशेषका प्रतिपादक नहीं हो सकता।

मीमांसक—यह शब्दका ही आन्तरिक कार्य है कि वह सामान्यको कहकर सामान्यकी प्रतिपत्तिमें सहायक व्यक्तिका भी लक्षणाके द्वारा बोध करा देता है।

जैन—ऐसा कहना समुचित नहीं है; क्योंकि संकेतके स्मरणकी सहायतासे जहाँ शब्दकी प्रवृत्ति होती है वहीं उसका अर्थ है, किन्तु उस अर्थके अविनाभावीके रूपमें जिस-जिसकी प्रमाणान्तरसे प्रतीति होती हो उन सबको शब्दके उदरमें डालना उचित नहीं है। यदि ऐसा किया जायेगा तो प्रत्यक्षसिद्ध धूमकी अन्यथानुपपत्तिसे जानी गयी अग्निको भी प्रत्यक्ष सिद्ध मानना पड़ेगा। अतः जो प्रमाणसे वस्तुकी व्यवस्था करना चाहते हैं उन्हें जो जिससे जैसे प्रतिभाषित होता है उसे उसका विषय मानना चाहिए। जैसे चक्षु आदिसे होनेवाले ज्ञानमें नील आदि रूपसे रूपका प्रतिभास होता है अतः वही उसका विषय है। उसी तरह गो आदि शब्दोंसे गौ आदि वस्तुका प्रतिभास होता है। अतः वही उस शब्दका विषय है, सामान्य मात्र उसका विषय नहीं है।

शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकका पूर्वपक्ष—मीमांसक[1] का कहना है कि यदि शब्दको अनित्य माना जायेगा तो वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेगा। ऐसी स्थितिमें जिस शब्दमें संकेत ग्रहण किया है वह शब्द व्यवहारकालमें नहीं रह सकेगा। और ऐसा होनेसे शब्द अर्थका प्रतिपादक नहीं हो सकेगा। इसके विपरीत शब्दको नित्य माननेपर जो शब्द संकेतकालमें है वही व्यवहारकालमें भी बना रहेगा। अतः वह अर्थका प्रतिपादन कर सकेगा।

प्रमाणसे भी शब्दकी नित्यता ही सिद्ध होती है। 'वही यह 'ग' है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा[2] नामक प्रत्यक्षसे शब्दोंकी नित्यताकी प्रतीति होती है। यह प्रत्यभिज्ञान न तो अज्ञान रूप है, क्योंकि प्रत्येक प्राणीको 'यह वही शब्द है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है, न संशयरूप ही है; क्योंकि जो ज्ञान दोलायमान होता है उसे संशय कहते हैं। किन्तु यह ज्ञान तो एक अंशको ही विषय करता है। न यह मिथ्याज्ञान ही है। जो ज्ञान बाधित होता है वही मिथ्या होता है। जैसे सीपमें होनेवाला चाँदीका ज्ञान। किन्तु यह ज्ञान तो निर्बाध है।

श्रोत्रेन्द्रियसे ही 'यह वही 'ग' है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ही है। शायद कहा जाये कि यह ज्ञान स्मरणपूर्वक होता है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है। किन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं है। यद्यपि यह ज्ञान स्मरणपूर्वक ही होता है फिर भी इन्द्रिय और अर्थका सम्बन्ध होनेपर ही होता है। इसलिए यह प्रत्यक्ष ही है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानसे शब्दके नित्य सिद्ध होनेपर शब्दका उच्चारण उसका जनक नहीं है, किन्तु अभिव्यंजक है। अर्थात् उच्चारण करनेसे पूर्व विद्यमान शब्द व्यक्त हो जाता है। अतः उसके आधारपर हम यह अनुमान कर सकते हैं—पूर्वकालमें भी शब्दका उच्चारण उसका अभिव्यंजक था, उच्चारण होनेसे। जो-जो उच्चारण होता है, वह-वह शब्दका व्यंजक होता है। जैसे इस कालमें किया जानेवाला उच्चारण। पूर्वकालका उच्चारण भी चूँकि उच्चारण है, अतः वह भी शब्दका व्यंजक ही था। तथा विवादग्रस्त कालमें भी यही गकार आदि थे, क्योंकि वह भी काल है, जैसे वर्तमानकाल। अतः अनुमान प्रमाणसे भी शब्दकी नित्यता सिद्ध होती है। तथा—शब्द नित्य है; क्योंकि श्रवणेन्द्रियका विषय है। जो-जो श्रवणेन्द्रियका विषय होता है वह-वह

१. न्या० कु० च०, पृ० ६९७। मी० श्लो०, शब्दनि०, श्लो० ३।
२. शाबर भा० १।१।२०। बृहती० १।१।१८। मी० श्लो०, शब्दा० श्लो० ३३।

नित्य होता है, जैसे शब्दत्व। उसी तरहसे शब्द भी श्रवणेन्द्रियका विषय है। अतः नित्य है।

तथा, विभिन्न[1] देशों और विभिन्न कालोंमें जो गो शब्द, गो व्यक्ति और गोत्व बुद्धियाँ हैं वे सब एक ही गो शब्दके विषय हैं; क्योंकि 'गौ' इस रूपसे उत्पन्न होते हैं। जैसे आजकलकी उत्पन्न गो शब्द बुद्धि। जो गौ शब्द कल था वही आज भी है; क्योंकि 'गौ' इस रूपसे ही वह जाना जाता है, जैसे आजका उच्चारित गो शब्द। अथवा आजका गौ शब्द कल भी था क्योंकि 'गौ' इस रूपसे ही वह जाना जाता है, जैसे कलका उच्चारित गौ शब्द। तथा वाचक शब्द नित्य है; क्योंकि वह वाच्य-वाचकरूप सम्बन्धके बलसे ही अर्थका ज्ञान कराता है। जो अनित्य होता है वह सम्बन्धके बलसे अर्थका ज्ञान नहीं कराता जैसे दीपक अथवा बिजलीका प्रकाश।

अर्थापत्ति प्रमाणसे भी शब्दकी नित्यता सिद्ध है। शब्द नित्य है यदि वह नित्य न होता तो उससे अर्थका बोध नहीं होता। जिस शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध जान लिया जाता है उसी शब्दसे अर्थका बोध होता है, अन्यथा नहीं होता। शब्दके अनित्य होनेपर गृहीत सम्बन्धकी अनुवृत्ति उत्तरकालमें नहीं हो सकती, क्योंकि उसी समय उसका विनाश हो जाता है।

शायद[2] कहा जाये कि 'ग', 'ग', 'क', 'क' आदि शब्द समान होते हैं। अतः समान होनेसे अनित्य होनेपर भी शब्द अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु हो सकता है, इसलिए अर्थापत्ति प्रमाणसे शब्दकी नित्यता सिद्ध नहीं होती। किन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि विचार करनेपर शब्दोंकी समानता नहीं बनती, अतः समानताकी वजहसे शब्द अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु नहीं हो सकता। इसलिए शब्दको नित्य ही मानना चाहिए।

उत्तरपक्ष–शब्द अनित्य है

जैनोंका कहना[3] है कि 'यह वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञानके द्वारा शब्दको नित्य सिद्ध करना अविचारपूर्ण है। यह प्रत्यभिज्ञान सादृश्यमूलक है, अतः

---

१. मी० श्लो०, शब्दनि०, श्लो० ४१८-४२१।

२. शाबरभा० १।१।१८।

३. न्या० कु० च०, पृ० ७०३-७२०। प्रमेयक०, मा० पृ० ४०६-४२७।

उससे गकारका एकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्या 'यह वही दीपक है' अथवा कट जानेके पश्चात् पुनः उत्पन्न हुए नखोंमें 'यह वही पुराना नख है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञानोंसे दीपक और नखोंका एकत्व सिद्ध हो सकता है ?

मीमां०— दीपकके कारण तैल आदिका उत्तरोत्तर क्षय देखा जाता है, अतः दीपक आदिका क्षण-क्षणमें अन्य-अन्य होना प्रसिद्ध ही है, इसलिए दीपक एक नहीं हो सकता, किन्तु शब्दमें ऐसी बात नहीं है।

जैन—शब्दके कारण तालु आदिका संयोग विभाग वगैरहका भी उत्तरोत्तर क्षय देखा जाता है, अतः शब्द भी प्रतिसमय अन्य-अन्य होता है, इसलिए शब्द एक नहीं है।

मीमां०—तालु आदिका संयोग और विभाग शब्दको व्यक्त करनेवाली वायुको उत्पन्न करता है शब्दको नहीं ?

जैन—तो, बत्ती, तेल और आगके संयोगसे भी दीपक उत्पन्न नहीं होता, किन्तु दीपकको व्यक्त करनेवाली वायु उत्पन्न होती है, यह भी मान लीजिए। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है।

अतः प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि प्रत्यक्षसे हम शब्दको नष्ट होते और उत्पन्न होते देखते हैं। प्रत्येक प्राणीको इन्द्रिय व्यापारके पश्चात् ही यह प्रतीति होती है कि उत्पन्न हुआ शब्द नष्ट हो गया। शायद कहा जाये कि यह प्रतीति उक्त प्रत्यभिज्ञानसे बाधित क्यों नहीं है? हम ऊपर कह आये हैं 'यह वही शब्द है' यह प्रत्यभिज्ञान सादृश्यमूलक होनेसे मिथ्या है। अतः वह शब्दको नित्य सिद्ध नहीं कर सकता। यदि शब्द नित्य है तो उच्चारणसे पहले उसका अनुपलम्भ क्यों होता है ? इन्द्रियका अभाव होनेसे, अथवा शब्दके निकट न होनेसे, अथवा शब्दके आवृत (ढका हुआ) होनेसे ? पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि उच्चारणके पश्चात् शब्दकी उपलब्धि होती है। यदि इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दकी अनुपलब्धि होती तो उच्चारणके पश्चात् भी शब्दका ज्ञान नहीं होना चाहिए था। शायद कहा जाये कि उच्चारणसे पहले शब्दकी ग्राहक श्रोत्र इन्द्रिय नहीं थी, उच्चारणके समय ही शब्दके साथ इन्द्रिय उत्पन्न हो जाती है, किन्तु यह बात तो प्रतीतिविरुद्ध है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब शब्द नित्य और व्यापक है तो वह सर्वत्र ही पाया जाना चाहिए। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब शब्द नित्य और एक स्वभाव है तो वह आवृत नहीं हो सकता। दृश्य स्वभावको छोड़कर अदृश्य स्वभावको स्वीकार किये बिना शब्दका

आवृत होना नहीं बन सकता। और ऐसा माननेसे शब्द नित्यैकस्वभाव नहीं रहता, तथा जैसे दीपकके व्यापारसे पहले स्पर्शन प्रत्यक्षसे अन्धकारमें घटका अस्तित्व सिद्ध है, वैसे ही व्यंजकके व्यापारसे पहले यदि किसी प्रमाणसे शब्दका अस्तित्व सिद्ध हो तो शब्दका आवृत होना सिद्ध हो सकता है, किन्तु व्यंजकके व्यापारसे पहले किसी प्रमाणसे शब्दका सद्भाव सिद्ध नहीं होता।

थोड़ी देरके लिए शब्दोंका आवरण मान भी लिया जाये तो वह आवरण दृश्य है अथवा अदृश्य है, नित्य है अथवा अनित्य है, व्यापक है अथवा अव्यापक है, एक है अथवा अनेक है? वह आवरण दृश्य नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे उसकी प्रतीति नहीं होती। यदि होती तो फिर उसमें किसीको कोई विवाद ही न होता। यदि आवरण अदृश्य है तो उसका अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

मीमां०—नित्य सत् शब्दके उच्चारणसे पहले अनुपलब्ध होनेमें और कोई कारण नहीं हो सकता। इसलिए अदृश्य होते हुए भी आवरणको ही उसका कारण मानना पड़ता है।

जैन—इसमें तो अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है—शब्दका आवरण सिद्ध होनेपर नित्य सत् शब्दकी उच्चारणसे पहले अनुपलब्धि सिद्ध होती है। और उसके सिद्ध होनेपर आवरणकी सिद्धि होती है।

यदि आवरण नित्य है तो शब्दकी उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकेगी। यदि आवरण अनित्य है तो एक बार उसके नष्ट हो जानेपर पुनः उसके उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं है। अतः सदा सबको शब्दकी उपलब्धिका प्रसंग आता है। आवरणका व्यापक होना तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि आवरण रूपसे मानी गयी वायु अव्यापक है। यदि आवारक वायुको व्यापक माना जायेगा तो आवार्य शब्द और आवारक वायु, दोनोंके ही व्यापक होनेसे कौन किसका आवारक होगा?

तथा, यदि सब शब्दोंका एक ही आवरण है तो एक शब्दकी उपलब्धि होने-पर सब शब्दोंकी उपलब्धिका प्रसंग आता है; क्योंकि विवक्षित शब्दके आवरण-का विनाश होनेपर एक शब्दकी तरह सभी शब्द निरावरण हो जायेंगे। यदि आवरणका विनाश होनेपर सब शब्दोंकी उपलब्धि नहीं होती तो विवक्षित शब्द-की भी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए। सब शब्दोंके विभिन्न आवरण मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि व्यापक होनेसे जब सब शब्दोंका एक ही देश है और एक ही इन्द्रियसे सबका ग्रहण होता है तो आवरणभेद और व्यंजकभेद नहीं बनता।

३३

तथा शब्दकी व्यंजक ध्वनि किस प्रमाणसे सिद्ध है ?

मीमां०—अर्थापत्ति प्रमाणसे ध्वनियोंकी प्रतीति इस प्रकार होती है—शब्द नित्य है, इसलिए वह उत्पन्न नहीं होता। केवल संस्कार ही किया जाता है। यदि ध्वनियाँ न होतीं तो यह विशिष्ट संस्कार न होता। अतः व्यंजक ध्वनिका अस्तित्व सिद्ध है।

जैन—मीमांसकोंने तीन प्रकारका संस्कार माना है—शब्दसंस्कार, इन्द्रियसंस्कार और उभयसंस्कार। प्रथम पक्षमें शब्दसंस्कारसे आपका क्या आशय है ? शब्दकी उपलब्धि, अथवा शब्दमें किसी अतिशयका देखा जाना अथवा शब्दके स्वरूपकी परिपुष्टि होना, अथवा व्यंजकोंका निकट होना, अथवा आवरणका हट जाना। यदि शब्दकी उपलब्धिका नाम संस्कार है तो उससे ध्वनिका अस्तित्व कैसे जाना जा सकता है; क्योंकि शब्दकी उपलब्धि तो शब्द और श्रोत्रके होनेपर होती है। दूसरे पक्षमें वह अतिशय शब्दसे भिन्न किया जाता है अथवा अभिन्न किया जाता है ? यदि वह अतिशय शब्दसे भिन्न है तो शब्दमें कुछ भी नहीं हुआ कहलाया। अतः अतिशयके होनेपर भी शब्द सुनाई नहीं देगा। यदि अतिशय शब्दसे अभिन्न है तो अतिशयकी तरह शब्द भी उत्पन्न हुआ कहलायेगा। और ऐसा होनेपर शब्द अनित्य ठहरेगा। तथा, ये ध्वनियाँ श्रोत्र देशमें ही शब्दका संस्कार करती हैं अथवा सर्वत्र ? प्रथम पक्षमें शब्द व्यापक नहीं ठहरा। तथा श्रोत्र देशमें शब्दको दृश्य और अन्य देशमें अदृश्य माननेसे शब्दकी निरंशताका घात होता है।

शब्दके स्वरूपकी पुष्टिरूप संस्कार भी नहीं बनता; क्योंकि नित्य शब्दके स्वभावको बदला नहीं जा सकता। व्यंजकोंकी निकटता रूप संस्कार भी ठीक नहीं है; क्योंकि फिर तो सर्वत्र सर्वदा सब लोग सब शब्दोंको सुन सकेंगे। आवरणका हट जाना रूप संस्कार माननेपर भी एक साथ सब शब्दोंकी उपलब्धिका प्रसंग आता है, अतः शब्दसंस्कार रूप अभिव्यक्ति तो ठीक नहीं है।

इन्द्रियसंस्कार रूप अभिव्यक्ति भी विचारपूर्ण नहीं है; क्योंकि श्रोत्रका एक बार संस्कार होनेपर एक साथ समस्त शब्दोंको ग्रहण करनेका प्रसंग आता है। बला नामकी औषधिके तेलसे संस्कारित कान किन्हीं शब्दोंको सुने और किन्हींको न सुने, ऐसा नहीं देखा जाता। शब्द और श्रोत्र दोनोंके संस्कारको अभिव्यक्ति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों पक्षोंमें जो दोष दिये हैं वे सब दोष इस पक्षमें आते हैं। अतः शब्दको नित्य और एकरूप माननेपर आवार्य-आवारकपना और व्यंग्य-व्यंजकपना नहीं बनता। इसलिए उच्चारणसे पहले शब्दकी अनुपलब्धिका कारण आवरण नहीं है। किन्तु ताल

आदिके व्यापारके पश्चात् शब्दकी उपलब्धि और तालु आदिके व्यापारके अभावमें शब्दकी अनुपलब्धि देखनेसे यही मानना पड़ता है कि शब्द तालु आदिके व्यापारसे उत्पन्न होता है।

अतः पहले जो यह कहा है—'विवादग्रस्त कालमें भी यही गकार आदि थे' वह ठीक नहीं है; क्योंकि उच्चारणके पश्चात् गकार आदिका विनाश प्रत्यक्षसे देखा जाता है। अतः कालान्तरमें उच्चारणके पश्चात् भी गकार आदिका सद्भाव सिद्ध करनेवाला अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित होनेके कारण गमक नहीं हो सकता। इस तरह तो बिजली वगैरहको भी नित्य सिद्ध किया जा सकता है। कहा जा सकता है—विवादग्रस्त कालमें भी बिजली थी; क्योंकि वह भी काल है, जैसे बिजलीसे सम्बद्ध काल। यदि बिजलीको नित्य सिद्ध करना प्रतीतिविरुद्ध है तो शब्दको भी नित्य सिद्ध करना प्रतीतिविरुद्ध है। इसलिए 'शब्द नित्य है क्योंकि श्रवणेन्द्रियका विषय है' इत्यादि कथन भी अयुक्त है। तथा ध्वनिके उदात्त आदि धर्मोंसे हेतु व्यभिचारी भी है; क्योंकि ध्वनिके धर्म उदात्त आदिको श्रवणेन्द्रियके विषय होनेपर भी मीमांसकोंने अनित्य माना है। यदि वे उदात्त आदि धर्म श्रवणेन्द्रियके विषय नहीं हैं तो श्रोत्रके द्वारा शब्दगत धर्म रूपसे उनकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए।

तथा जो यह कहा है—'विभिन्न देशों और विभिन्न कालोंमें जो गोशब्द आदि पाये जाते हैं वे सब एक ही गोशब्दके विषय हैं' वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि लिपिरूप गोशब्द बुद्धिसे इसमें व्यभिचार आता है। वह भी 'गो' इस उल्लेखपूर्वक उत्पन्न होती है, किन्तु उसका विषय एक ही गोशब्द नहीं है; क्योंकि लिपिरूप गोशब्द देशभेद और कालभेदसे भिन्न होता है।

तथा जो यह कहा है—'जो गोशब्द कल था वही आज भी है' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कलके और आजके गो शब्दकी भिन्नता प्रत्यक्षसिद्ध है। अन्यथा कलकी और आजकी बिजलीके प्रकाशको भी एक मानना होगा। कह सकते हैं कि कलवाला बिजलीका प्रकाश ही आज भी है; क्योंकि बिजलीका प्रकाश है। यदि प्रत्यक्षसे बिजलीका प्रकाश तीव्र, तीव्रतर आदि रूपसे विभिन्न स्वभाववाला प्रतीत होता है इसलिए उसका ऐक्य सिद्ध करनेवाला अनुमान ठीक नहीं है तो श्रोत्र प्रत्यक्षमें गोशब्द भी तीव्र आदि धर्मोंसे युक्त ही प्रतीत होता है अतः उसको भी एक सिद्ध करना ठीक नहीं है। यदि शब्दमें तीव्र आदि धर्म औपाधिक हैं तो बिजलीके प्रकाशमें वे औपाधिक क्यों नहीं है? शायद कहा जाये कि तीव्र, तीव्रतर आदि धर्मोंसे शून्य शुद्ध बिजलीका ज्ञान कभी भी नहीं होता अतः बिजलीमें तीव्रादि धर्म औपाधिक नहीं हैं तो तीव्रादि धर्मोंसे शून्य

शुद्ध शब्दकी प्रतीति स्वप्नमें भी नहीं होती। अतः शब्दको भी अनेक ही मानना चाहिए।

तथा जो यह कहा है—'शब्द नित्य है अन्यथा उससे अर्थका बोध नहीं हो सकता।' यह भी ठीक नहीं है, जैसे धूम वगैरह अनित्य हैं फिर भी सदृशताकी वजहसे अनित्य धूमसे भी सर्वत्र अग्निका ज्ञान होता देखा जाता है वैसे ही शब्दके अनित्य होनेपर भी उससे अर्थका ज्ञान हो सकता है। संकेत कालमें जिस धूमको देखा था सर्वत्र उसी धूमसे अग्निका ज्ञान होता है' ऐसा तो नियम नहीं है। रसोईघरमें देखे हुए धूमके सदृश पर्वतके धूमसे भी अग्निका ज्ञान होता है। रसोईघर और पर्वतके धूम एक नहीं हैं। अतः जैसे धूम सामान्यसे अग्निका ज्ञान होता है वैसे ही शब्द सामान्य अर्थका वाचक होता है। अतः चूँकि अनित्य शब्दसे भी अर्थका ज्ञान हो सकता है इसलिए उसे नित्य मानना ठीक नहीं है। अतः शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य है। तथा शब्द कार्य है; क्योंकि कारणोंके होनेपर उत्पन्न होता है और कारणोंके अभावमें उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार जब वर्ण पौरुषेय (पुरुषके प्रयत्नसे उत्पन्न) सिद्ध हो गये तो पद और वाक्य भी स्वयं ही पौरुषेय सिद्ध हो जाते हैं; क्योंकि वर्णोंके ही समुदायका नाम पद और पदोंके समुदायका नाम वाक्य है।

वेदको अपौरुषेय माननेवाले मीमांसकोंका पूर्वपक्ष—[1]मीमांसकका कहना है कि लौकिक शब्द भले ही पौरुषेय हों, किन्तु वैदिक शब्द पौरुषेय नहीं हैं; क्योंकि वेद अपौरुषेय है, वह किसी पुरुषका बनाया हुआ नहीं है। यह बात अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है। अनुमान इस प्रकार है– वेद अपौरुषेय है; क्योंकि स्मरण योग्य होते हुए भी उसके कर्ताका स्मरण नहीं है। जैसे आकाश। यह हेतु असिद्ध नहीं है; क्योंकि वेदके कर्ताका कभी भी किसीको स्मरण नहीं होता। यदि कोई वेदका कर्ता होता तो वेदार्थका अनुष्ठान करते समय अनुष्ठाता लोग उसके प्रामाण्यको सिद्ध करनेके लिए कर्ताका स्मरण अवश्य करते; क्योंकि जो लोग जिस अर्थका अनुष्ठान करते हैं वे अवश्य ही उस शास्त्रके कर्ताका स्मरण करते हैं। किन्तु वेदविहित अग्निष्टोम आदि यज्ञोंमें, जो बहुत धनव्यय तथा परिश्रमसाध्य हैं, तथा जिनका फल भी अदृष्ट है, बुद्धिमान् लोग निःसंशय प्रवृत्त होते हैं। यदि उनको वेदकी सत्यताका निश्चय न होता तो वे उसमें इस तरहसे कभी भी प्रवृत्त न होते और यह बात उसके उपदेष्टाके स्मरणके अभावमें घटित नहीं होती। जैसे लोग अपने पिता आदिका स्मरण करके, कि हमारे पिताने ऐसा करनेको कहा था उनके द्वारा उपदिष्ट कर्ममें प्रवृत होते हैं, इसी

१. न्या० कु० च०, पृ० ७२१। शाबरभा० १।१।५। बृहती० पृ० १७७।

तरह वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करते समय भी कर्ताका स्मरण होना चाहिए। किन्तु वेदार्थका अनुष्ठान करानेवाले प्रधान त्रैवणिकोंको भी वेदके कर्ताका स्मरण नहीं है। अतः निश्चित है कि वेदका कोई कर्ता नहीं है।

शायद कोई कहें कि वेद एक रचना है, अतः महाभारतकी तरह उसका भी कोई कर्ता होना चाहिए; किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कर्तृक रचनाओंसे वेदकी रचना विलक्षण है। केवल रचनामात्र देखकर कर्ताका अनुमान करना उचित नहीं है, अन्यथा किसी बुद्धिमान्को जगत्का रचयिता भी मानना पड़ेगा। इसलिए रचना मात्रसे वेदमें कर्ताकी आशंका करना अनुचित है। अतः वेदकी रचना अपौरुषेय है; क्योंकि कर्ताकी रचनाओंसे उसमें विलक्षणता पायी जाती है।

वेदका अध्ययन गुरुसे अध्ययनपूर्वक ही होता आया है; क्योंकि उसे वेदाध्ययन कहते हैं, जैसे आजकलका अध्ययन। तथा अतीत और अनागत काल भी वेदके कर्तासे रहित हैं; क्योंकि वे काल हैं, जैसे वर्तमान काल। इन दोनों अनुमानोंसे भी वेद अपौरुषेय सिद्ध है। शायद कोई कहें कि किसी आप्त पुरुषके द्वारा रचा गया न होनेसे वेद प्रमाण कैसे हैं? तो हमारा कहना है कि अपौरुषेय होनेसे ही वेद प्रमाण हैं; क्योंकि पुरुषके दोषोंके कारण ही वचन अप्रमाण होता है।

शंका—आप्त पुरुषके गुणोंके कारण ही शब्दमें प्रामाण्य (सचाई) आता है। और वेद आप्तके द्वारा रचित नहीं है। अतः वह प्रमाण नहीं है?

उत्तर—आप्त पुरुषके गुणोंके कारण शब्दमें प्रामाण्य नहीं आता। आप्त पुरुष शब्दोंका केवल उच्चारण करता है। और शब्द अपनी महिमासे ही अर्थका सच्चा ज्ञान कराता है। अतः वह स्वतः प्रमाण है।

शंका—तब तो अनाप्त पुरुष भी शब्दोंका केवल उच्चारण ही करता है। और शब्द अपनी महिमासे ही असत्य ज्ञान कराता है अतः वह स्वतः अप्रमाण क्यों नहीं है?

उत्तर—नहीं; क्योंकि अनाप्त रचित होना आदि दोषोंका अप्रामाण्यकी उत्पत्ति करनेके सिवाय दूसरा कोई काम नहीं है। और आप्त रचित होना आदि गुणोंका काम तो केवल दोषोंको दूर करना मात्र है। अतः प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः उत्पन्न होता है।

शंका—जब वेद आप्त रचित भी नहीं है और अनाप्त रचित भी नहीं है तो न वह प्रमाण ही कहा जायेगा और न अप्रमाण ही कहा जायेगा?

---

१ मी० श्लो० वाक्याधि०, श्लो० ३६६। शास्त्रदी०, पृ० ६१७।

उत्तर—जिस वचनकी पदरचना पुरुषकृत होती है उसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य पुरुषकी प्रमाणता अथवा अप्रमाणतापर निर्भर है। किन्तु वेदकी रचना तो नित्य है वह अपनी सामर्थ्यसे ही अपने अर्थका ज्ञान करानेमें समर्थ है अतः उसका प्रामाण्य पुरुषके प्रामाण्य पर निर्भर नहीं है। अतः नित्य वेद स्वतः ही प्रमाण है।

उत्तरपक्ष—वेदके अपौरुषेयत्वकी समीक्षा—[1] जैनोंका कहना है कि 'वेद अपौरुषेय है; क्योंकि स्मरण योग्य होते हुए भी उसके कर्ताका स्मरण नहीं होता, इत्यादि कथन समीचीन नहीं है; क्योंकि कर्ताका स्मरण नहीं होनेका आशय यदि 'कर्ताके स्मरणका अभाव है तो हेतु व्यधिकरणासिद्ध ठहरता है अर्थात् साध्य भिन्न अधिकरणमें रहता है और हेतु भिन्न अधिकरणमें रहता है; क्योंकि कर्ताके स्मरणका अभाव तो आत्मामें रहता है और साध्य अपौरुषेयत्व वेदमें रहता है। तथा हेतु अज्ञातसिद्ध भी है; क्योंकि उसका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। कर्ताके स्मरणका अभाव प्रत्यक्षका तो विषय नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष तो नियत रूपादिको ही जान सकता है, अभावको नहीं जान सकता। यदि प्रत्यक्ष अभावको भी जान लेगा तो मीमांसकोंके अभाव प्रमाणकी कल्पना निरर्थक ही हो जायेगी। यदि अभावप्रमाण 'कर्ताके स्मरणके अभाव'को जानता है तो मीमांसकके मतानुसार अभावप्रमाणकी प्रवृत्तिके लिए सबसे प्रथम निषेध्य कर्तृस्मरणके अभावका आधारभूत वस्तुका ग्रहण होना जरूरी है। अतः यह बतलाइए कि कर्ताके स्मरणके अभावका आधार कौन है स्वात्मा अथवा सारे प्रमाता (जाननेवाले)? यदि स्वात्मा है तो 'मेरी आत्मामें वेदके कर्ताका स्मरण नहीं है' क्या इतनेसे ही कर्ताके स्मरणका अभाव सिद्ध हो जायेगा? अनेक पदार्थोंका स्मरण मेरी आत्मामें नहीं है, किन्तु इससे उन सबका अभाव सिद्ध नहीं होता। यदि कर्ताके स्मरणके अभावका आधार सारे प्रमाता जन हैं तो 'तीनों लोकोंके प्रमातागण वेदके कर्ताका स्मरण नहीं करते' यह बात असर्वज्ञ व्यक्ति नहीं जान सकता और यदि कोई जानता है तो सर्वज्ञताका प्रसंग आता है।

तथा सब देशोंमें जाकर और वहाँके प्रमाताओंसे पूछकर उन सब देशोंमें कर्ताके स्मरणका अभाव जाना जाता है, या बिना वहाँ जाये ही? बिना वहाँ जाये ही कर्ताके स्मरणका अभाव जान लेना तो मीमांसक मतके विरुद्ध है; क्योंकि मीमांसाश्लोकवार्तिक (अर्था०, श्लो० ३७)में कहा है कि 'उन-उन देशोंमें जानेपर भी यदि वह अर्थ न मिले तो उसे असत् मानना चाहिए' अतः कर्ताके

१—न्या० कु० च०, पृ० ७२४।७२६। प्रमेयक० मा०, पृ० ३९१-४०३।

स्मरणका अभाव जाननेके लिए सब देशोंमें जाना जरूरी है। अब सब देशोंमें जानेपर और वहांके लोगोंसे पूछनेपर यदि वे लोग कहें भी कि हमें वेदके कर्ताका स्मरण नहीं है तो भी उन मनुष्योंका यह विश्वास कैसे किया जाये कि वे सब सच कहते हैं ? उन सबकी आप्तताका ज्ञान होना तो सम्भव नहीं है।

तथा मीमांसकोंका यह भी कथन है कि अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ वस्तुका अस्तित्व जाननेवाले पाँचों प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु जब वेद स्वयं ही अपने कर्ताका अस्तित्व बतलाता है तो उसमें अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। 'स हि रुद्रं वेदकर्तारम्' (वेदका कर्ता रुद्र है) 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति' (जो पहले ब्रह्माको रचता है फिर वेदोंको रचता है), 'तथा प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत, ततः त्रयो वेदाः अन्वसृज्यन्त' (प्रजापतिने सोम राजाको रचा, फिर तीनों वेद रचे) इत्यादि श्रुति वेदके कर्ताको बतलाती है। तथा पौराणिक ब्रह्माको वेदका कर्ता बतलाते हैं, योग महेश्वरको वेदका कर्ता कहते हैं और जैन उसे कालासुरकी कृति बतलाते हैं।

तथा स्मृति-पुराण आदिकी तरह वेदकी शाखाएँ ऋषियोंके नामसे अंकित हैं जैसे काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तिरीय आदि। इनके ऋषिनामांकित होनेका क्या कारण है ? जिन ऋषियोंके नामसे ये शाखाएँ अंकित हैं वे उनके कर्ता थे, अथवा द्रष्टा थे अथवा उन्होंने उनका प्रकाश किया था ? प्रथम पक्षमें वे अपौरुषेय कैसे हुई अथवा उनके कर्ताका अ-स्मरण कहाँ रहा ? शेष दो पक्षोंमें यदि कण्व आदि ऋषियोंने नष्ट हुई अथवा विस्मृत हुई वेदकी शाखाओंको देखा अथवा उन्हें प्रकाशित किया तो फिर उन शाखाओंकी परम्परा अविच्छिन्न कहाँ रही और कैसे मीमांसक अतीन्द्रियदर्शी पुरुषका निषेध करते हैं ?

मीमांसक—अविच्छिन्न शाखाओंको ही उन-उन सम्प्रदायोंने देखा अथवा प्रकाशित किया ?

जैन—तो फिर जितने उपाध्यायोंने शाखाको देखा या प्रकाशित किया उन सबके नामसे वह शाखा अंकित होनी चाहिए।

मीमांसक—यद्यपि योग वगैरह वेदका कर्ता मानते हैं, किन्तु 'कर्ता कौन है ?' इसमें विवाद है। अतः उनका कर्तृस्मरण अप्रमाण है ?

जैन—तो विवाद इसमें है कि कर्ता कौन है ? न कि कर्ताके होने और न होनेमें ? ऐसी स्थितिमें कर्ताविशेषका स्मरण ही अप्रमाण हो सकता है, न कि कर्तामात्रका स्मरण। अन्यथा कादम्बरी वगैरह ग्रन्थोंके भी कर्ताविशेषको लेकर विवाद है अतः वह भी अपौरुषेय हो जायेंगे।

मीमांसक—वेदमें केवल कर्ता विशेषको लेकर ही विवाद नहीं किन्तु कर्ता सामान्यको लेकर भी विवाद है अतः वेदमें कर्तासामान्यका स्मरण भी अप्रमाण है। किन्तु कादम्बरी वगैरहमें तो कर्ताविशेषमें ही विवाद है अतः उसके कर्ता-सामान्यका स्मरण अप्रमाण नहीं है ?

जैन—जैन, बौद्ध वगैरह वेदके कर्ताका स्मरण करते हैं, मीमांसक नहीं करते। इस प्रकार कर्तामात्रमें विवाद होनेके कारण यदि कर्तृमात्रका स्मरण अप्रमाण है तो कर्ताके स्मरणकी तरह कर्ताका अस्मरण अप्रमाण क्यों नहीं है, विवाद तो दोनों ही पक्षोंमें है। अतः वेदको अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिए दिया गया 'कर्ताके स्मरणका अभाव' रूप हेतु असिद्ध है। तथा विरुद्ध भी है क्योंकि उसीके कर्ताका स्मरण अथवा अस्मरण होता है जो कार्य होता है। कुछ कार्य ऐसे हैं जिनके कर्ताका स्मरण होता है, जैसे घर। और कुछ कार्य ऐसे हैं जिनके कर्ताका स्मरण नहीं होता, जैसे पुराने मकान वगैरह। अतः कर्ताके स्मरणका अभाव होनेसे वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता।

तथा जो यह कहा था कि 'जो जिस अर्थका अनुष्ठान करता है वह अवश्य उसके कर्ताका स्मरण करता है,' वह भी ठीक नहीं हैं क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है। कर्ताका स्मरण किये बिना ही उनके वचनोंसे अनुष्ठान करते हुए देखा जाता है। अतः महाभारत आदिकी तरह ही वेद भी पौरुषेय है क्योंकि वह पदवाक्यात्मक रचना रूप है।

वेदकी रचनाको जो अन्य रचनाओंसे विलक्षण कहा गया है सो उसमें क्या विलक्षणता है ? उसका उच्चारण करना बहुत कठिन है, अथवा सुननेमें वह बड़ा विचित्र लगता है, अथवा उसकी शब्दरचना लोकप्रसिद्ध व्याकरण-शास्त्रसे विलक्षण है, अथवा उसके छन्द विचित्र हैं, अथवा उसमें अतीन्द्रिय वस्तुओंका कथन है अथवा उसमें महाप्रभावशाली मन्त्र पाये जाते हैं ? ये सभी बातें पुरुषोंके लिए दुष्कर नहीं हैं तथा पुरुषरचित होनेसे ही मन्त्र महाप्रभाव शाली होते हैं। अत्यन्त प्रभावशाली पुरुषके द्वारा 'अमुक मन्त्रसे इसको इस फलकी प्राप्ति हो' ऐसा अनुसन्धान करके जिस-किसी भाषामें जब मन्त्रका प्रयोग किया जाता है तो उस पुरुषके प्रभावके कारण ही उस मन्त्रमें उस प्रकारका कार्य करनेकी सामर्थ्य होती है। आज भी महाप्रभावशाली मन्त्रवादीके आज्ञा देनेसे ज्वर आदिका उच्चाटन तथा विषका अपहार होता देखा जाता है।

तथा, वेदकी विशिष्ट रचनाको देखनेसे उस प्रकारकी रचना करनेमें असमर्थ कर्ताका ही निराकरण होता है, न कि कर्तामात्रका। प्राचीन खण्डोंकी विशिष्ट

रचना देखकर यह कोई नहीं कहता कि यह अकृत्रिम है बल्कि सब यही कहते हैं कि यह किसी साधारण शिल्पीका काम नहीं है। अतः 'वेद अपौरुषेय है' इत्यादि अनुमान ठीक नहीं है।

तथा जो यह कहा है कि 'वेदका अध्ययन गुरुसे अध्ययनपूर्वक ही होता आता है, क्योंकि उसे वेदका अध्ययन कहते हैं' यह भी अनैकान्तिक दोषसे दुष्ट होनेके कारण ठीक नहीं है, क्योंकि वेदका अध्ययन अध्ययनान्तरपूर्वक न हो इसमें क्या विरोध है? आशय यह है कि 'वेदका अध्ययन कहते हैं' इस हेतुमें अध्ययनके साथ जो वेद विशेषण जोड़ा गया है, वह विशेषण यदि विपक्षसे विरुद्ध हो तो हेतुको विपक्षमें जानेसे रोकता है। उक्त अनुमानमें विपक्ष हैं वे सकर्तृक ग्रन्थ जिनका अध्ययन गुरुसे अध्ययन किये बिना भी होता है। किन्तु वेदाध्ययनमें ऐसी कौन-सी विशेषता है जिससे स्वयं वेदाध्ययन नहीं किया जा सकता? अतः सकर्तृक भारतके अध्ययनकी तरह सकर्तृक होनेपर भी वेदाध्ययन गुरुसे अध्ययन-पूर्वक हो सकता है। इसलिए इससे वेदको अपौरुषेय सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अतः वेदके अपौरुषेयत्वका साधक कोई प्रमाण नहीं होनेसे उसे अपौरुषेय कैसे माना जा सकता है? ज़रा देरके लिए उसे अपौरुषेय मान भी लिया जाये तो यह प्रश्न पैदा होता है कि व्याख्यात वेद अपने अर्थका बोध कराता है या अव्याख्यात वेद अपने अर्थका बोध कराता है? अव्याख्यात वेद तो अपने अर्थका ज्ञान नहीं करा सकता। अतः व्याख्यात वेद ही अपने अर्थका ज्ञान कराता है यही मानना पड़ता है। अब प्रश्न यह होता है कि वेद स्वयं अपना व्याख्यान करता है, या पुरुष उसका व्याख्यान करता है? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि 'मेरे वाक्योंका यही अर्थ है, अन्य नहीं है' यह बात स्वयं वेद नहीं कह सकता। यदि वेद स्वयं ही अपने अर्थको बतलाता होता तो वेदके व्याख्यानमें मतभेद न होता। यदि पुरुषके द्वारा व्याख्यात वेद अपने अर्थको कहता है तो पुरुषके द्वारा किये गये व्याख्यानसे जो अर्थका ज्ञान होगा उसके सदोष होनेकी आशंकाका निराकरण कैसे किया जायेगा। क्योंकि मनुष्य रागादि-दोषोंसे दूषित हैं, अतः वे विपरीत अर्थका कथन भी करते हुए देखे जाते हैं। यदि संवादसे प्रामाण्य स्वीकार करते हैं तो वेदके अपौरुषेयत्वकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है क्योंकि वेदके पौरुषेय होनेपर भी संवादसे ही उसमें प्रामाण्य स्थापित होता है।

तथा वेदका व्याख्याता अतीन्द्रियदर्शी है अथवा नहीं है? यदि वह अतीन्द्रियदर्शी है तो फिर आप सर्वज्ञका निषेध नहीं कर सकते। और धर्मके विषयमें उसे ही प्रमाण मानना होगा। ऐसा होनेसे 'धर्मके विषयमें वेद ही प्रमाण है' यह नियम नहीं रह सकता। यदि व्याख्याता अतीन्द्रियदर्शी नहीं है तो उसके व्याख्यानसे यथार्थप्रतिपत्ति कैसे होगी, उसमें अयथार्थ कथनकी आशंका बनी रहेगी।

मीमांसक—मनु वगैरह विशिष्ट बुद्धिमान् थे, अतः उनके व्याख्यानसे यथार्थ प्रतिपत्ति हो होती है।

जैन—मनु वगैरहकी बुद्धिके विशिष्ट होनेका क्या कारण है? वेदार्थका अभ्यास, अदृष्ट अथवा ब्रह्मा? यदि वेदार्थका अभ्यास करनेसे मनुकी बुद्धि विशिष्ट थी तो उन्होंने वेदार्थको जानकर उसका अभ्यास किया था या बिना जाने ही? बिना जाने वेदार्थका अभ्यास करनेसे बुद्धिका वैशिष्ट्य माननेमें बहुत गड़बड़ी उपस्थित होगी। दूसरे पक्षमें उन्होंने वेदार्थको स्वयं जाना या दूसरेसे जाना? यदि स्वयं जाना तो अन्योन्याश्रय दोष आता है – वेदार्थका अभ्यास होनेपर स्वयं उसका परिज्ञान हो और स्वयं उसका परिज्ञान होनेपर वेदार्थका अभ्यास हो। यदि मनु वगैरहने दूसरेसे वेदार्थका ज्ञान किया तो उस दूसरे व्यक्तिको भी वेदार्थका ज्ञान किसी अन्य व्यक्तिसे हो हुआ होगा। और ऐसा होनेसे अतीन्द्रियदर्शी पुरुषके अभावमें यथार्थताका निर्णय नहीं हो सकेगा।

अदृष्टके कारण भी मनु वगैरहका विशिष्ट बुद्धिशाली होना नहीं बनता; क्योंकि अदृष्ट तो सभी आत्माओंके साथ लगा हुआ है, अतः सभीको विशिष्ट बुद्धिशाली होना चाहिए। शायद कहा जाये कि अन्य आत्माओंका अदृष्ट वैसा नहीं है जैसा मनुका था तो यह बतलाना चाहिए कि मनुका अदृष्ट आत्मान्तरोंसे क्यों विशिष्ट था? यदि वेदार्थका अनुष्ठाता होनेके कारण मनुका अदृष्ट विशिष्ट था तो पुनः उक्त प्रश्नोंकी अनुवृत्ति होती है कि मनु ज्ञात वेदार्थके अनुष्ठाता थे अथवा अज्ञात वेदार्थके अनुष्ठाता थे। अतः अदृष्टके कारण भी मनुका विशिष्ट बुद्धिशाली होना नहीं बनता।

ब्रह्माको भी वेदार्थका ज्ञान सिद्ध होनेपर ही ब्रह्माके कारण मनु वगैरहको वेदार्थके ज्ञानका वैशिष्ट्य सिद्ध हो सकता है। अतः यह प्रश्न होता है कि ब्रह्माको वेदार्थका ज्ञान कैसे हुआ था? यदि धर्मविशेषके कारण हुआ था तो चक्रक नामका दोष आता है – ब्रह्माको वेदार्थका विशिष्ट ज्ञान था, जब यह बात सिद्ध हो जाये तो वेदार्थका ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करना सिद्ध हो और वेदार्थका ज्ञान-

पूर्वक अनुष्ठान सिद्ध होनेपर धर्मविशेष सिद्ध हो। और धर्मविशेष सिद्ध होनेपर वेदार्थके ज्ञानका वैशिष्ट्य सिद्ध हो। अतः अतीन्द्रियदर्शी पुरुषको न माननेपर वेदार्थका ज्ञान नहीं बनता।

मीमांसक—व्याकरण वगैरहके अभ्याससे लौकिक पदों और वाक्योंके अर्थका ज्ञान हो जानेपर वैदिक पदों और वाक्योंके अर्थका ज्ञान भी हो ही जायेगा; क्योंकि लौकिक और वैदिक पदोंमें कोई अन्तर नहीं है। और इसलिए वेदार्थको जाननेके लिए किसी अतीन्द्रियदर्शीकी आवश्यकता नहीं है?

जैन—लौकिक और वैदिक पदोंके एक होनेपर भी एक-एक पदके अनेक अर्थ होते हैं। अतः अन्य अर्थोंका निरास करके इष्ट अर्थका नियमन करना कि 'इसका यही अर्थ है' शक्य नहीं है। प्रकरण वगैरहको विचार करके भी इष्ट अर्थका नियमन नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रकरण वगैरह भी अनेक हो सकते हैं, जैसे द्विसन्धान नामक काव्यमें एक साथ दो कथाएँ चलती हैं।

तथा यदि लौकिक अग्नि आदि शब्दोंके समान होनेसे वैदिक अग्नि आदि शब्दोंका अर्थ जाना जाता है तो पौरुषेयत्वकी दृष्टिसे भी समान होनेसे वैदिक शब्द पौरुषेय क्यों नहीं हैं। लौकिक अग्नि आदि शब्द पौरुषेय होते हुए भी अर्थवान् हैं। ऐसी स्थितिमें वैदिक अग्नि आदि शब्द लौकिक शब्दोंके पौरुषेयत्व धर्मको छोड़कर केवल उनका अर्थ ही कैसे ग्रहण कर सकते हैं? या तो उन्हें लौकिक शब्दोंकी दोनों बातोंको ग्रहण करना चाहिए या एकको भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। लौकिक और वैदिक शब्दोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही संकेत ग्रहणकी अपेक्षासे ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं, दोनों ही उच्चारण न किये जानेपर सुनाई नहीं देते तब फिर अन्य कौन-सी विशेषता है जिसके कारण वैदिक शब्दोंको अपौरुषेय और लौकिक शब्दोंको पौरुषेय माना जाये। अतः वेद अपौरुषेय नहीं है।

स्फोटवादी वैयाकरणोंका पूर्वपक्ष—[1]वैयाकरणोंका कहना है कि वर्ण, पद और वाक्य अर्थके प्रतिपादक नहीं हैं किन्तु स्फोट ही अर्थका प्रतिपादक है। यदि वे अर्थके प्रतिपादक हैं तो समस्त वर्ण अर्थका प्रतिपादन करते हैं अथवा व्यस्त वर्ण भी अर्थका प्रतिपादन करते हैं। यदि व्यस्त वर्ण भी अर्थका प्रतिपादन करते हैं तो एक वर्णसे भी गो आदि अर्थका ज्ञान हो जानेसे अन्य वर्णोंका उच्चारण करना व्यर्थ है। यदि समस्त वर्ण अर्थका प्रतिपादन करते हैं तो यह

१. न्या० कु० च०, पृ० ७४५। स्फोट सि० का० २६, ३६।

सम्भव नहीं है, क्योंकि क्रमसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले वर्णोंका सामस्त्य (समूह) होना असम्भव है। शायद आप कहें कि सब वर्ण एक साथ उत्पन्न हो जायेंगे अतः उनका समूह बन जायेगा। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि एक पुरुष सब वर्णोंको एक साथ उत्पन्न नहीं कर सकता। और एक साथ उत्पन्न न कर सकनेका कारण यह है प्रत्येक वर्ण प्रतिनियत स्थान, प्रतिनियत करण और प्रतिनियत प्रयत्नसे उत्पन्न होता है। शायद आप कहें कि एक पुरुषने 'ग' शब्दका उच्चारण किया और दूसरे पुरुषने 'ओ' शब्दका उच्चारण किया। दोनोंका समुदाय 'ग-ओ' कर देनेसे उससे अर्थकी प्रतीति हो जायेगी! किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिनियत वर्णोंकी क्रमसे प्रतिपत्ति होनेके उत्तर कालमें ही शाब्दप्रतीति देखी जाती है।

शायद कहा जाये कि अन्यवर्णोंकी अपेक्षा न करके 'गौ' शब्दमें अन्तिम वर्ण 'औ' है वही अर्थका प्रतिपादक है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे पूर्व 'ग' आदि वर्णोंका उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। अतः समस्त अथवा व्यस्तवर्ण अर्थके प्रतिपादक (कहनेवाले) नहीं हैं। किन्तु 'गौ' आदि शब्दोंको सुनकर श्रोताओंको अर्थकी प्रतीति होती है। अतः यह मानना पड़ता है कि अर्थकी प्रतीतिमें हेतु एक स्फोट नामक तत्त्व है। प्रत्यक्षसे उसीकी प्रतीति होती है। क्योंकि विभिन्न आकारवाले वर्णोंमें होनेवाला अभिन्नाकार प्रत्यक्ष स्फोटके सद्भावको ही बतलाता है।

तथा वह स्फोट[1] नित्य है। यदि उसे अनित्य माना जायेगा तो संकेतकालमें अनुभूत स्फोटका उसी समय विनाश हो जानेसे कालान्तर तथा देशान्तरमें 'गौ' शब्दको सुनकर उससे अर्थकी प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि संकेतरहित शब्दसे अर्थकी प्रतीति होना असम्भव है। यदि बिना संकेत किये शब्दसे भी अर्थकी प्रतीति सम्भव हो तो द्वीपान्तरसे आये हुए मनुष्यको भी 'गौ' शब्दके सुननेसे गायरूप अर्थकी प्रतीतिका प्रसंग उपस्थित होगा। तथा 'गौ' शब्दका अर्थ गाय होता है इस प्रकारका संकेत ग्रहण करना भी व्यर्थ हो जायेगा। अतः नित्य एक अखण्ड स्फोट ही अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु है। वर्णध्वनि उसको ही अभिव्यक्त करके नष्ट हो जाती है।

उत्तरपक्ष—जैनों[2]का कहना है कि पूर्व वर्णोंके नाशसे विशिष्ट अन्तिम वर्णसे ही अर्थका बोध हो जाता है, अथवा यह कहना चाहिए कि पूर्व वर्णोंके ज्ञानके

१. वाक्य० १।१।

२. न्या० कु० च०, पृ० ७५०-७५७। प्रमे० क० मा०, पृ० ४५३-४५७।

संस्कारसे सहित अन्तिम वर्ण अर्थकी प्रतीति कराता है, इसका क्रम इस प्रकार है—प्रथम वर्णका ज्ञान, उससे संस्कारकी उत्पत्ति, फिर दूसरे वर्णका ज्ञान, पूर्व-वर्णज्ञानके संस्कारसे सहित उस ज्ञानसे विशिष्ट संस्कारका जन्म, इसी तरह तीसरे आदि वर्णोंके विषयमें भी, अर्थकी प्रतीति करानेवाले अन्तिम वर्णके सहायक अन्तिम संस्कार तक, यही क्रम जानना चाहिए। अथवा, शब्दार्थकी उपलब्धिमें निमित्त अदृष्टकी नियामकताके कारण, अविनष्ट ही पूर्ववर्णज्ञान और उनके संस्कार अन्तिम वर्णके संस्कारको करते हैं। और उस संस्कारसे उत्पन्न स्मृतिकी सहायतासे अन्तिम वर्ण पदार्थका ज्ञान कराता है। वाक्यसे अर्थका ज्ञान होनेमें भी यही नियम जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त सहकारी कारणोंकी अपेक्षा लेकर अन्तिम वर्ण अर्थका ज्ञान कराता है। अतः स्फोटकी कल्पना निरर्थक है; क्योंकि स्फोटके अभावमें भी उक्त प्रकारसे जब अर्थकी प्रतिपत्ति हो सकती है तो उसके आधारपर स्फोटकी कल्पना नहीं की जा सकती। जब दृष्ट कारणसे ही कार्य उत्पन्न हो सकता है तो अदृष्ट कारणान्तरकी कल्पना करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

तथा यदि समस्त अथवा व्यस्त वर्ण अर्थका ज्ञान करानेमें असमर्थ हैं तो वे स्फोटको अभिव्यक्त करनेमें भी समर्थ नहीं हो सकते। इसका खुलासा—समस्त वर्ण स्फोटकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकते; क्योंकि उक्त प्रकारसे उनका समुदाय नहीं बन सकता। व्यस्त वर्ण भी स्फोटकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकते, क्योंकि एक ही वर्णसे स्फोटको अभिव्यक्ति हो जानेपर अन्य वर्णोंका उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। शायद कहा जाये कि पूर्व वर्ण स्फोटका संस्कार करते हैं और अन्तिम वर्ण स्फोटकी अभिव्यक्ति करता है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि स्फोटका अभिव्यक्तिके सिवाय दूसरा संस्कार क्या हो सकता है ?

तथा वर्णोंके द्वारा होनेवाला यह संस्कार स्फोट ही है अथवा उसका धर्म है। यदि वर्णोंके द्वारा किये जानेवाले संस्कारका नाम ही स्फोट है तो स्फोट वर्णोंके द्वारा उत्पन्न हुआ कहा जायेगा। यदि वह संस्कार स्फोटरूप न होकर स्फोटका धर्म है तो वह स्फोटसे भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि वह संस्कार रूप धर्म स्फोटसे अभिन्न है तो वर्णोंके द्वारा उसकी उत्पत्ति स्फोटकी ही उत्पत्ति हुई। और ऐसा होनेसे स्फोट अनित्य हो जायेगा। यदि वह संस्कार स्फोटसे भिन्न है तो 'यह संस्कार स्फोटका है' यह सम्बन्ध नहीं बन सकता; क्योंकि वह उसका कुछ उपकार नहीं करता। यदि संस्कार स्फोटका कुछ उपकार करता है तो वह उपकार भी उससे भिन्न है अथवा अभिन्न है ? उन दोनों विकल्पोंमें पूर्वोक्त दोष आते हैं।

तथा स्फोटके संस्कारसे आपका क्या अभिप्राय है ? स्फोटविषयक ज्ञानका होना अथवा स्फोटके ऊपरसे आवरणका हटना ? यदि संस्कारसे मतलब आवरणके हट जानेसे है तो एक बार एक जगह आवरणके हट जानेपर सर्वदा सब पुरुषोंको स्फोटकी अभिव्यक्तिका प्रसंग उपस्थित होगा; क्योंकि स्फोटको आपने नित्य व्यापक और एक माना है। यदि स्फोटका आवरण पूरा न हटकर एकदेशसे हटता है तो ऐसा माननेपर स्फोट सावयव ठहरता है। और सावयव होनेसे वह कार्य ठहरता है और कार्य होनेसे अनित्य ठहरता है। इस दोषके भयसे यदि स्फोटको एक जगह निरावरण होनेसे सर्वत्र निरावरण मानते हो तो सर्वत्र सर्वदा सब मनुष्योंको उसकी उपलब्धि होनेका प्रसंग आता है।

यदि संस्कारसे मतलब स्फोटविषयक ज्ञानसे है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे वर्ण अर्थका ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते वैसे ही स्फोटका ज्ञान भी उत्पन्न नहीं कर सकते।

वैया०—पूर्व वर्णोंके ज्ञानके संस्कारसे युक्त आत्माको अन्तिम वर्णके सुननेके पश्चात् स्फोटकी अभिव्यक्ति होती है, अतः कोई दोष नहीं है।

जैन—तो फिर इस तरह तो पूर्ववर्णोंके ज्ञानके संस्कारसे युक्त आत्माको अन्तिम वर्णके सुननेके पश्चात् पदार्थका ज्ञान ही हो जायेगा तब स्फोटके माननेकी क्या आवश्यकता है ? चेतन आत्माके सिवाय अन्य किसी तत्त्वमें अर्थ प्रकाशनकी सामर्थ्य सम्भव नहीं है। अतः विशिष्ट शक्तिवाले उस चिदात्माका ही नाम स्फोट रखना हो तो रख लें। जिसमें अर्थ स्फुट होता है उसे स्फोट कहते हैं। अतः चिदात्माके सिवाय स्फोट नामका कोई तत्त्व नहीं है।

'वायु स्फोटकी अभिव्यक्ति करती है' यह कथन भी ठीक नहीं है। जैसे वायुओंसे शब्दकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती वैसे ही उनसे स्फोटकी अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती, यदि वायु स्फोटकी अभिव्यक्ति करती है तो वर्णोंकी कल्पना व्यर्थ हो जायेगी क्योंकि वर्णोंसे न तो स्फोटकी अभिव्यक्ति आप मानते हैं और न अर्थकी प्रतिपत्ति मानते हैं।

तथा वर्णोंकी अथवा वायुओंकी उत्पत्तिसे पहले यदि स्फोटका सद्भाव सिद्ध हो तो वर्ण अथवा वायुको स्फोटके अभिव्यंजक मानना उचित हो सकता है। किन्तु स्फोटका सद्भाव किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है अतः विचार करनेपर स्फोटका स्वरूप नहीं बनता, इसलिए स्फोटको पदार्थकी प्रतिपत्तिमें कारण नहीं मानना चाहिए। किन्तु गौ आदि शब्दोंको ही पदार्थकी प्रतिपत्तिमें कारण मानना चाहिए।

संस्कृत शब्दोंको ही अर्थका वाचक माननेवाले मीमांसक और वैयाकरणोंका पूर्वपक्ष—वैयाकरण[1] आदिका कहना है कि एक शब्दको भी सम्यक्रीतिसे जानकर शास्त्रानुसार उसका शुद्ध प्रयोग करनेसे इस लोक और परलोकमें इच्छित फलकी प्राप्ति होती है। अर्थका ज्ञान करानेमें संस्कृत भाषाके शब्द ही कारण हो सकते हैं, प्राकृत भाषाके शब्द नहीं। अतः व्याकरणसे सिद्ध 'गौ' आदि शब्द ही साधु है और इसलिए वे ही अर्थके वाचक हो सकते हैं, 'गौ' शब्दके अपभ्रंश 'गावी' 'गोणी' आदि शब्द अर्थके वाचक नहीं हो सकते क्योंकि वे शुद्ध नहीं हैं।

वृद्धपरम्पराके अनुसार अन्वय और व्यतिरेकके आधारपर वाच्य-वाचक भावकी व्यवस्था की जाती है। जब एक गो शब्दकी एक गोत्वलक्षणरूप अर्थमें शक्ति मानकर अन्वय-व्यतिरेक निश्चित हो गये तो वे अन्वय-व्यतिरेक गोशब्दसे भिन्न गावी आदि शब्दोंकी उसी गोत्वरूप अर्थमें शक्ति नहीं मान सकते। क्योंकि जो जिसके बिना नहीं होता वह उसको अपनो उत्पत्तिमें कारण नहीं मानता है। और जो जिसके बिना भो हो जाता है वह उसको अपनी उत्पत्ति में कारण नहीं मानता।

शायद कहा जाये कि अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा जब 'गावी' शब्दसे भी अर्थकी प्रतीति हो सकती है तो गावी शब्द वाचक क्यों नहीं है? किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'गावी' शब्दमें अन्वयव्यतिरेक दूसरी तरहसे बनता है। यद्यपि 'गावी' शब्द वाचक नहीं है, फिर भी 'गावी' शब्दको सुनकर श्रोताको वाचक गोशब्दकी स्मृति होती है और फिर उससे अर्थकी प्रतिपत्ति होती है। देखा जाता है कि अशुद्ध शब्दका प्रयोग किये जानेपर पहले शुद्ध शब्दका स्मरण होता है फिर उससे अर्थका ज्ञान होता है। जैसे, बालक माताको पुकारनेके लिए 'अम्ब' कहना चाहता है किन्तु उच्चारण करनेमें असमर्थ होनेके कारण 'अम्म्' 'अम्म्' चिल्लाता है। माता उसकी पुकार सुनकर सोचती है कि बच्चेने 'अम्ब' शब्दके स्थानमें 'अम्म्' शब्द कहा है। अतः अशुद्ध 'अम्म्' शब्दसे शुद्ध 'अम्ब' शब्दका स्मरण करके ही माता उसका अर्थज्ञान करती है। तथा पूरबमें 'षंढ' शब्दके स्थानमें 'संढ' शब्दका उच्चारण होता है। व्यवहारी पुरुष संढ शब्दको सुनकर जान लेता है कि इसने 'षंढ' शब्दके स्थानमें 'संढ' शब्दका उच्चारण किया है। अतः वह शुद्ध 'षंढ' शब्दका स्मरण करके ही उसका अर्थ जानता है। इसी तरह अशुद्ध 'गावी' शब्दसे शुद्ध 'गौ' शब्दको

१. न्या० कु० च०, पृ० ७५७। पात०महा०—६।१।८४। वाक्यप० पु० टी० १।१३। तन्त्रवा०, पृ० २७८ तथा २८७।

स्मरण करके ही व्यवहारी पुरुष उसका अर्थ जानता है। अतः गावी शब्दमें दूसरे प्रकारसे ही अन्वय-व्यतिरेक बनते हैं। इसलिए अन्वय-व्यतिरेकके आधार-पर 'गावी'शब्दको वाचक नहीं माना जा सकता। जहाँ अन्वय-व्यतिरेक अनन्यथासिद्ध होते हैं वहीं वे वाचकत्वका नियम करते हैं। किन्तु उक्त प्रकारसे 'गावी' शब्दमें अन्वय-व्यतिरेक निश्चित नहीं है अतः गावी शब्दके वाचकत्वका नियम नहीं बन सकता। गोशब्दमें अन्वयव्यतिरेक तो वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षोंको मान्य है। अतः गौशब्द ही गोत्वरूप अर्थका वाचक है। तथा सब देशोंमें, सब कालोंमें और सब शास्त्रोंमें गौशब्द एक ही रूपसे प्रतीत होता है अतः उसे ही वाचक मानना ठीक है। किन्तु 'गावी' आदि भ्रष्ट शब्दोंका प्रयोग तो नियतदेश और नियतकालमें कुछ पुरुषोंमें देखा जाता है अतः 'गावी' शब्द वाचक नहीं है। क्योंकि देशान्तरमें रहनेवाले जिन मनुष्योंने 'गावी' आदि शब्दोंमें संकेत ग्रहण नहीं किया वे उन शब्दोंसे अर्थबोध नहीं कर सकते। अतः व्याकरण वगैरहसे सिद्ध 'गौ' आदि शब्द ही शुद्ध हैं, उन्हींसे अर्थका बोध होता है। जैसे 'गामानय' (गौको लाओ) कहनेपर गलकम्बलसे विशिष्ट पशुको लानेका ज्ञान होता है। अतः इससे जैसे यह निर्धारित किया जाता है कि 'गो' शब्दका अर्थ गलकम्बलवाला पदार्थ है' वैसे ही यह नियम भी निर्धारित होता है 'गौशब्दका ही यह अर्थ है'। और इस नियमसे अन्य शब्दोंको गलकम्बलविशिष्ट गाय रूपका अर्थका वाचक माननेमें बाधा आती है।

शंका—'गो' आदि शब्द ही वाचक हैं यह नियम आप बनाते हैं तो बनायें किन्तु उन शब्दोंके साधुत्वका समर्थन करनेके लिए व्याकरणकी क्या आवश्यकता है? वृद्धोंके व्यवहारसे ही उनके वाचकत्वका अवधारण हो जायेगा।

उत्तर—व्याकरणके बिना केवल वृद्ध जनोंके व्यवहारसे ही सब शब्दोंके वाचकत्वका नियम नहीं बनाया जा सकता। शब्दराशिका अन्त नहीं है। अतः अनन्तकालमें भी वृद्धोंके व्यवहारसे प्रत्येक पदके वाचकत्वका अवधारण नहीं किया जा सकता। किन्तु व्याकरणके द्वारा थोड़े-से प्रयत्नसे ही सब शब्दोंके वाचकत्वको जाना जा सकता है। अतः व्याकरणकी आवश्यकता है।

शंका—व्याकरणशास्त्र प्रमाण नहीं है, अतः उससे शब्दोंके साधुत्वका ज्ञान कैसे हो सकता है?

उत्तर—यदि व्याकरणको अप्रमाण माना जायेगा तो कर्ता, कर्म आदि कारकोंकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। तथा लोक और शास्त्रसे विरोध उप-स्थित होगा। क्योंकि सभी शिष्ट पुरुष व्याकरणको प्रमाण मानते हैं तथा सभी

शास्त्रोंकी भाषा नियमबद्ध और नियम व्याकरणाधीन है। अतः व्याकरणके अप्रमाण ठहरनेपर यह सब कैसे बन सकेगा? इसलिए शब्दोंके साधुत्वके ज्ञानके लिए व्याकरणको प्रमाण मानना आवश्यक है। अतः व्याकरणसे सिद्ध साधु शब्द ही अर्थके वाचक हैं, अपभ्रष्ट शब्द अर्थके वाचक नहीं हैं।

अपभ्रंश प्राकृत आदिके शब्दोंको भी वाचक माननेवाले जैनोंका उत्तरपक्ष— जैनोंका कहना[1] है कि 'गो आदि शब्द ही शुद्ध हैं अतः वे ही वाचक हैं,' ऐसा कहना विचारपूर्ण नहीं है। वाच्यवाचक भाव लोकव्यवहारके अधीन है, और लोकमें गावी आदि शब्दोंसे ही व्यवहार चलता है। दूसरोंकी बात तो जाने दें, जो संस्कृतज्ञ हैं वे भी संस्कृत शब्दोंको छोड़कर व्यवहारके समय 'गावी' आदि शब्दोंका ही व्यवहार करते देखे जाते हैं। अतः संस्कृतको जाननेवाले और न जाननेवालोंका व्यवहार 'गावी' आदि शब्दोंसे ही चलता देखा जाता है अतः अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा गावी आदि शब्दोंमें ही वाचकत्वका नियमन होता है।

'गावी' आदि शब्दोंको सुनकर पहले शुद्ध 'गौ' शब्दकी स्मृति होती है फिर उससे अर्थका बोध होता है, स्वप्नमें भी इस तरहकी प्रतीति नहीं होती। संस्कृत शब्दोंकी तरह प्राकृत शब्दोंसे भी साक्षात् ही अर्थका ज्ञान होता है। यदि ऐसा न हो तो जहाँ संस्कृतके जानकार नहीं हैं वहाँ भाषाशब्दोंसे अर्थका ज्ञान नहीं होगा। अतः 'गो' आदि शब्दोंकी तरह 'गावी' आदि शब्द भी शब्दान्तरकी स्मृतिकी सहायताके बिना ही अपने अर्थका ज्ञान कराते हैं इसलिए वे भी वाचक हैं। जैसे गो आदि शब्द गावी आदि शब्दोंकी स्मृतिकी अपेक्षा किये बिना अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा गोत्व आदि अर्थोंके वाचक होते हैं वैसे ही 'गावी' आदि शब्द भी 'गो' आदि शब्दोंकी स्मृतिकी सहायताके बिना ही अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा अपने अर्थोंके वाचक होते हैं। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकके द्वारा जब दोनों ही प्रकारके शब्द समान रूपसे अर्थके वाचक हैं फिर भी यदि एक ही को अर्थका वाचक मानते हो तो 'गावी' आदि शब्दोंको ही अर्थका वाचक मानो, क्योंकि जनसाधारणका व्यवहार 'गावी' आदि शब्दोंसे ही चलता है।

दूसरी बात यह है कि अनुभवमूलक स्मरण प्रमाण होता है क्योंकि अनुभवके अनुसार ही स्मरण होता है। किन्तु गो व्यवहारमें प्रथम ही 'गो' आदि शब्दोंके वाचक होनेका अनुभव नहीं होता, बल्कि 'गावी' आदि शब्दोंके ही वाचक होनेका अनुभव होता है। अर्थात् जन्मसे ही प्रत्येक मनुष्य प्राकृत शब्दोंके द्वारा ही अर्थ

---

१. न्या० कु० च० पृ० ७६२। प्रमेयक० मा०, पृ० ६६८।

का ज्ञान करता है। अतः जिन 'गावी' आदि शब्दोंके वाचक होनेका जन्मसे ही अनुभव है, उन शब्दोंसे अर्थका बोध करनेके लिए ऐसे संस्कृत शब्दोंके स्मरणको आवश्यक मानना, जिनके वाचक होनेका अनुभव नहीं है, वैयाकरणोंकी अपूर्व न्यायकुशलताका परिचायक है।

'गो'शब्दका उच्चारण करनेके स्थानमें बालक अशक्ति अथवा प्रमादसे 'गावी' शब्दका उच्चारण करता है' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बालक गोशब्दका उच्चारण करनेकी इच्छा होते हुए भी अशक्ति अथवा प्रमादसे 'गावी' शब्दका उच्चारण करता है तो प्रबुद्ध होनेपर उसे 'गावी' शब्दको त्याग कर 'गो'शब्दका ही व्यवहार करना चाहिए। किन्तु विद्वान् होनेपर भी वह 'गावी' शब्दको छोड़कर 'गो' शब्दका व्यवहार नहीं करता।

वैया०—संस्कृतका जानकार संस्कृतको न जाननेवाले मनुष्योंके साथ संस्कृत गो आदि शब्दोंसे व्यवहार नहीं कर सकता, और संस्कृतके न जाननेवालोंकी संख्या ही अधिक है अतः अशक्ति और प्रमादसे उत्पन्न हुआ भी अपभ्रंश शब्दोंका व्यवहार रूढ़िमें आ गया है। इससे संस्कृत शब्दोंका जानकार मनुष्य भी उन्हीं शब्दोंसे व्यवहार करता है।

जैन—इस कथनका भी इसीसे खण्डन हो जाता है। जब आप गावी आदि शब्दोंके व्यवहारको प्रमाद और अशक्तिसे उत्पन्न हुआ मानते हैं तो उक्त दोषका अनुषंग बना ही रहता है।

तथा आप 'गावी' आदि शब्दोंको अपभ्रष्ट क्यों कहते हैं ? वे पुरुषार्थमें सहायक नहीं हैं अथवा संकेतके द्वारा ही अपने अर्थको कहते हैं इसलिए उन्हें अपभ्रष्ट मानते हैं ? पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि प्राकृत शब्दोंके व्यवहारसे ही समस्त धर्म-अर्थ आदि पुरुषार्थ चलते हैं। ऐसा कोई पुरुषार्थ नहीं है जिसमें साक्षात् अथवा परम्परासे प्राकृत भाषाके शब्दोंका व्यवहार न होता हो। पुरुषार्थको समझानेके लिए जिन संस्कृत शब्दोंका प्रयोग किया जाता है उनका स्पष्ट अर्थ भी प्राकृत शब्दोंसे ही बतलाया जाता है। तब पुरुषार्थमें सहायक न होनेसे उन्हें अपभ्रष्ट कैसे कहा जा सकता है ? दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्राकृत शब्दोंकी तरह संस्कृत शब्द भी संकेतकी सहायतासे ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत शब्दोंमें कोई विशेषता नहीं है इसलिए या तो दोनोंको ही शुद्ध मानना चाहिए या दोनोंको ही अशुद्ध मानना चाहिए।

तथा, यदि शुद्धताका स्वरूप-ज्ञान हो जाये तो यह कहा जा सकता है कि- अमुक शब्द शुद्ध हैं और अमुक शब्द अशुद्ध हैं। अतः यह बतलाइए कि शुद्धताका

स्वरूप क्या है ? वाचकपना, अथवा अनादि कालसे प्रयोगमें आना, अथवा धर्मका साधन होना, अथवा विशिष्ट पुरुषोंके द्वारा रचित होना, अथवा विशिष्ट अर्थका कहना, अथवा व्याकरणसे सिद्ध होना ?

यदि शुद्धताका स्वरूप वाचकपना है तो गौ आदि शब्दोंकी तरह गावी आदि शब्दोंमें भी वह स्वरूप है ही, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा गौ आदि शब्दोंकी तरह गावी आदि शब्द भी अर्थके प्रतिपादक हैं, यह ऊपर बतलाया जा चुका है।

यदि अनादि कालसे प्रयोगमें आना शुद्धताका स्वरूप है तो गौ और गावी शब्दमें कोई भेद नहीं रहता; क्योंकि दोनों ही प्रकारके शब्दोंका प्रयोग अनादि कालसे होता चला आता है। अतः या तो दोनों ही शब्द शुद्ध, हैं, या दोनों ही अशुद्ध हैं। तथा यदि अनादि कालसे प्रयुक्त होनेका नाम शुद्धता है तो प्राकृत गावी आदि शब्द ही शुद्ध कहे जायेंगे; क्योंकि प्राकृत शब्द ही अनादि कालसे प्रयुक्त होते आते हैं। 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थस्वरूपके बोधक स्वाभाविक गावी आदि शब्द ही अनादि कालसे प्रयुक्त होनेके कारण शुद्ध प्रमाणित होते हैं, संस्कृत गौ आदि शब्दोंका प्रयोग अनादि नहीं बनता। सत् वस्तुमें गुणान्तरका आरोप करनेका नाम संस्कार है। और संस्कार सादि ही होता है। अतः 'संस्कृत' कहनेसे ही यह प्रतीत होता है कि संस्कारसे पहले कोई प्राकृतिक वस्तु विद्यमान थी। वह प्राकृत भाषा ही है। अतः अनादिकालसे प्रयुक्त होनेके कारण वही 'साधु' ठहरती है।

वैया०—'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' यह व्युत्पत्ति ठीक नहीं हैं। किन्तु 'प्रकृते-र्भवं प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृतिसे जो उत्पन्न हो वही प्राकृत है ?

जैन—तो यही बतलाइए कि वह प्रकृति क्या वस्तु है जिससे प्राकृत उत्पन्न होती है ? प्रकृतिका मतलब 'स्वभाव' है, अथवा धातुगण है, अथवा शब्दोंका संस्कृत रूप है ?

यदि प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है और उससे जो उत्पन्न हो वह प्राकृत है तब तो 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' हमारी की हुई यह व्युत्पत्ति ही आपने मान ली। यदि प्रकृतिसे मतलब धातुगण है तो 'गो' आदि शब्द भी प्राकृत कहे जायेंगे; क्योंकि धातुगणसे उनका स्वरूप बनता है। और ऐसा होनेपर संस्कृत व्यवहार समाप्त हो जायेगा तथा शब्दोंके संस्कृत रूपको प्रकृति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सत् वस्तुमें गुणान्तरके आरोप करनेका नाम संस्कार है। अतः संस्कार तो विकाररूप है, वह प्रकृति नहीं हो सकता।

वैया०—गुणान्तरके आरोपका नाम संस्कार नहीं है, किन्तु अच्छी तरहसे न जाने गये शब्दका प्रकृति और प्रत्यय आदिका विभाग करके उसके अन्तर्गत अर्थको प्रकाशित करना ही शब्दका संस्कार है।

जैन—प्रकृति और प्रत्ययके विभागके द्वारा अर्थको प्रकाशित करनेका नाम तो व्याख्या है, संस्कार नहीं। वस्त्र वगैरहमें इस तरहका संस्कार कभी नहीं देखा गया। किन्तु गुणान्तरका आरोप रूप संस्कार ही देखा जाता है।

अतः अनादिकालसे प्रयुक्त होनेके कारण शब्दोंकी शुद्धता सिद्ध नहीं होती। इसलिए शुद्धताका यह लक्षण भी ठीक नहीं है। धर्मका साधन होना भी शुद्धताका लक्षण नहीं हो सकता। यदि यह शुद्धताका लक्षण है तो शब्द साक्षात् धर्मके साधन हैं या परम्परासे धर्मके साधन हैं। यदि शब्द धर्मके साक्षात् साधन हैं तो उसके लिए व्रतोंका अनुष्ठान करना वगैरह व्यर्थ ठहरेगा। यदि परम्परासे धर्मके साधन हैं तो संस्कृत शब्दोंकी तरह प्राकृत शब्द भी परम्परासे धर्मके साधन हैं अतः उन्हें भी 'साधु' मानना चाहिए।

यदि विशिष्ट पुरुषोंके द्वारा रचित होना अथवा विशिष्ट अर्थका कहना साधुत्व (शुद्धता) का लक्षण है तो ये दोनों बातें भी संस्कृत और प्राकृत शब्दोंमें समान हैं। व्याकरणसिद्ध होना भी संस्कृत शब्दोंकी तरह प्राकृत शब्दोंमें भी है ही। जैसे संस्कृत व्याकरणके द्वारा शब्दोंकी सिद्धि होती है वैसे ही प्राकृत व्याकरणके द्वारा भी शब्दोंकी सिद्धि होती है। यदि प्राकृत व्याकरण व्याकरण नहीं है तो संस्कृत व्याकरण भी व्याकरण नहीं हो सकता।

तथा तैत्तिरीयोपनिषद्में जो यह कहा है कि संस्कृत वाणी बोलनी चाहिए, सो कब बोलनी चाहिए—कर्मकालमें अथवा अध्ययनकालमें ? यदि अध्ययनकालमें संस्कृत वाणी बोलनी चाहिए तो संस्कृत भाषाके अध्ययनकालमें अथवा प्राकृत भाषाके अध्ययनकालमें ? प्राकृतभाषाके अध्ययनकालमें संस्कृत वाणी बोलनेसे प्राकृतभाषाका अध्ययन नहीं हो सकता। यदि संस्कृतभाषाके अध्ययनकालमें संस्कृत वाणी बोलनी चाहिए तो संस्कृत भाषाके अध्ययनकालमें प्राकृतभाषाके न बोलनेसे प्राकृतभाषा 'असाधु' कैसे हो सकती है ? यदि एकके अध्ययनकालमें दूसरेका प्रयोग न होनेसे दूसरा 'असाधु' है तो पुराणका अध्ययन करते समय वेदवाक्योंका प्रयोग न होनेसे वेदवाक्य भी 'असाधु' ठहरेंगे।

यदि कर्मकालमें संस्कृतवाणी बोलनी चाहिए तो हम पूछते हैं कि उस समय प्राकृत भाषा क्यों नहीं बोलनी चाहिए ? प्राकृत शब्द क्या अर्थका कथन नहीं करते, अथवा वे अपशब्द हैं, अथवा अधर्मके कारण हैं ?

पहला पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि संस्कृत और प्राकृतके जाननेवालोंको 'गावी' आदि शब्दोंसे भी स्पष्ट अर्थकी प्रतीति होती है, यदि गावी आदि अपशब्द हैं तो क्यों ? स्वरूपसे ही अथवा व्याकरणसे निष्पन्न न होनेके कारण वे अपशब्द हैं ? यदि स्वरूपसे ही अपशब्द हैं तो गोशब्द भी अपशब्द कहा जायेगा क्योंकि वह भी स्वरूपवाला है। यदि व्याकरणसे अनिष्पन्न होनेके कारण गावी आदि शब्द अपशब्द हैं तो वे संस्कृत व्याकरणसे निष्पन्न (सिद्ध) नहीं हैं, अथवा प्राकृत व्याकरणसे सिद्ध नहीं हैं ? दूसरा पक्ष तो ठीक नहीं है ? क्योंकि प्राकृत शब्द प्राकृतभाषाके व्याकरणसे सिद्ध हैं। यदि संस्कृत व्याकरणसे वे अनिष्पन्न हैं तो स्वरूप मात्रसे अनिष्पन्न हैं अथवा अर्थविशेषमें अनिष्पन्न हैं। स्वरूपमात्रसे अनिष्पन्न तो नहीं हैं क्योंकि जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्र [१।२।११४] के अनुसार 'गावी' शब्द निष्पन्न है। यदि गोत्वरूप अर्थविशेषमें निष्पन्न न होनेके कारण 'गावी' शब्दको अपशब्द कहते हैं तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि संस्कृत व्याकरण 'गावी' शब्दको गोत्वरूप अर्थमें निष्पन्न नहीं करता। प्राकृत व्याकरण ही गावी शब्दको गोत्वरूप अर्थका वाचक बतलाता है। फिर भी यदि इसीलिए गावी शब्दको अपशब्द कहते हैं तो गोशब्द भी अपशब्द कहा जायेगा क्योंकि प्राकृत व्याकरणसे 'गो' शब्द अनिष्पन्न है। अतः जब संस्कृत व्याकरणसे सिद्ध गोशब्द और प्राकृत व्याकरणसे सिद्ध 'गावी' शब्द गोत्वरूप अर्थके वाचक हैं तो यह नियम कैसे किया जा सकता है कि गोशब्द ही गोत्वका वाचक है और गावी शब्द गोत्वका वाचक नहीं है ? जैसे वृक्ष, पादप, तरु ये शब्द पर्यायवाची हैं वैसे ही गौ और गावी शब्द भी पर्यायवाची हैं।

श्रुत प्रमाण

यद्यपि 'श्रुत' शब्द[1] संस्कृतको 'श्रु' धातुसे बना है जिसका अर्थ 'सुनना' है। किन्तु जैन दर्शनमें यह श्रुत शब्द ज्ञानविशेषमें रूढ़ है। अर्थात् एक ज्ञान-विशेषका नाम श्रुतज्ञान है। वह श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। अर्थात् पहले मतिज्ञान होता है उसके पश्चात् श्रुतज्ञान होता है। इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञान-का कारण है। ये दोनों ज्ञान सभी प्राणियोंको होते हैं।

शंका—सुनकरके जो ज्ञान होता है वही श्रुतज्ञान क्यों नहीं है ?

---

१. 'श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढ़िवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे वर्तते ....कः पुनरसौ ज्ञानविशेष इति। अत आह—श्रुतं मतिपूर्वमिति।—सर्वार्थ-सि० १–२०।

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे तो श्रुतज्ञान मतिज्ञान ही हो जायेगा। मतिज्ञान भी शब्दको सुनकर 'यह 'गौ' शब्द है' ऐसा जानता है। अतः श्रुतज्ञान, इन्द्रिय और मनके द्वारा जिसकी कुछ पर्यायोंको जान लिया गया है और कुछ पर्यायोंको नहीं जाना है ऐसे शब्द और उसके वाच्यको श्रोत्रेन्द्रियकी सहायताके बिना ही जानता है।

संक्षेपमें मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें मनकी सहायतासे होनेवाले विशेष ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। चूँकि मतिज्ञान पाँचों इन्द्रियोंकी और मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है अतः पाँचों इन्द्रियों और मनसे ज्ञात विषयको ही आलम्बन लेकर श्रुतज्ञान व्यापार करता है। इसलिए श्रुतज्ञानके दो भेद हो गये हैं—एक अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान और एक अक्षरात्मक श्रुतज्ञान। श्रोत्रेन्द्रियके सिवा शेष चार इन्द्रियोंसे किसी भी इन्द्रिय और मनको सहायतासे होनेवाले मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। और श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे[1] किसीने कहा—'जीव है'। श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा इस शब्दको सुनना मतिज्ञान है। और उसके निमित्तसे जीव नामक पदार्थके अस्तित्वको जानना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है अर्थात् अक्षररूप शब्दसे उत्पन्न हुए ज्ञानको भी कार्यमें कारणका उपचार करके अक्षरात्मक कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञान अक्षररूप नहीं होता। अक्षरात्मकका दूसरा नाम शब्दज भी है। तथा, शीतल पवनका स्पर्श होनेसे जो शीतल पवनका ज्ञान हुआ, वह मतिज्ञान है। और उस ज्ञानसे वायु प्रकृतिवाले मनुष्यको जो यह ज्ञान होता है कि 'यह वायु मुझे अनुकूल नहीं है' यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। क्योंकि यह ज्ञान अक्षरके निमित्तसे नहीं हुआ। इसका दूसरा नाम लिंगज श्रुतज्ञान भी है।

श्रुतज्ञानके इन अक्षर और अनक्षर भेदोंका सबसे प्राचीन उल्लेख अकलंकदेवके तत्त्वार्थ[2]वार्तिकमें मिलता है। उन्होंने श्रुतज्ञानका वर्णन करते हुए अन्य दर्शनोंमें माने गये अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव नामक प्रमाणोंका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें किया है। उनका कहना है कि शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है। तथा शेष प्रमाणोंके द्वारा जब ज्ञाता स्वयं जानता है उस समय वे अनक्षर श्रुत हैं और जब वह इनके द्वारा दूसरोंको ज्ञान कराता है तो वे अक्षर श्रुत है।

१. गो० जी० टी० गा० ३२५।

२. सूत्र १-२०, पृ० ५४।

ऊपर गोम्मटसार जीवकाण्डकी संस्कृत टीकाके आधारपर अक्षर और अनक्षर श्रुतकी जो परिभाषा दी गयी है वही प्रचलित परिभाषा है। किन्तु अकलंकदेवके उक्त कथनके साथ उसकी संगति नहीं बैठती। उसके अनुसार तो एक ही श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है और अक्षरात्मक भी होता है। जबतक वह ज्ञान रूप रहता है तबतक अनक्षरात्मक है और जब वह वचनरूप होकर दूसरेको ज्ञान करानेमें कारण होता है तब वही अक्षरात्मक कहा जाता है।

अकलंकदेवके पूर्वज आचार्य पूज्यपादने प्रमाणके दो भेद किये हैं—[1]स्वार्थ और परार्थ। तथा श्रुतज्ञानके सिवाय शेष ज्ञानोंको केवल स्वार्थ प्रमाण बतलाया है और श्रुतज्ञानको स्वार्थ भी बतलाया है और परार्थ भी बतलाया है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत परार्थ है।'

यह सब जानते हैं कि वस्तुको जाननेका मुख्य साधन ज्ञान है। ज्ञानके द्वारा ही हम सबको जानते हैं। और दूसरोंको ज्ञान करानेका मुख्य साधन है वचन। ज्ञाता वचनके द्वारा श्रोताओंको बोध कराता है और वचन व्यवहार केवल श्रुतज्ञानमें ही पाया जाता है। क्योंकि 'जो सुना जाये' वह श्रुत इस व्युत्पत्तिके अनुसार श्रुतका अर्थ होता है 'शब्द'। वक्ताके द्वारा कहा गया शब्द श्रोताके श्रुतज्ञानमें कारण होता है। और वह वक्तामें विद्यमान श्रुतज्ञानका कार्य है; क्योंकि वक्ताका श्रुतज्ञान ही तो वचनका रूप धारण करता है। अतः शब्द एक ओर श्रुतज्ञानका कार्य है तो दूसरी ओर श्रुतज्ञानका कारण है।

इतने स्पष्टीकरणके पश्चात् जब हम अक्षर और अनक्षर श्रुतकी दोनों परिभाषाओंकी तुलना करते हैं तो प्रचलित परिभाषाके अनुसार तो अक्षरके निमित्तसे होनेवाला श्रुतज्ञान अक्षरात्मक कहा जाता है और अकलंकदेवके अनुसार अक्षरोच्चारणमें निमित्त ज्ञान अक्षरात्मक है। दूसरे शब्दोंमें एकके अनुसार श्रोताका श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है। दूसरेके अनुसार वक्ताका वचनात्मक श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है। किन्तु विचार करनेपर दोनों ही श्रुतज्ञानोंको अक्षरात्मक मानना समुचित प्रतीत होता है क्योंकि वास्तवमें तो ज्ञान अक्षरात्मक नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान भावरूप है और अक्षर द्रव्यरूप है। अथवा ज्ञान चेतन है और अक्षर जड़ है। किन्तु ज्ञान अक्षरके निमित्तसे उत्पन्न होता है अथवा

१. 'तत्र प्रमाणं द्विविधं, स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्'।—सर्वा० सू० १-६।

अक्षरोच्चारणमें निमित्त होता है, इसलिए उसे अक्षरात्मक कहते हैं। और अक्षरके निमित्तके बिना जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुत है। किन्तु वह तभी-तक अनक्षर श्रुत है जबतक वह परोपदेशमें निमित्त नहीं होता। जहाँ उसने वचनका रूप धारण किया कि वह भी अक्षरात्मक श्रुत हो जाता है।

श्रुतज्ञानके विषयमें अकलंकदेवका मत—उक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रुतज्ञानमें शब्द ही प्रधान कारण है। इसीसे अकलंकदेवने अपने लघीयस्त्रय नामक प्रकरणमें कहा है–'शब्द[1] योजनासे पहले जो मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान होते हैं, वे मतिज्ञान हैं और शब्द योजना होनेसे वे श्रुतज्ञान हैं।

श्रुतज्ञानके विषयमें आचार्य विद्यानन्दकी समीक्षा—आचार्य विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नामक ग्रन्थमें श्रुतज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए अकलंक-देवके उक्त मतकी सुन्दर समीक्षा की है। वे कहते हैं—[2]'विचारणीय यह है कि शब्दयोजनापूर्वक होनेवाला ज्ञान ही श्रुतज्ञान है अथवा शब्दयोजनापूर्वक होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान ही है? यदि शब्दयोजनापूर्वक होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान ही है तो इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है; क्योंकि ऐसा नियम करनेसे शब्द संसृष्टज्ञान श्रुतज्ञानके सिवा अन्य नहीं हो सकता। किन्तु यदि शब्दयोजना-पूर्वक होनेवाले ज्ञानको ही श्रुतज्ञान माना जाता है, तो श्रोत्रजन्य मतिज्ञान-पूर्वक ही श्रुतज्ञान हो सकेगा और चक्षु आदिसे जन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा और ऐसा होनेसे सिद्धान्तमें विरोध उपस्थित होगा। हाँ, चूँकि लोकव्यवहारमें शब्दजन्यज्ञानको श्रुत कहा जाता है इसलिए यदि यह नियम बनाया है कि शब्दयोजनापूर्वक जो ज्ञान होता है वही श्रुतज्ञान है तो इससे सिद्धान्तमें बाधा नहीं आती; क्योंकि चक्षु आदिसे उत्पन्न मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको भी वास्तवमें स्वीकार कर लिया गया है।

इस प्रकार अकलंकदेवके उक्त कथनको केवल व्यवहारकी दृष्टिसे ठीक बतला-कर विद्यानन्द पुनः कहते हैं–अथवा शब्दाद्वैतवादी वैयाकरणोंका मत है कि–'लोकमें ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दयोजनाके बिना हो, सब ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध ही भासित होते हैं।' इस एकान्तवादका निराकरण करनेके लिए ही

---

१. "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ॥१०॥ प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्"।

२. तत्त्वार्थश्लो०, पृ० २३९-२४०।

अकलंकने शब्दयोजनासे पहले होनेवाले ज्ञानको मतिज्ञान और शब्दयोजना-सहित ज्ञानको श्रुतज्ञान कहा है। जो इस बातको बतलाता है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ज्ञान शब्द योजनासे सहित ही हो, शब्द संसर्गके बिना भी ज्ञान हो सकता है।

यहाँतक विद्यानन्दको 'शब्द संसृष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान ही होता है' यह बात तो मान्य है, किन्तु 'शब्द संसृष्ट ज्ञान ही श्रुतज्ञान होता है' यह मत मान्य नहीं है। परन्तु अकलंकदेवके प्रधान टीकाकार तथा अनन्य अनुयायी विद्यानन्द अकलंकके मतका विरोध करके भी उसे आगम और युक्तिके प्रतिकूल बतलानेका साहस तो नहीं ही कर सकते अतः शब्दाद्वैतका खण्डन करके वे पुनः प्रकृत चर्चाकी ओर आते हैं और अकलंकके मतका समर्थन करते हुए कहते हैं—'जैन[1]-दर्शनमें वचनके दो भेद हैं—द्रव्यवाक् और भाववाक्। द्रव्यवाक्के भी दो भेद हैं—एक द्रव्यरूप और एक पर्यायरूप। पर्यायरूप द्रव्यवाक् श्रोत्रेन्द्रियसे ग्राह्य है। इसी वाक्को शब्दाद्वैतवादी वैखरी अथवा मध्यमा नामसे कहते हैं। भाषा-वर्गणारूप जो पुद्गल है वह द्रव्यरूप वाक् है। यह द्रव्यरूप वचन सब ज्ञानोंका अनुगामी नहीं है। अर्थात् सभी ज्ञानोंमें द्रव्यरूप वचन नहीं पाया जाता। तथा ज्ञानावरणके क्षय अथवा क्षयोपशमसे युक्त आत्मामें जो बोलनेकी सूक्ष्म शक्ति है वही भाववाक् है। इस भाववाक्के बिना किसीके मुखसे कभी भी वचन नहीं निकल सकता। सर्वज्ञ भगवान्के भी अनन्त ज्ञानशक्तिके प्रतापसे ही वचनका उद्भव होता है। यह भाववाक् रूप शक्ति समस्त आत्माओंमें पायी जाती है; क्योंकि वह चेतना सामान्यका धर्म है। उस शक्तिरूप ज्ञान और शब्दके बिना श्रुतज्ञान नहीं हो सकता। आगममें सूक्ष्म निगोदिया जीवके सबसे जघन्य लब्ध्यक्षर नामक कुश्रुत ज्ञान कहा है, जो सदा उद्घाटित रहता है और स्पर्शन इन्द्रिय जन्य कुमति ज्ञानपूर्वक होता है। अतः मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले समस्त श्रुतज्ञानमें अक्षरज्ञान अवश्य रहता है इसलिए अकलंकदेवने जो यह नियम किया है कि शब्दयोजना होनेसे ही श्रुतज्ञान होता है उसमें कोई विरोध नहीं आता। इस तरहके उपदेशकी परम्परा पायी जाती है तथा युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है।[2]

इस प्रकार विद्यानन्दने भी अकलंकदेवके उक्त मतको अन्तमें आगम और

१. तत्त्वार्थ श्लो०, पृ० २४१-२४२।

२. 'इत्यलं प्रपञ्चेन, 'श्रुतं शब्दानुयोजनादेव' इत्यवधारणस्याकलङ्काभिप्रेतस्य कदाचिद् विरोधाभावात् तथा सम्प्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहाच्च सर्वमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्याक्षरज्ञानत्वं व्यवस्थितेः—तत्त्वार्थश्लो०, पृष्ठ २४२।

युक्तिके आधारपर ठीक बतलाया है। उनका कहना है कि शास्त्रोंमें कहा है कि प्रत्येक संसारी जीवके मति, श्रुत अथवा कुमति, कुश्रुत ज्ञान अवश्य रहते हैं। यहाँ तक कि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भी, जिसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है, स्पर्शन इन्द्रियसे होनेवाले कुमतिज्ञानपूर्वक कुश्रुतज्ञान भी होता है। उस कुश्रुतज्ञानका नाम लब्ध्यक्षर है और वह ज्ञान सदा विकसित रहता है, कभी भी उसका लोप नहीं होता। इसका यह मतलब हुआ कि लब्धिरूपमें अक्षरज्ञान प्रत्येक जीवमें वर्तमान रहता है। अतः श्रोत्रेन्द्रिय अथवा अन्य इन्द्रियोंसे होनेवाले मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञानमें अक्षरज्ञान अवश्य रहता है। इसलिए शब्द-योजनासहित ज्ञान ही श्रुतज्ञान है।'

पूर्वाचार्योंके वचनोंका अनुशीलन करनेसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। प्रथम तो तत्त्वार्थसूत्रकारने[1] ही श्रुतज्ञानके भेद अंग और अंगबाह्य बतलाये हैं, ये दोनों भेद शब्द और तज्जन्य ज्ञानकी अपेक्षा ही होते हैं। दूसरे पूज्यपादने[2] श्रुतज्ञानका व्याख्यान करते हुए श्रुतको अनादिनिधन बतलाया है तथा उसके अपौरुषेय होनेका निराकरण किया है; (क्योंकि मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानते हैं) और श्रुतपूर्वक श्रुतका उदाहरण देते हुए लिखा है कि जैसे किसीने 'घट' शब्द सुना, फिर आँखोंसे घटको देखा, उसके पश्चात् 'यह घट है' ऐसा जाना फिर यह घट पानी भरनेके काम आता है ऐसा जाना। ये सब भी इसी बातकी पुष्टि करते हैं। तीसरे समन्तभद्र[3] स्वामीने श्रुतको 'स्याद्वाद' शब्दसे कहा है। और जो अनेकान्तका प्रतिपादन करता है उसे स्याद्वाद कहा है। इससे भी इसी बातकी पुष्टि होती है कि श्रुतज्ञानमें शब्दकी प्रधानता है। श्वेताम्बर परम्परामें तो श्रुतज्ञानमात्र शब्दज ही होता है।

श्रुतज्ञानके विषयमें श्वेताम्बर मान्यता—श्वेताम्बर साहित्यमें श्रुतज्ञानकी चर्चा विस्तारसे की गयी है। जिनभद्रगणिका विशेषावश्यक भाष्य इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। गणिजीने श्रुतज्ञानको[4] मतिज्ञानका ही एक भेद माना है। इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला सब ज्ञान मतिज्ञान ही है। केवल परोपदेश और आगमके वचनोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानविशेष श्रुतज्ञान है। आचार्य सिद्धसेन

---

१. 'श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥' त० सू० १ अ०।
२. सर्वा० सि० सू० १–२०।
३. 'स्याद्वादकेवलज्ञाने'–आ० मी० का० १०५।
४. 'मइभेओ चेव सुयं' –विशे० भा० गा० ८६।

कृत मानी जानेवाली [1]निश्चय द्वात्रिंशिकामें तो श्रुतको मतिसे भिन्न मानना व्यर्थ ही बतलाया है। किन्तु सैद्धान्तिक पक्ष इस मतको मान्य नहीं करता। वह श्रुतज्ञानको मतिज्ञानसे भिन्न तो मानता है, किन्तु उसे मतिका ही एक रूपान्तर मानता है। विशेष इस प्रकार है—

मति और श्रुतमें भेद बतलाते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार लिखते हैं— [2]मतिका लक्षण जुदा है और श्रुतका लक्षण जुदा है; मति कारण है श्रुत उसका कार्य है, मतिके भेद जुदे हैं और श्रुतके भेद जुदे हैं, श्रुतज्ञानकी इन्द्रिय केवल श्रोत्र है और मतिज्ञानकी इन्द्रियाँ सभी हैं, मतिज्ञान मूक है, श्रुत वाचाल है, इत्यादि कारणोंसे मति और श्रुतमें भेद है।

इन्द्रिय और मनकी सहायतासे शब्दानुसारी जो ज्ञान होता है, जो कि अपनेमें प्रतिभासमान अर्थका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होता है, उसे श्रुतज्ञान[3] कहते हैं। आशय यह है कि 'घट' शब्दको सुनकर घट अर्थके साथ उसकी संगति करनेपर जो अन्तरंगमें 'घट' 'घट' शब्दोल्लेखसे सहित ज्ञान उत्पन्न होता है वह श्रुतज्ञान है। शब्दोल्लेखसहित उत्पन्न हुआ यह ज्ञान अपनेमें प्रतिभासमान अर्थके प्रतिपादक शब्दको उत्पन्न करता है और उससे दूसरे श्रोताको बोध होता है। अर्थात् श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञाता स्वयं भी जानता है और उससे दूसरोंको भी ज्ञान कराता है। तथा इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि शब्दानुसारी नहीं होता, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

शंका—यदि शब्दोल्लेखसहित ज्ञानको श्रुतज्ञान और शेषको मतिज्ञान मानते हैं तो केवल अवग्रह ही मतिज्ञान हो सकेगा, ईहा, अपाय, आदि मतिज्ञान नहीं कहे जा सकेंगे; क्योंकि उनमें शब्दका उल्लेख पाया जाता है।

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि ईहा वगैरह ज्ञान भी शब्दोल्लेख सहित होते हैं; किन्तु वे शब्दानुसारी ज्ञान नहीं हैं, जो शब्दोल्लेख सहित ज्ञान शब्दानुसारी होता है, वही श्रुतज्ञान होता है।

शंका—यदि शब्दानुसारी ज्ञानको श्रुतज्ञान मानते हैं तो एकेन्द्रियोंके श्रुत-

---

१. 'वैयर्थ्यातिप्रसंगाभ्यां न मत्यभ्यधिकं श्रुतम् ॥१९॥'

२. वि० भा० गा० ९७।

३. 'इंदियमणोणिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं। नियमत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं ॥१००॥' विशे० भा०।

ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें शब्दानुसारीपना नहीं है। किन्तु आगममें एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान माना है ?

समाधान—द्रव्यश्रुत (शब्द) के अभावमें भी एकेन्द्रियोंके भावश्रुत मानना चाहिए। अर्थात् यद्यपि एकेन्द्रियोंके द्रव्यश्रुत नहीं होता फिर भी ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम रूप भावश्रुत होता है।

इस तरह मति और श्रुतका लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे मति और श्रुतमें भेद है। तथा मतिपूर्वक ही श्रुत होता है इसलिए भी मति और श्रुत भिन्न-भिन्न हैं।

शंका—दूसरेसे शब्द सुनकर जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है वह तो श्रुत-पूर्वक है; क्योंकि आपने शब्दको श्रुत कहा है। अतः श्रुतपूर्वक भी मतिज्ञान होता है।

समाधान—दूसरेसे शब्द सुनकर जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है वह द्रव्य-श्रुतसे उत्पन्न होता है; क्योंकि शब्द केवल द्रव्यश्रुत है, भावश्रुत उसका कारण नहीं है। अतः मति भावश्रुतपूर्वक नहीं होता। द्रव्यश्रुतपूर्वक होता है तो होओ, उसके होनेसे कोई दोष नहीं आता।

तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें इन्द्रिय भेद भी है। क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाले ज्ञानको ही श्रुतज्ञान कहते हैं। किन्तु 'श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होने वाले ज्ञानको श्रुत ही कहते हैं' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाला ज्ञान मतिज्ञान भी हो सकता है। उनमें जो ज्ञान शब्दानुसारी होता है वही श्रुत है। तथा श्रोत्रेन्द्रिय और शेष इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह मति है किन्तु इतना विशेष है कि चक्षु आदि शेष चार इन्द्रियों-में जो श्रुतानुसारी शब्दोल्लेखसहित ज्ञानरूप अक्षर लाभ होता है वह भी श्रुतज्ञान है।

शंका—इस तरह तो श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनों ही सब इन्द्रियोंके निमित्तसे हुए कहे जायेंगे। फिर दोनोंमें इन्द्रियभेद कैसे रहा ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, किन्तु यद्यपि शेष इन्द्रियोंके द्वारा आया होनेसे उस अक्षरलाभको शेष इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली उपलब्धि कहा जाता है, फिर भी चूँकि वह शब्दात्मक है अतः वह श्रोत्रेन्द्रियके ही ग्रहण योग्य होता है। इसलिए वास्तवमें वह श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाली उपलब्धि ही है। और ऐसा होनेसे वास्तवमें श्रुतज्ञान श्रोत्र इन्द्रियके निमित्तसे ही होता है किन्तु मतिज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय तथा शेष सब इन्द्रियोंके निमित्तसे होता है।

सारांश यह[1] है कि शब्दका अनुसरण करके जो मतिविशेष उत्पन्न होते हैं वह सब श्रुतज्ञान ही है। और जो शब्दका अनुसरण न करके वस्तुतत्त्वका अवलोकन करनेसे स्वयं ही मतिविशेष उत्पन्न होते हैं वह शुद्ध मतिज्ञान है।

कुछ व्याख्याता[2] ऐसा मानते हैं कि जो मतिविशेष शब्दानुसारी होते हुए भी शब्दकी प्रवृत्तिसे रहित हैं और केवल हृदयमें ही स्फुरित होते हैं वे मतिज्ञान ही हैं। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे भावश्रुतके अभावका प्रसंग उपस्थित होगा। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थोंमें-से जो पदार्थ कहे जानेके योग्य हैं वह भावश्रुत है। अर्थात् अन्तर्विकल्पमें तैरते हुए जो पदार्थ भाषणके योग्य हैं, भले ही उनका कथन न किया जाये, किन्तु भाषणके योग्य होनेसे वे भावश्रुत हैं। अतः मतिज्ञानके द्वारा जाने गये अनभिलाप्य अर्थ भाषणके अयोग्य होते हैं अतः वे भावश्रुत नहीं हैं। किन्तु जो भाषणके योग्य हैं, भले ही उनका कथन न किया जाये, फिर भी विकल्पमें प्रतिभासित ऐसे सब अर्थ भावश्रुत कहे जाते हैं।

सारांश यह है कि जो घटादि पदार्थ कथन करनेके योग्य होते हुए भी शब्दानुसारी न होनेसे श्रुतज्ञानमें उपयुक्त जीवोंके द्वारा कथन नहीं किये जाते, तथा जो अर्थपर्याय रूप होनेसे वाचक शब्दके अभावसे कथन करनेके अयोग्य हैं, ऐसे अर्थ जिस ज्ञानमें प्रतिभासित हों, वह मतिज्ञान है, श्रुतज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसा जो ज्ञान कथन करनेके योग्य वस्तुको विषय करता है वह तो शब्दानुसारी नहीं है और जो कथन करनेके अयोग्य वस्तुओंको विषय करता है वह भाषणके अयोग्य है।

इस तरह पूर्वोक्त प्रकार[3] से केवल कथन करने योग्य अर्थको ही विषय करनेके कारण जितना भी श्रुतज्ञान है सब शब्दका परिणाम है। शब्दसे यहाँ परोपदेशरूप शब्द तथा ग्रन्थरूप शब्द लिया गया है। उससे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान शब्द परिणाम रूप होता ही है। किन्तु मतिज्ञान शब्द परिणामरूप भी

---

१. "जे अक्खराणुसारेण मईविसेसा तयं सुयं सव्वं। जे उण सुयनिरवेक्खा सुद्धं चिय तं मइन्नाणं॥" ॥१४४॥ विशे० भा०।

२. विशे० भा०, गा० १४५।

३. "एवं भणि परिणा मं सुयनाणं उभयहा मइन्नाणं। जं भिन्नसहावाइं ताइं तो भिन्नरूवाइं ॥१५०॥"—विशे० भाष्य।

होता है और अ-शब्द परिणामरूप भी होता है; क्योंकि वह भाषणके योग्य अर्थको भी विषय करता है और भाषणके अयोग्य अर्थको भी विषय करता है। अतः शब्दकी अपेक्षा न करके अपनी बुद्धिसे ही विकल्पित कथन योग्य पदार्थोंमें ध्वनि परिणाम मतिज्ञानमें भी पाया जाता है। किन्तु जिस मतिज्ञानका विषय अनभिलाप्य (कथन करनेके अयोग्य) पदार्थ होता है उसमें ध्वनि परिणाम नहीं पाया जाता; क्योंकि अनभिलाप्य पदार्थोंको स्वयं जानकर भी, उनके वाचक शब्दोंके न होनेसे न तो उनका अन्तर्विकल्प होता है और न दूसरोंके प्रति उनका कथन किया जा सकता है।'

उक्त विवेचनका सार यह है कि पुस्तक आदिमें अंकित लिपिरूप अक्षर और मुखसे उच्चारित शब्दरूप अक्षरको द्रव्यश्रुत कहते हैं। चूँकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान-पूर्वक होता है इसलिए द्रव्यश्रुतसे अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं अर्थात् पुस्तकपर अंकित अक्षरोंको देखकर तथा शब्द सुनकर प्रारम्भमें तो अव-ग्रह आदि मतिज्ञान ही होता है, किन्तु अक्षररूप होनेसे द्रव्यश्रुत मुख्यरूपसे श्रुतज्ञानका ही असाधारण कारण है। अतः श्रुतज्ञानका कारण होनेसे द्रव्यश्रुतका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें ही किया जाता है। तथा द्रव्यश्रुत दूसरोंको ज्ञान करानेमें कारण है इसीसे श्रुतज्ञानको भी परप्रबोधक माना जाता है।'

इस श्वेताम्बर मान्यताके साथ दिगम्बर मान्यताका कोई विरोध लक्षित नहीं होता; क्योंकि दिगम्बर मान्यता भी श्रुतज्ञानको परार्थ-परप्रबोधक बतलाती है और उसके परार्थ होनेका कारण है श्रुतज्ञानका वचनात्मक होना। वचनात्मक श्रुत ही द्रव्यश्रुत है और ज्ञानात्मक श्रुत भावश्रुत है। यदि ज्ञानात्मक श्रुतमें अर्थात् श्रुतज्ञानमें अक्षरबोध न हो तो वह वचनात्मक श्रुतका रूप नहीं ले सकता। अतः जो ज्ञान शब्दसे जन्य है और शब्दका जनक है वही श्रुतज्ञान है। ऐसा ज्ञान बिना शब्दयोजनाके नहीं हो सकता। इसीसे अकलंकदेवने शब्दयोजना सहित ज्ञानको श्रुतज्ञान कहा है।

'शब्दयोजनासहित ज्ञान श्रुतज्ञान ही होता है' इस विषयमें दिगम्बर पर-म्पराके किसी पक्षको आपत्ति नहीं है। किन्तु 'शब्दयोजनासहित ज्ञान ही श्रुत-ज्ञान होता है' इस विषयमें एक पक्षको आपत्ति है, जिसका निर्देश आचार्य विद्या-नन्दके द्वारा किये गये अकलंकदेवके उक्त मतके विरोधमें मिलता है। किन्तु वह आपत्ति केवल दृष्टिभेदका परिणाम है, उसमें विशेष तथ्य नहीं है, यह बात भी विद्यानन्दके द्वारा किये गये अकलंक देवके समर्थनसे स्पष्ट हो जाती है। इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त है—एक मनुष्य बार-बार हाथको मुँहके पास ले

जाता है। उसको देखनेवाले मनुष्यको उसकी इस क्रियाका अवग्रह आदि ज्ञान होता है। फिर 'यह भूखा है, भोजन करना चाहता है' इस प्रकारका श्रुतज्ञान होता है। दिगम्बर परम्पराके एक पक्षके अनुसार यह श्रुतज्ञान शब्दजन्य नहीं है किन्तु संकेतजन्य है। इसीसे उसे अनक्षरात्मक श्रुत कहा जाता है। परन्तु श्वेताम्बर-परम्पराके अनुसार चूँकि श्रुतज्ञानमात्रमें शब्द निमित है। इसलिए इस श्रुतज्ञानमें भी शब्द निमित है। उनका कहना है कि भूखा मनुष्य गूंगा होनेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे बोल न सकनेके कारण 'मैं भूखा हूँ, भोजन करना चाहता हूँ' दर्शकोंको यह शब्दार्थज्ञान करानेके लिए मुँहके पास हाथ ले जाता है। अतः चूँकि शब्दके द्वारा कही जानेवाली बातको ही वह हाथकी चेष्टाके द्वारा प्रकट करता है, इसलिए उसकी वह चेष्टा शब्दार्थ रूप ही है। अतः शब्दकी तरह ही श्रुतज्ञानका कारण होनेसे उसका अन्तर्भाव भी श्रुतमें ही होता है।'

उक्त चर्चापर और भी अधिक प्रकाश डालनेके लिए श्वेताम्बर परम्परामें जो श्रुतज्ञानके अक्षररूप और अनक्षर रूप भेद किये हैं, उनका निरूपण किया जाता है। अक्षरके तीन भेद हैं—संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। विभिन्न लिपियोंमें अंकित आकाररूप अक्षरको संज्ञाक्षर कहते हैं। मुखसे उच्चारित अक्षरोंको व्यंजनाक्षर कहते हैं। अक्षरके लाभको लब्ध्यक्षर कहते हैं। अर्थात् श्रुतज्ञानका उपयोग और श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम इन दोनोंको लब्ध्यक्षर कहते हैं। इनमें-से संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर तो द्रव्यश्रुत हैं और लब्ध्यक्षर भावश्रुत है। यह लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान किसीको प्रत्यक्षपूर्वक होता है और किसीको अनुमानपूर्वक होता है।

शंका—आप अक्षरके लाभको लब्ध्यक्षर कहते हैं। सो पुरुष, घट, पट आदि शब्दोंके ज्ञानरूप अक्षरका लाभ संज्ञी जीवोंके तो हो सकता है, किन्तु असंज्ञी जीवोंके नहीं हो सकता; क्योंकि अक्षरका लाभ परोपदेशपूर्वक होता है और जिनके मन नहीं है उनके परोपदेशपूर्वक अक्षर लाभ नहीं हो सकता। शायद आप कहें कि असंज्ञी जीवोंके लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान नहीं बनता तो मत बनो, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि आगममें एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवोंके भी लब्ध्यक्षर श्रुत कहा है। और अक्षरलाभके बिना श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है।

समाधान—संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षरका लाभ परोपदेशपूर्वक होता है, किन्तु लब्ध्यक्षर क्षयोपशम और इन्द्रिय आदिके निमित्तसे होता है, अतः वह असंज्ञी जीवोंके हो सकता है। यहाँ मुख्यता लब्ध्यक्षरकी है, न कि संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षरकी; क्योंकि यह श्रुतज्ञानका अधिकार है।

अतः एकेन्द्रिय आदिके भी लब्ध्यक्षर श्रुत होता है। प्रत्येक अकार आदि अक्षर स्वपर्याय और परपर्यायके भेदसे अनेक प्रकारका है। आशय यह है कि तीनों लोकोंमें परमाणु, आकाश वगैरह जितने द्रव्य हैं, जितने वर्ण (अक्षर) हैं और जितने उन वर्णोंके वाच्य अर्थ हैं, उन सबकी मिलकर जितनी पर्यायराशि होती है उतनी ही पर्यायराशि प्रत्येक अकारादि अक्षरकी है। उस पर्यायराशिमें-से कुछ स्वपर्याय हैं जिनकी संख्या अनन्त है, और शेष अनन्तानन्त गुणी परपर्याय हैं। उदाहरणके लिए, कल्पना कीजिए कि सर्वद्रव्यपर्याय राशिका प्रमाण एक लाख है, और सब पदार्थोंका प्रमाण एक हजार है। उन एक हजार पदार्थोंमें-से एक अकार पदार्थकी स्वपर्याय केवल सौ हैं जो कि सत्स्वरूप हैं, और शेष सब यानी सौ कम एक लाख परपर्याय हैं, जो नास्ति स्वरूप हैं। इसी तरह इकार आदि प्रत्येक पदार्थकी स्वपर्याय और परपर्याय जाननी चाहिए। अब प्रश्न यह है कि स्वपर्याय कौन हैं और परपर्याय कौन हैं? उदात्त, अनुदात्त, सानुनासिक, निरनुनासिक आदि जो पर्याय अकारादि अक्षरकी अपनी हैं, तथा जो पर्याय अकारादिके साथ अन्य वर्णका संयोग होनेसे होती हैं वे सब उसकी स्वपर्याय हैं, वे स्वपर्याय अनन्त हैं क्योंकि उस एक अकारादि अक्षरके वाच्य द्रव्य अनन्त हैं। अतः उस अकारादि अक्षरमें उन अनन्त द्रव्योंको कथन करनेकी भिन्न-भिन्न अनन्त शक्तियाँ हैं। यदि ऐसा न माना जायेगा तो उस अकारादि अक्षरके सब वाच्य एक रूप हो जायेंगे क्योंकि वे एकरूप वर्णके वाच्य हैं। शेष इकार आदि सम्बन्धी तथा घट-पट आदि सम्बन्धी जो पर्यायें हैं वे अकारकी परपर्याय हैं, क्योंकि उन सब पर्यायोंका 'अ'में अभाव है, अतः वे पर्यायें नास्तिरूप हैं। इसी तरह इकार आदि अक्षरोंकी भी स्वपर्याय और परपर्याय समझनी चाहिए।

शंका—यदि अकारसे भिन्न इकार, घट, पट आदिकी पर्यायोंको परपर्याय कहते हैं तो वे परपर्यायें अकारकी कैसे हैं? और यदि वे अकारकी ही पर्यायें हैं तो उन्हें घटादिकी परपर्यायें क्यों कहते हैं?

समाधान—यतः अकार, इकार आदि अक्षरोंमें घटादि पर्यायोंका अस्तित्व नहीं है, इसलिए उन्हें परपर्याय कहा है। किन्तु वे सब परपर्यायें नास्तित्वरूपसे तो अकारसे सम्बद्ध ही हैं और इस दृष्टिसे वे भी अकारकी स्वपर्यायें हैं, किन्तु अस्तित्वरूपसे घटादि पर्यायें घटादिमें ही रहती हैं। इसलिए वे अक्षरकी परपर्याय कही जाती हैं। वस्तुका स्वरूप दो प्रकारका है—एक अस्तित्वरूप और दूसरा नास्तित्वरूप। अतः जो पर्याय जिस वस्तुमें अस्तित्वरूपसे रहती है, वह उसकी स्वपर्याय कही जाती है और जो पर्याय जिस वस्तुमें नास्तित्वरूपसे रहती

है, वह उसकी परपर्याय कही जाती है। यहाँ 'स्व' और 'पर' शब्द केवल निमित्तभेदको बतलाते हैं। अतः अक्षरमें घटादिपर्यायोंका अस्तित्व नहीं है, इसलिए उन्हें परपर्याय कहा है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि वे परपर्याय अक्षरसे सर्वथा असम्बद्ध हैं? नास्तित्वरूपसे ये पर्यायें अकारके साथ सम्बद्ध हैं। यदि घटादि पर्यायोंका नास्तित्वरूपसे अक्षरके साथ सम्बन्ध नहीं माना जायेगा तो उन पर्यायोंका अक्षरमें अस्तित्व मानना पड़ेगा; क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व धर्म परस्परमें व्यवच्छेदरूप हैं, जहाँ जिसका अस्तित्व नहीं होता वहाँ उसका नास्तित्व होता है और जहाँ जिसका नास्तित्व नहीं होता वहाँ उसका अस्तित्व होता है। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा ही सत् है। इसलिए प्रत्येक वस्तुमें स्वरूपके सिवा अन्य समस्त पररूपोंका अभाव पाया जाता है। वह पररूपोंका अभाव भी उस वस्तुका स्वधर्म ही है; क्योंकि उसके बिना वस्तुका वस्तुत्व कायम नहीं रह सकता। वस्तुका वस्तुत्व दो बातोंपर कायम है—स्वरूपका ग्रहण और पररूपोंका त्याग। अतः समस्त द्रव्योंकी जितनी पर्यायें होती हैं उतनी ही प्रत्येक अक्षरको पर्याय हैं। यह बात केवल अक्षरके विषयमें ही नहीं है, किन्तु लोकमें वर्तमान जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सबके विषयमें समझना चाहिए। किन्तु यहाँ अक्षरकी चर्चा है इसलिए यहाँ उसीकी पर्याय राशि बतलायी है।

अक्षरको उस पर्यायराशिमें कुछ स्वपर्यायें हैं और शेष परपर्यायें हैं, जो वस्तुएँ अभिलाप्य हैं वे सब अक्षरके द्वारा कही जाती हैं। अतः उन अभिलाप्य वस्तुओंको कथन करनेकी शक्तिरूप सभी पर्यायें अक्षरकी स्वपर्यायें हैं, शेष जो अनभिलाप्य हैं वे परपर्यायें हैं। चूंकि अनभिलाप्य वस्तुओंके अनन्तवें भाग अभिलाप्य वस्तु हैं, इसलिए अकारादि वर्णोंकी स्वपर्यायें थोड़ी हैं, और परपर्यायें अनन्तगुणी हैं।

इस तरह अपनी समस्त पर्याय प्रमाण अक्षरका अनन्तवाँ भाग केवलीके सिवा समस्त जीवोंके सदा उद्घाटित रहता है, कभी भी आवृत नहीं होता। उसके तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। सबसे जघन्य अक्षरका अनन्तवाँ भाग पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीवोंके होता है। उत्कृष्टसे आवरण होनेपर भी यह कभी आच्छादित नहीं होता। आगे विशुद्धि होनेपर द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके क्रमसे यह बढ़ता है।

उत्कृष्ट अक्षरका अनन्तवाँ भाग सम्पूर्ण श्रुतज्ञानियोंके होता है। एकेन्द्रिय और सम्पूर्ण श्रुतज्ञानियोंके मध्यवर्ती जीवोंके मध्यम अक्षरका अनन्तवाँ भाग होता है।

शंका—सम्पूर्ण श्रुतज्ञानीके अक्षरका अनन्तवाँ भाग श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ? उसको तो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानाक्षर होना चाहिए।

समाधान—आपका कहना ठीक है, किन्तु केवलाक्षरकी अपेक्षासे ही सम्पूर्ण श्रुतज्ञानीके अक्षरका अनन्तवाँ भाग बतलाया है; क्योंकि सामान्य अक्षरकी विवक्षा होनेपर केवलाक्षरकी अपेक्षासे सम्पूर्ण श्रुतज्ञानाक्षर अनन्तवाँ भाग है। और ऐसा होना उचित ही है; क्योंकि केवलज्ञानकी स्वपर्यायोंसे श्रुतज्ञानकी स्वपर्याय अनन्तवें भाग हैं।

यह अक्षर श्रुतज्ञान है। [1]श्वासोच्छ्वास, थूकना, खाँसना, जंभाई आदिके शब्द अनक्षर श्रुत है; क्योंकि वह केवल शब्दमात्र है, अक्षररूप नहीं है। किसी मनुष्यके दीर्घश्वासका शब्द सुनकर 'यह शोकमें है' इस प्रकारका श्रुतज्ञान होता है। यह श्रुतज्ञान शब्दसे उत्पन्न होनेपर भी अक्षररूप शब्दसे उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए इसे अनक्षर श्रुत कहते हैं।

इस तरह श्वेताम्बर परम्परामें भी श्रुतज्ञानके अक्षररूप और अनक्षररूप भेद हैं, किन्तु वे दोनों ही शब्दज हैं। अन्तर केवल इतना है कि अक्षररूप श्रुतज्ञान अक्षरात्मक शब्दसे उत्पन्न होता है और अनक्षर रूप श्रुतज्ञान अनक्षररूप शब्दसे जन्य होता है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें शब्दज श्रुतज्ञानको अक्षरात्मक श्रुत और लिंगज श्रुतज्ञानको अनक्षरात्मक श्रुत माना गया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि श्रुतज्ञानमें शब्दकी ही प्रधानता है यह बात दिगम्बर परम्पराको भी इष्ट है। दिगम्बर जैन आगमिक परम्पराके मान्य ग्रन्थ श्री गोमट्टसार (जीवकाण्ड)में श्रुतज्ञानका वर्णन प्रारम्भ करते हुए कहा है—'णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥ ३१५ ॥' इसका व्याख्यान करते हुए टीकाकारने लिखा है कि—"श्रुतज्ञानके प्रकरणमें शब्दज अक्षरात्मक और लिंगज अनक्षरात्मक भेदोंमें-से वर्ण-पद-वाक्यात्मक शब्दसे जनित श्रुतज्ञानकी ही प्रधानता है; क्योंकि देन-लेन, पठन-पाठन आदि सब व्यवहारोंका वही मूल है। यद्यपि लिंगज अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके होता है फिर भी व्यवहारोंमें अनुपयोगी होनेसे वह अप्रधान है। तथा जो 'श्रूयते' अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे श्रुत अथवा शब्द कहते हैं। और शब्दसे उत्पन्न अर्थज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं" इस व्युत्पत्तिसे भी अक्षरात्मक श्रुतज्ञानकी ही प्रधानता स्पष्ट होती है।'

---

१. 'ऊससिअं नीससिअं निच्छूढं खासिअं च छीअं च।
निस्सिंघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं' ॥५०१॥—वि० भा०।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि दिगम्बर परम्परामें, जिस अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानको लिंगज कहा है, वह भी श्वेताम्बर परम्परामें शब्दज ही है, किन्तु वह वर्ण-पद-वाक्यात्मक शब्दसे उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उसे अनक्षरात्मक कहते हैं। दिगम्बर भी उसे इसीलिए अनक्षरात्मक कहते हैं कि वह वर्ण-पद-वाक्यात्मक शब्दसे उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि वे भी वर्ण-पद-वाक्यात्मक शब्दसे उत्पन्न श्रुतज्ञानको अक्षरात्मक कहते हैं। किन्तु जो श्रुतज्ञान वर्ण-पद-वाक्यात्मक शब्दसे उत्पन्न नहीं हुआ, पर अनक्षररूप शब्दसे ही उत्पन्न हुआ है, उसे तो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें ही शामिल करना होगा।

अब प्रश्न केवल उन श्रुतज्ञानोंका रह जाता है जो शब्दज नहीं हैं। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार ऐसा कोई श्रुतज्ञान ही नहीं है जो शब्दज न हो। तथा अकलंकदेवके अनुसार भी शब्दयोजना होनेसे ही ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। तत्त्वार्थवार्तिकमें भी श्रुतज्ञानका विषय बतलाते हुए अकलंकदेवने लिखा है--'श्रुत[1] भी शब्दलिंग है और केवल संख्यात है, जब कि द्रव्य-पर्याय असंख्यात और अनन्त हैं। अतः श्रुतज्ञान उन सबको विशेषाकारसे विषय नहीं कर सकता। कहा भी है--अनभिलाप्य पदार्थोंके अनन्तवें भाग-पदार्थ अभिलाप्य हैं। और अभिलाप्य पदार्थोंका अनन्तवाँ भाग श्रुतमें निबद्ध होता है।'

अब प्रश्न यह होता है कि यदि श्रुतज्ञान शब्दज ही है तो एकेन्द्रिय आदि जीवोंके श्रुतज्ञान कैसे होता है? तथा पंचेन्द्रियोंके श्रोत्रेन्द्रियके सिवा अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान कैसे हो सकेगा?

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें एकेन्द्रिय आदि जीवोंके लब्ध्यक्षर नामका श्रुतज्ञान माना है, जिसका उल्लेख पहले कर आये हैं। यह श्रुतज्ञान सदा सब जीवोंके उद्घाटित रहता है, कभी भी आवृत नहीं होता। श्वेताम्बर-परम्परामें यह लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान माना जाता है; क्योंकि उनके यहाँ लब्ध्यक्षर भी अक्षरका ही एक भेद है। परन्तु दिगम्बर परम्परामें इसे अनक्षरात्मक श्रुत माना जाता है। क्योंकि दिगम्बर-परम्परामें श्रुतज्ञानके अक्षर नामक भेदसे अक्षर श्रुतज्ञान आरम्भ होता है, इसीसे अक्षरके पूर्ववर्ती पर्याय और पर्याय समास नामक श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहे जाते हैं, और पर्याय श्रुतज्ञानका नाम ही लब्ध्यक्षर है। यह श्रुतज्ञानावरणका मात्र क्षयोपशम रूप

१. 'श्रुतमपि शब्दलिङ्गम्। शब्दाश्च संख्येया एव, द्रव्यपर्यायाः पुनः असंख्येयानन्तभेदाः, न ते सर्वे विशेषाकारेण तैर्विषयीक्रियन्ते। उक्तं च—
"पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो॥"—तत्त्वा० वा०, पृ० ६०।

अथवा अर्थग्रहणकी शक्तिरूप होता है, और इसके ऊपर वृद्धि होनेसे ही अक्षर श्रुतज्ञान होता है। अतः इस लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञानमें भी अक्षरके अनन्तवें भागका क्षयोपशम अवश्य रहता है और वह अक्षरका ही पर्यायरूप है इसीसे इसे लब्ध्यक्षर और पर्याय श्रुतज्ञानके नामसे पुकारा जाता है। इसीपर-से[1] विद्यानन्दने यह निष्कर्ष निकाला है—सर्वत्र श्रुतज्ञानमें अक्षरज्ञान अवश्य रहता है और इसलिए 'शब्दयोजनासे ही श्रुतज्ञान होता है' अकलंकदेवके इस कथनमें कोई बाधा नहीं है।

पंचेन्द्रियोंको भी जो श्रोत्रइन्द्रियके सिवा अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, उसमें भी शब्दयोजना अवश्य रहती है। वह शब्दयोजना चाहे बाह्यमें हो अथवा अभ्यन्तरमें हो। अतः श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो ज्ञानरूप भी है और शब्दरूप भी है। उससे ज्ञाता स्वयं भी जानता है और दूसरोंको भी ज्ञान कराता है। इसीके द्वारा ज्ञानका प्रकाश फैलता है। इसीके द्वारा पूर्वज तीर्थंकरों और ऋषियोंका ज्ञान प्रवाहित होता है। कोई इसे श्रुत कहता है, कोई श्रुति कहता है, कोई आगम कहता है, कोई वेद कहता है। ये सब विविध महापुरुषोंके मुखसे सुने गये अथवा उनके द्वारा जाने गये ज्ञानकी धाराके प्रतीक हैं।

श्रुतज्ञानके श्वेताम्बर सम्मत भेद

श्वेताम्बर परम्परामें श्रुतज्ञानके चौदह भेद बतलाते हैं जो इस प्रकार है—[2]अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत, संज्ञीश्रुत, असंज्ञीश्रुत, सम्यक्श्रुत, मिथ्याश्रुत, सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत, अपर्यवसितश्रुत, गमिकश्रुत, अगमिकश्रुत, अंगप्रविष्ट, अनंगप्रविष्ट। इन चौदह भेदोंमें-से आदिके दो भेद—अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत और अन्तके दो भेद अंगप्रविष्ट, अनंगप्रविष्ट, (अंगबाह्य) दिगम्बर परम्परामें

१. "शब्दानुयोजनादेव श्रुतमेवं न बाध्यते।
ज्ञानशब्दाद्विना तस्य शक्तिरूपादसंभवात् ॥१११॥
लब्ध्यक्षरस्य विज्ञानं नित्योद्घाटनविग्रहम्।
श्रुताज्ञानेऽपि हि प्रोक्तं तत्र सर्वजघन्यके ॥११२॥
स्पर्शनेन्द्रियमात्रोत्थे मत्यज्ञाननिमित्तकम्।
ततोऽक्षरादिविज्ञानं श्रुते सर्वत्र सम्मतम् ॥११३॥
नाकलंकवचोबाधा संभवत्यत्र जातुचित्।
तादृशः संप्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहात् ॥११४॥"
—त० श्लो० वा०, पृ० २४१।

२. विशे० भा०, गा० ४५४।

भी हैं। शेष भेद भी प्राय: ऐसे नहीं हैं जो दिगम्बर परम्पराको मान्य न हो सकें, किन्तु उन भेदोंका उल्लेख दिगम्बर साहित्यमें नहीं है। चूँकि ये भेद श्रुतज्ञानसम्बन्धी विविध बातोंपर प्रकाश डालते हैं अत: उनका स्वरूप यहाँ दिया जाता है। अक्षर वर्णको कहते हैं।[1] उसके तीन भेद हैं—संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। आकाररूप अक्षरको संज्ञाक्षर कहते हैं। उच्चारित शब्दको व्यंजनाक्षर कहते हैं। और अक्षरकी लब्धिको लब्ध्यक्षर कहते हैं। अर्थात् इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो श्रुतानुसारी ज्ञान होता है तथा जो अक्षरावरणकर्मका क्षयोपशम होता है, उन दोनोंको लब्ध्यक्षर कहते हैं। इन तीन प्रकारके अक्षरोंमें संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर तो द्रव्यश्रुत हैं क्योंकि ये दोनों भावश्रुतमें कारण होते हैं और लब्ध्यक्षर भावश्रुत हैं।

शंका—अक्षरलाभ परोपदेशपूर्वक होता है, अत: संज्ञी जीवोंको अक्षरलाभ हो सकता है, किन्तु मनरहित असंज्ञी जीवोंको अक्षरलाभ नहीं हो सकता; क्योंकि वे परोपदेशको ग्रहण नहीं कर सकते। और आगममें एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवोंके भी लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान कहा है।

उत्तर—संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षरका लाभ परोपदेशपूर्वक होता है किन्तु लब्ध्यक्षर क्षयोपशम और इन्द्रिय आदिके निमित्तसे होता है। अत: असंज्ञीजीवोंके लब्ध्यक्षरश्रुतज्ञानके होनेमें कोई विरोध नहीं आता। यहाँ श्रुतज्ञानका अधिकार होनेसे लब्ध्यक्षरकी ही मुख्यता है संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षरकी मुख्यता नहीं है।

प्रत्येक अकार आदि अक्षरकी अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। उनमें अनन्त तो स्वपर्यायें हैं और शेष अनन्तानन्तगुणी परपर्यायें हैं। इन पर्यायोंका कथन पहले किया गया है। सर्वपर्यायपरिमाण अक्षरका अनन्तवाँ भाग, केवलीको छोड़कर शेष सब जीवोंके सदा उद्घाटित रहता है। उसके तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। सबसे जघन्य अक्षरका अनन्तवाँ भाग एकेन्द्रिय जीवोंके होता है। क्रमसे विशुद्धि होनेपर दोइन्द्रिय आदि जीवोंके क्रमसे बढ़ता जाता है। दीर्घ श्वास लेना आदि अनक्षरश्रुत[2] हैं क्योंकि किसीके दीर्घश्वासको सुनकर 'यह शोकमें है' इस प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।

मनसहित जीवके श्रुतज्ञानको संज्ञीश्रुत कहते हैं और मनरहित जीवके श्रुतज्ञानको असंज्ञीश्रुत कहते हैं। द्वादशांग तथा उससे सम्बद्ध श्रुतको सम्यक्श्रुत कहते हैं और उसके सिवा अन्यश्रुतको मिथ्याश्रुत कहते हैं। अथवा सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञानको सम्यक्श्रुत और मिथ्यादृष्टिके श्रुताज्ञानको मिथ्याश्रुत

१. विशे० भा०, गा० ४६४।
२. विशे० भा०, गा० ५०२।

कहते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा द्वादशांगश्रुत अनादि और अनन्त है; क्योंकि जिन जीवोंने इस श्रुतको पढ़ा था, अथवा जो जीव वर्तमानमें इस श्रुतको पढ़ते हैं, अथवा जो भविष्यमें पढ़ेंगे, उन जीवोंका कभी नाश नहीं होता। अतः जीवद्रव्यके अनादि अनन्त होनेसे, उसकी पर्यायरूप श्रुत भी उससे अभिन्न होनेके कारण अनादि अनन्त है। और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा श्रुत सादि और सान्त है; क्योंकि श्रुतज्ञानी जीवोंका उपयोग निरन्तर परिवर्तनशील है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा श्रुत सादि, अनादि और सान्त अनन्त होता है। जैसे कोई चौदहपूर्वका धारी साधु मरकर स्वर्ग चला गया। वहाँ उसे पहले भवमें पठित श्रुतका स्मरण नहीं रहता। इसी भवमें भी किसी-किसीके मिथ्यात्वमें चले जानेपर श्रुतका विनाश हो जाता है। अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर श्रुतका विनाश हो जाता है। क्षेत्रकी अपेक्षा भरत और ऐरावत क्षेत्रमें सम्यक् श्रुत सादि और सान्त होता है; क्योंकि इन क्षेत्रोंमें प्रथमतीर्थंकरके समयमें श्रुतका आविर्भाव होता है, अतः वह सादि है, और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थका अन्त होनेपर वह नष्ट हो जाता है अतः सान्त है। कालकी अपेक्षा भरत और ऐरावतमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके तीसरे कालमें पहले-पहल प्रकट होनेके कारण सादि है। तथा उत्सर्पिणीके चतुर्थकालके आदिमें और अवसर्पिणीके पंचमकालके अन्तमें अवश्य नष्ट हो जानेसे सान्त है। भावकी अपेक्षा–गुरु और श्रुतके द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थोंको लेकर श्रुत सादि और सान्त है; क्योंकि व्याख्यान करते समय गुरुका श्रुत परिणाम ध्वनि, तथा तालु आदिका व्यापार वगैरह अनित्य होते हैं। तथा नाना सम्यग्दृष्टि जीवोंकी अपेक्षा श्रुतज्ञान सदा रहता है, कभी उसका विच्छेद नहीं होता। पाँच महाविदेह क्षेत्रोंमें और उन्हीं विदेहोंमें वर्तमान कालमें श्रुतज्ञान सदा रहता है। उतने क्षयोपशमका सर्वत्र सर्वदा सद्भाव पाया जाता है। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा श्रुतज्ञान[1] अनादि और अनन्त है। जिसमें सदृश पाठोंका बाहुल्य हो उसे गमिकश्रुत कहते हैं जैसे दृष्टिवाद। और जिसमें असदृश पाठका बाहुल्य हो उसे अगमिकश्रुत कहते हैं, जैसे कालिक श्रुत। गौतम आदि गणधरोंके द्वारा रचित द्वादशांगरूप श्रुतको अंगप्रविष्ट कहते हैं। और भद्रबाहु वगैरह स्थविरोंके द्वारा रचित श्रुतको अनंगप्रविष्ट अंगबाह्य कहते हैं। इस प्रकार श्रुतके चौदह भेद श्वेताम्बर साहित्यमें बतलाये हैं।

■

१. विशे० भा०, गा० ५४८।

श्रुतके दो उपयोग

स्याद्वाद

आचार्य समन्तभद्रने[1] 'तत्त्वज्ञानको प्रमाण' बतलाकर उसे 'स्याद्वादनय-संस्कृत' बतलाया है। और आगे लिखा है कि 'स्याद्वाद[2] और केवलज्ञान ये दोनों सर्वतत्त्वोंके प्रकाशक हैं। इन दोनोंमें केवल इतना ही अन्तर है कि एक परोक्ष है और दूसरा प्रत्यक्ष है। समन्तभद्रकी इस उक्तिका व्याख्यान करते हुए अकलंकदेवने तथा विद्यानन्दने लिखा[3] है कि स्याद्वाद और केवलज्ञानका एक साथ प्रयोग करते समय स्याद्वादको केवलज्ञानसे पहले रखकर आचार्य समन्तभद्रने यह दिखलाया है कि इन दोनोंमें-से कोई एक ही पूज्य नहीं है, किन्तु दोनों ही पूज्य हैं क्योंकि दोनों परस्परमें एक-दूसरेके हेतु हैं। अर्थात् केवल-ज्ञानसे स्याद्वादरूप आगमकी उत्पत्ति होती है और स्याद्वादरूप आगमके अभ्याससे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है। शायद कोई कहे कि इस तरह तो अन्योन्याश्रय दोष आता है; क्योंकि जब आगम हो तो उसके अभ्याससे केवल-ज्ञानकी उत्पत्ति हो और जब केवलज्ञान उत्पन्न हो तो केवलीके उपदेशसे आगमका निर्माण हो। किन्तु ऐसी आशंका उचित नहीं है; क्योंकि पूर्व सर्वज्ञके द्वारा प्रकाशित आगमसे आगे होनेवाले सर्वज्ञको केवलज्ञान उत्पन्न होता है। और उससे उत्तर कालमें आगमका प्रकाश होता है। इस तरह सर्वज्ञसे आगम और आगमसे सर्वज्ञकी परम्परा चलती रहती है। जैसे सर्वज्ञ जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं वैसे ही आगम भी दूसरोंके लिए सब तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है। इसलिए सब ज्ञानियोंमें दो ज्ञानी ही विशिष्ट ज्ञानी कहे जाते हैं—एक भगवान् केवली और एक समस्त श्रुतमें पारंगत श्रुतकेवली। इन दोनोंमें केवल इतना ही भेद होता है कि केवली सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानते हैं। किन्तु श्रुतकेवली आगमके द्वारा ही जानता है।

---

१. 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय-संस्कृतम्' ॥१०१॥ —आप्तमी०।

२. 'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥' —आप्तमी०।

३. अष्टस०, पृ० २८८।

यहाँ यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि समन्तभद्र स्वामीने श्रुतज्ञानका निर्देश 'स्याद्वाद' शब्दसे किया है। इसीसे समन्तभद्रके उत्तरकालवर्ती 'न्यायावतार' नामक प्रकरणके रचयिताने उसका 'स्याद्वादश्रुत'[१] रूपसे स्पष्ट निर्देश किया है। और उसे 'सम्पूर्ण अर्थोंका निश्चय करानेवाला' कहा है।

अब यह ज्ञातव्य है कि क्यों समन्तभद्रने तत्त्वज्ञानको 'स्याद्वादनय संस्कृत' बतलाकर श्रुतको 'स्याद्वाद' नामसे अभिहित किया ?

हम पहले लिख आये हैं कि आचार्य पूज्यपादने [२]प्रमाणके दो भेद स्वार्थ और परार्थ करके श्रुतज्ञानके सिवाय शेष ज्ञानोंको स्वार्थप्रमाण बतलाया है। तथा श्रुतको स्वार्थ भी बतलाया है और परार्थ भी बतलाया है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थप्रमाण है और वचनात्मक श्रुत परार्थप्रमाण है। श्रुतज्ञानमें वचन अथवा शब्दकी मुख्यता है यह भी पहले स्पष्ट कर दिया गया है। जब कोई ज्ञाता शब्दोंके द्वारा दूसरोंपर अपने ज्ञानको प्रकट करनेके लिए तत्पर होता है तो उसका वह शब्दोन्मुख ज्ञान स्वार्थश्रुत कहा जाता है और ज्ञाता जो वचन बोलता है वे वचन परार्थश्रुत कहे जाते हैं। श्रुतप्रमाणके ही भेद नय हैं।

किन्तु जैसे ज्ञान सम्पूर्ण वस्तुको एक साथ जान सकता है वैसे शब्द सम्पूर्ण वस्तुको एक साथ नहीं कह सकता; क्योंकि वचनका व्यापार क्रमसे ही होता है। फिर जैनदर्शन वस्तुको अनेकान्तात्मक मानता है। अन्त कहते हैं अंश अथवा धर्मको। जैनदर्शनकी दृष्टिमें प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक अथवा अनेकधर्मवाली है। न वह सर्वथा सत् ही है और न सर्वथा असत् ही है, न वह सर्वथा नित्य ही है और न वह सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षासे वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षासे असत् है, किसी अपेक्षासे नित्य है तो किसी अपेक्षासे अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि एकान्तोंका निरसन करके वस्तुका कथंचित् सत्, कथंचित् असत्, कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप होना अनेकान्त है।[३] और अनेकान्तात्मक वस्तुके कथन करनेका नाम स्याद्वाद[४] है। स्याद्वादके बिना अनेकधर्मात्मक वस्तुका

---

१. 'संपूर्णार्थविनिश्चायी स्याद्वादश्रुतमुच्यते' ॥३०॥'—न्यायाव०।

२. 'श्रुतं स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थं, तद्भेदा नयाः॥'—सर्वार्थ०, सूत्र १-६।

३. 'सदसन्नित्यानित्यादि-सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।' — अष्टश०, अष्टस०, पृ० २८६।

४ 'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।'—लघीय० विवृ०, न्या० कु० च०, पृ० ६८६।

कथन नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दोंमें स्याद्वादके बिना श्रोताको वस्तुके अनेक धर्मोंका ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

स्वामी समन्तभद्राचार्यने अपने आप्तमीमांसा नामक प्रकरणमें श्रुतके लिए स्याद्वाद शब्दका प्रयोग किया है। यथा–

"स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥"

अर्थात्–स्याद्वाद (श्रुत) और केवलज्ञान ये दोनों समस्त तत्त्वोंका प्रकाशन करते हैं। इस दृष्टिसे दोनोंमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि जैसे आगम दूसरोंके लिए समस्त जीवादि तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है वैसे ही केवली भी करता है। किन्तु इन दोनोंमें भेद यह है कि केवलज्ञान तत्त्वोंको प्रत्यक्षरूपसे जानता है और आगम परोक्षरूपसे। इस तरह केवलज्ञान साक्षात् प्रतिभासी है और स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) असाक्षात् प्रतिभासी है। जो इन दोनों ज्ञानोंका अविषय है वह अवस्तु है।

सिद्धसेन विरचित न्यायावतारमें तो स्पष्ट रूपसे स्याद्वाद श्रुतका निर्देश करते हुए उसको सम्पूर्ण अर्थका निश्चय करनेवाला कहा है। यथा–

"सम्पूर्णार्थविनिश्चायी स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥३०॥"

पहले लिख आये हैं कि आचार्य पूज्यपादने अपनी [1]सर्वार्थसिद्धिमें प्रमाणके दो भेद स्वार्थ और परार्थ करके श्रुतज्ञानके सिवाय शेष ज्ञानोंको स्वार्थप्रमाण बतलाया है। तथा श्रुतको स्वार्थ भी बतलाया है और परार्थ भी बतलाया है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थप्रमाण है और वचनात्मक श्रुत परार्थप्रमाण है। श्रुतके ही भेद नय हैं।

पूर्वाचार्योंके उक्त कथनोंको दृष्टिमें रखकर भट्टाकलंकदेवने श्रुतके दो उपयोग बतलाये हैं। यथा–

"उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥६२॥"–लघीयस्त्रय।

---

१. 'तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थप्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः ॥'
–सर्वार्थसि० १–६।

अर्थात्–श्रुतके दो उपयोग (व्यापार) हैं। उनमें-से एकका नाम स्याद्वाद है और दूसरेका नाम है नय। सम्पूर्ण वस्तुके कथनको स्याद्वाद कहते हैं और वस्तुके एकदेशके कथनको नय कहते हैं।

यह पहले स्पष्ट कर दिया गया है कि श्रुतमें शब्दकी मुख्यता है। जब कोई ज्ञाता शब्दोंके द्वारा अपने ज्ञानको दूसरोंके प्रति प्रकट करनेके अभिमुख होता है तो उसका वह शब्दोन्मुख ज्ञान स्वार्थश्रुत कहा जाता है और वह जो वचन बोलता है वह परार्थश्रुत है।

स्वयं जाननेका साधन ज्ञान है और दूसरोंको बतलानेका साधन है शब्द। किन्तु ज्ञानमें और शब्दमें एक बड़ा अन्तर है। ज्ञान सम्पूर्ण वस्तुको एक साथ जान सकता है, किन्तु शब्द उसे एक साथ कह नहीं सकता। क्योंकि वचनका व्यापार क्रमसे होता है। फिर जैनदर्शन वस्तुको अनेकान्तात्मक मानता है। अन्त कहते हैं अंश अथवा धर्मको। जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक वस्तु परस्परमें विरुद्ध प्रतीत होनेवाले सापेक्ष अनेक धर्मोंका समूह है। न वह सर्वथा सत् ही है और न सर्वथा असत् ही है। न सर्वथा नित्य ही है और न वह सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षासे वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षासे असत् है। किसी अपेक्षासे नित्य है तो किसी अपेक्षासे अनित्य है। इस प्रकार वस्तु अनेकान्तात्मक है। और अनेकान्तात्मक वस्तुके कथन करनेका नाम स्याद्वाद है। तथा उस अनेकान्तात्मक वस्तुके विवक्षित किसी एक धर्मके सापेक्ष कथनका नाम नय है।

इस तरह श्रुतके दो उपयोग होते हैं। जहाँतक श्रुतज्ञानका प्रश्न है, दर्शनान्तरोंमें उसे शाब्दप्रमाण या आगमप्रमाणके रूपमें माना गया है। किन्तु उसके दोनों व्यापारोंका कथन दर्शनान्तरोंमें नहीं है। स्याद्वाद और नयवाद जैनदर्शनकी देन है। अतः आगे उन दोनोंका विस्तारसे कथन किया जाता है।

स्याद्वाद

स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें स्याद्वादका लक्षण इस प्रकार कहा है—

"स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥ १०४॥"

'सर्वथा एकान्तको त्याग कर अर्थात् अनेकान्तको स्वीकार करके सात भंगों और नयोंकी अपेक्षासे, स्वभावकी अपेक्षा सत् और परभावकी अपेक्षा असत् इत्यादि रूपसे जो कथन करता है उसे स्याद्वाद कहते हैं। 'किं'शब्दमें चित्, चन इत्यादि प्रत्ययोंको जोड़नेसे जो रूप बनते हैं जैसे किंचित्, कथंचित्, कथंचन,

ये सब स्याद्वादके पर्याय शब्द हैं। 'स्याद्वादके बिना हेय और उपादेयकी व्यवस्था नहीं बनती। अकलंकदेवने संक्षेपमें 'अनेकान्तात्मक अर्थके कथनको स्याद्वाद'[1] कहा है तथा, सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि सर्वथा एकान्तोंके निराकरणको अनेकान्त[2] कहा है। अब प्रश्न यह है कि स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थका कथन कैसे करता है ?

'स्यात्' यह लिङ्लकारका क्रियारूप पद भी होता है और उसका अर्थ होता है—'होना चाहिए'। परन्तु यह वह नहीं है। यह तो निपात है। किन्तु निपातरूप स्यात् शब्दके भी संशय आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ वे सब अर्थ न लेकर केवल अनेकान्तरूप[3] अर्थ ही लेना चाहिए। 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका सूचक भी है, द्योतक भी है। वाक्यके[4] साथ उसे सम्बद्ध कर देनेसे वह प्रकृत अर्थका पूरी तरहसे सूचन करता है; क्योंकि प्रायशः निपातोंका यही स्वभाव होता है। तथा निपात द्योतक भी होते हैं। अतः स्यात् शब्दके अनेकान्तका द्योतक होनेमें भी कोई दोष नहीं है।

कोई भी वाक्य केवलज्ञानकी तरह अपने वाच्यको एक साथ नहीं कहता। इसीसे उसके साथ वाच्यविशेषका सूचक स्यात् शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

इस प्रकार अनेकान्तके द्योतनके लिए सभी वाक्योंके साथ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग आवश्यक है। उसके बिना अनेकान्तका प्रकाशन सम्भव नहीं है। शायद कहा जाये कि लौकिक जन तो सब वाक्योंके साथ स्यात् पदका प्रयोग करते नहीं देखे जाते। इसका उत्तर देते हुए अकलंकदेवने लिखा है—

"सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥६३॥"—लघीयस्त्रय।

'यदि शब्दोंका प्रयोग करनेवाला पुरुष कुशल हो तो स्यात्कार और एवकारका प्रयोग न किये जानेपर भी विधिपरक, निषेधपरक तथा अन्यप्रकारके वाक्योंमें भी स्यात्कार और एवकारकी प्रतीति स्वयं हो जाती है।'

---

१. 'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।'—लघीयस्त्रय विवृति, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६८६।
२. 'सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।—अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ० २८६।
३. 'स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः। तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते।'—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० २५३।
४. 'तत्र क्वचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया प्रकृतार्थतत्त्वमनवयवेन सूचयति, प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वादेवकारादिवत्।'—अष्टसहस्री, पृ० २८६।

[1]जो वादी वाक्यके साथ 'स्यात्'पदका प्रयोग करना पसन्द नहीं करते, उन्हें सर्वथा एकान्तवादको मानना पड़ेगा और उसके माननेमें प्रमाणसे विरोध आता है। अतः उस विरोधको दूर करनेके लिए समस्त वाक्योंमें 'स्यात्' पदका प्रयोग करना चाहिए। इसी तरह वाक्यमें एवकार (ही) का प्रयोग न करनेपर भी सर्वथा एकान्तको मानना पड़ेगा; क्योंकि उस स्थितिमें अनेकान्तका निराकरण अवश्यंभावी है। जैसे—'उपयोग लक्षण जीवका ही है' इस वाक्यमें एवकार (ही) होनेसे यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसीका न होकर जीवका ही है। अतः यदि इसमें-से 'ही' को निकाल दिया जाये तो उपयोग अजीवका भी लक्षण हो सकता है। और ऐसा होनेसे बाह्य अर्थकी व्यवस्थाका लोप हो जायेगा।

शंका—वाक्यके साथ एवकारका (ही) प्रयोग हो या न हो, किन्तु उसकी प्रतीति होना तो उचित है; क्योंकि एवकारके प्रयोगसे अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद नामक फल पाया जाता है। जैसे 'चैत्र धनुर्धर ही है' इसमें अयोगव्यवच्छेद है। क्योंकि लोकमें चैत्र धनुर्धर प्रसिद्ध नहीं है। अतः चैत्र 'धनुर्धर नहीं है' इस आशंकाको दूर करके उसे धनुर्धर बतानेके लिए 'चैत्र धनुर्धर ही है' इस वाक्यका उपयोग किया जाता है। 'पार्थ ही धनुर्धर है' इस वाक्यमें अन्ययोगव्यवच्छेद है। पार्थ (अर्जुन) के धनुर्धर न होनेकी शंका किसीको भी नहीं है; क्योंकि धनुर्धरके रूपमें ही उसकी सर्वत्र ख्याति है, किन्तु पार्थमें जो विशिष्ट प्रकारका धनुषधारीपना है वह जब अन्य पुरुषोंमें भी माना गया तो उसकी निवृत्तिके लिए 'पार्थ ही धनुर्धर है' इस प्रकारका वाक्यप्रयोग किया जाता है। इसी तरह 'नील कमल होता ही है' इस वाक्यमें अत्यन्तायोगव्यवच्छेद है; क्योंकि 'कमल नीला नहीं होता' ऐसी आशंका होनेपर उसके व्यवच्छेदके लिए 'नील कमल होता ही है' इस प्रकारका वाक्यप्रयोग किया जाता है। इस तरह वाक्यके साथ एवकारका प्रयोग तो उचित है, किन्तु स्यात्कारका प्रयोग तो निष्फल है उससे कोई लाभ प्रतीत नहीं होता।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है। स्यात्कारके बिना इष्टकी विधि और अनिष्टका निषेध नहीं बन सकता। जैसे, 'पार्थ ही धनुर्धर है' ऐसा कहनेपर सर्वत्र सर्वदा सभी अन्य पुरुषोंमें धनुर्धरत्वका अभाव प्रतीत होता है। और यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है। शायद कहा जाये कि जिस प्रकारका धनुर्धरत्व पार्थमें

१. न्या० कु० च०, पृष्ठ ६९२। सिद्धिविनिश्चय–पृ० ६४७-६५३।

है उस प्रकारका धनुर्धरत्व अन्य पुरुषोंमें नहीं है, यह बतलानेके लिए ही 'पार्थ ही धनुर्धर है' ऐसा कहा गया है। तो इस प्रकारका अर्थ स्यात् पदके प्रसादसे ही लिया जाना शक्य है। ऐसी स्थितिमें स्यात् पद निष्फल कैसे हो सकता है ?

तथा 'चैत्र धनुर्धर है' इत्यादि वाक्योंमें धनुर्धरत्व आदिसे अयोग आदिका व्यवच्छेद करनेवाले एवकारके द्वारा यदि धनुर्धरत्वसे भिन्न होनेके कारण अशब्द-वाच्य अधनुर्धरत्व आदिकी भी निवृत्ति की जाती है तो शूरता, उदारता आदि धर्मोंकी भी निवृत्ति की जानी चाहिए; क्योंकि वे भी शब्दवाच्य धनुर्धरत्व आदिसे भिन्न हैं।

शंका—जिसमें जिस धर्मका नियम किया जाता है उसके विरोधी धर्मकी ही निवृत्ति की जाती है। चैत्रमें धनुर्धरत्वका नियम करनेपर अधनुर्धरत्व उससे विरुद्ध है। पार्थमें असाधारण धनुर्धरत्वकी विधि करनेपर समस्त जगत्में पाया जाने-वाला साधारण धनुर्धरत्व उससे विरुद्ध है। इसी तरह कमलमें नीलत्वकी विधि करनेपर उसमें नीलका बिलकुल भी न पाया जाना विरुद्ध है। अतः एवकारसे उन्हीं विरुद्ध धर्मोंकी निवृत्ति की जाती है, शूरता आदि धर्मोंकी नहीं। क्योंकि यद्यपि शूरता आदि धर्म भी धनुर्धरत्व आदि धर्मोंसे भिन्न है किन्तु फिर भी धनुर्धरत्वसे उनका कोई विरोध नहीं है।

समाधान—यह तो अन्धे सर्पके बिलमें प्रवेश करनेके न्यायका ही अनुसरण है, स्याद्वादको माने विना इस प्रकारका विभाग नहीं किया जा सकता।

शंका—स्याद्वादको माननेपर भी एक प्रश्न खड़ा ही रहता है, जब अधनुर्ध-रत्व भी शब्दवाच्य नहीं है और शूरता आदि भी शब्दवाच्य नहीं है तब एवकारसे धनुर्धरत्वके विरोधी अधनुर्धरत्वकी ही निवृत्ति क्यों होती है, सभीकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—उसकी वैसी ही सामर्थ्य है। शब्दका प्रयोग स्वार्थका कथन करनेके लिए किया जाता है और स्वार्थ भावाभावात्मक है। स्वरूपकी अपेक्षासे भावका व्यवहार किया जाता है और प्रतियोगीकी अपेक्षा अभावका व्यवहार किया जाता है। विरोधी धर्म ही प्रतियोगी होता है अविरोधी नहीं। अतः सबकी निवृत्तिकी शंका करना ही बेकार है।

सप्तभंगी

[1]यह कहना ठीक नहीं है कि शब्द प्रधान रूपसे विधिका ही कथन करता

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १२८। सूत्र १–६।

है। क्योंकि ऐसा होनेपर शब्दसे निषेधका ज्ञान नहीं हो सकेगा। शायद कहा जाये कि शब्द गौणरूपसे निषेधको भी कहता है, किन्तु ऐसा कहना भी निःसार है; क्योंकि सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा प्रधान रूपसे जिसका कथन नहीं किया जाता उसका गौणरूपसे कथन करना सम्भव नहीं है। इसी तरह प्रधान रूपसे प्रतिषेधको ही शब्द कहता है, ऐसा मत भी इसीसे निरस्त हो जाता है। शब्द क्रमसे विधि और निषेध दोनोंका ही प्रधान रूपसे कथन करता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि शब्दसे प्रधान रूपसे अकेले विधि और अकेले निषेधकी भी प्रतीति होती है।

शब्द एक साथ विधि-निषेधरूप अर्थका वाचक नहीं ही है, ऐसा कहना भी मिथ्या है क्योंकि ऐसा होनेपर उस विधि-निषेधरूप अर्थको 'अवक्तव्य' शब्दसे भी नहीं कहा जा सकेगा। शब्द विधिरूप अर्थका वाचक और विधिनिषेधरूप अर्थका एक साथ अवाचक ही है ऐसा एकान्त भी युक्त नहीं है; क्योंकि शब्द एक साथ निषेधरूप अर्थका वाचक और विधिनिषेधरूप अर्थका अवाचक प्रतीत होता है। शब्द एक साथ निषेधरूप अर्थका वाचक और विधिनिषेधरूप अर्थका अवाचक ही है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि शब्द विधिरूप अर्थका वाचक और एक साथ विधिनिषेधरूप अर्थका अवाचक भी प्रतीतिसिद्ध है। शब्द क्रमसे विधिनिषेधरूप अर्थका वाचक और युगपद् विधिनिषेधरूप अर्थका अवाचक ही है। ऐसा कहना भी प्रतीति विरुद्ध है; क्योंकि विधिप्रधान आदि रूपसे भी शब्दार्थकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार विधि और निषेधके विकल्पसे अर्थमें शब्दकी प्रवृत्ति सात प्रकार-से होती है। उसे ही सप्तभंगी कहते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार है—

"प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।"
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० १-६, पृ० ३३।

अर्थात्—एक वस्तुमें प्रश्नके वशसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अविरुद्ध विधि और निषेधकी कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं।

विधि और प्रतिषेधको कल्पनामूलक सात भंग इस[1] प्रकार हैं—१. विधि-कल्पना, २. प्रतिषेधकल्पना, ३. क्रमसे विधिप्रतिषेधकल्पना, ४. युगपद् विधि-प्रतिषेधकल्पना, ५. विधिकल्पना और युगपद् विधिप्रतिषेधकल्पना, ६. प्रति-

१. अष्टसहस्री, पृ० १२५।

षेधकल्पना और युगपद् विधिप्रतिषेधकल्पना, ७. क्रम और युगपद् विधिप्रतिषेधकल्पना।

इनके अतिरिक्त कोई आठवाँ भंग सम्भव नहीं है। इनके संयोगसे उत्पन्न हुए कुछ भंगोंका तो इन्हीं भंगोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंगोंको परस्परमें मिलानेसे उत्पन्न हुए भंगोंका अन्तर्भाव तीसरे, पाँचवें, छठे और सातवें भंगमें हो जाता है। और शेष सम्मिश्रित भंग पुनरुक्त होनेसे व्यर्थ प्रमाणित होते हैं।

शंका—विधिकल्पना ही सत्य है अतः विधिकल्पनामूलक एक भंग ही मानना चाहिए।

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रतिषेधकल्पना भी सत्य है।

शंका—प्रतिषेधकल्पना ही सत्य है, अतः प्रतिषेधकल्पनामूलक भंग ही मानना चाहिए।

समाधान—ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभावैकान्त प्रमाणविरुद्ध है।

शंका—तो सद्रूप अर्थका कथन करनेके लिए विधिवाक्य और असद्रूप अर्थका कथन करनेके लिए प्रतिषेधवाक्य, इस तरह दो ही वाक्य या भंग मान लेनेसे काम चल जायेगा; क्योंकि सत् और असत्को छोड़कर अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो शब्दका विषय हो।

समाधान—यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जिसमें सत् अथवा असत्में-से एक ही धर्म प्रधान रूपसे विवक्षित है ऐसी वस्तुसे, जिसमें सत् और असत् दोनों धर्म प्रधान रूपसे विवक्षित हैं ऐसी वस्तु भिन्न होती है। केवल विधिमूलक वचनके द्वारा या केवल प्रतिषेधमूलक वचनके द्वारा क्रमसे विवक्षित दोनों धर्मोंका कथन नहीं किया जा सकता।

शंका—तो सत्, असत् और दोनोंको कथन करनेवाले इस तरह शुरूके तीन ही वाक्य मानना युक्त है?

समाधान—एक साथ सत् असत् दोनोंको विषय करनेवाला अवक्तव्य नामका चौथा भंग भी आवश्यक है।

शंका—तो फिर चार ही वाक्य मानने चाहिए?

समाधान—अवक्तव्यके साथ सत्, असत् और दोनोंको विषय करनेवाले अन्तके तीन वाक्य भी आवश्यक हैं।

शंका—एक जीवादि वस्तुमें विधिरूप और निषेधरूप अनन्त धर्म रहते हैं अतः उनकी अपेक्षा अनन्त भंगी भी हो सकती है ?

समाधान—एक वस्तुमें अनन्तधर्म रहते हैं और एक-एक धर्मके विधि-निषेधकी अपेक्षा सप्तभंगी होती है। इस तरह एक वस्तुमें अनन्त सप्तभंगी होनेमें कोई हानि नहीं है।

[१]शंका—सात ही प्रकार क्यों हैं ?

समाधान—एक धर्मके विधि-निषेधकी विवक्षासे सात ही भंग होते हैं; क्योंकि प्रश्नके भी सात ही प्रकार होते हैं। और प्रश्नोंके अनुसार ही सप्तभंगी होती है।

शंका—प्रश्नके सात ही प्रकार क्यों होते हैं ?

समाधान—क्योंकि जिज्ञासा सात प्रकारकी होती है।

शंका—जिज्ञासाके भी सात ही प्रकार क्यों होते हैं ?

समाधान—क्योंकि संशयके सात प्रकार होते हैं।

शंका—सात प्रकारके ही संशय क्यों हैं ?

समाधान—क्योंकि संशयको विषयभूत वस्तुके धर्म सात प्रकारके होते हैं। जैसे किसी वस्तुमें अस्तित्वविषयक जिज्ञासाके होनेपर प्रश्नकी प्रवृत्ति होती है वैसे ही उस अस्तित्वके अविनाभावी नास्तित्व आदि धर्मोंकी जिज्ञासा होनेपर भी प्रश्नकी प्रवृत्ति होती है। अतः जिज्ञासाके सात प्रकार होनेसे प्रश्नके सात प्रकार होते हैं और प्रश्नके सात प्रकार होनेसे वचनोंके सात प्रकार होते हैं। अतः 'प्रश्नवश एक वस्तुमें सप्तभंगी होती है' यह कथन उचित ही है; क्योंकि सातसे अतिरिक्त आठवें भंगके निमित्तसे हो सकनेवाला आठवाँ प्रश्न सम्भव नहीं है और उसके सम्भव न होनेका कारण यह है कि उस विषयक जिज्ञासा सम्भव नहीं है, और उस विषयक जिज्ञासा इसलिए सम्भव नहीं है; क्योंकि उस विषयक कोई विवाद सम्भव नहीं है। और विवाद इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तुमें विधि-प्रतिषेधकी कल्पनाके द्वारा कोई अन्य अविरुद्ध धर्मान्तर सम्भव नहीं है। ऐसी स्थितिमें जब वस्तुमें कोई अन्य अविरुद्ध धर्मान्तर सम्भव नहीं है तो प्रश्नान्तरकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है और उसके अभावमें यदि कुछ असम्बद्ध प्रलाप किया भी जाये तो वह उत्तर देनेके योग्य नहीं हो सकता।

१, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १३२।

वह प्रश्नान्तर या तो पृथक्-पृथक् अस्तित्व-नास्तित्व धर्मोंके विषयमें हो सकता है या समस्तके विषयमें हो सकता है ? प्रथम पक्षमें यदि प्रधानरूपसे अस्तित्व या नास्तित्वके विषयमें प्रश्न है तो प्रथम और द्वितीय (भंगसम्बन्धी) प्रश्नमें उनका समावेश हो जाता है। और यदि सत्त्वधर्मकी गौणताको लेकर प्रश्न है तो दूसरे (भंगसम्बन्धी) प्रश्नमें और यदि असत्त्वधर्मकी गौणताको लेकर प्रश्न है तो प्रथम प्रश्नमें उसका समावेश हो जाता है।

यदि समस्त अस्तित्व-नास्तित्वविषयक प्रश्नान्तर है तो क्रमसे होनेपर तीसरे-में, युगपद् होनेपर चौथेमें, प्रथम और चतुर्थके समुदायविषयक होनेपर पाँचवेंमें दूसरे और चतुर्थके समुदायविषयक होनेपर छठेमें और तीसरे तथा चतुर्थके समुदायविषयक होनेपर सातवेंमें अन्तर्भाव हो जाता है, इस तरह सातमें ही सब प्रश्नान्तरोंका समावेश हो जाता है। प्रथम और तीसरेके समुदायविषयक प्रश्न तो पुनरुक्त हो जाता है; क्योंकि प्रथम प्रश्न तीसरेका ही भाग है। इसी तरह प्रथमको चतुर्थ आदिके साथ, दूसरेको तृतीय आदिके साथ, तीसरेको चतुर्थ आदिके साथ, चतुर्थको पंचम आदिके साथ, पाँचवेंको छठे आदिके साथ और छठेको साँतवेंके साथ समस्त करके जो प्रश्नान्तर होते हैं वे सब पुनरुक्त हैं। अतः तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवेंको मिलाकर प्रश्नान्तर सम्भव नहीं हैं। इसलिए सप्तभंगीके स्थानमें सात सौ भंगीकी किंचित् भी सम्भावना नहीं है।

शंका—तब तो तीसरे आदि प्रश्न भी पुनरुक्त हैं ?

समाधान—नहीं, तीसरेमें दोनों धर्मोंको क्रमसे प्रधान रूपसे पूछा गया है। प्रथम और दूसरेमें इस प्रकारसे उन्हें नहीं पूछा गया। उनमें तो प्रधान रूपसे केवल एक सत्त्व धर्मको और केवल एक असत्त्व धर्मको ही पूछा गया है तथा चौथेमें दोनोंको युगपद् प्रधानभावसे पूछा गया है। पाँचवेंमें सत्त्वके साथ अवक्तव्यको प्रधान रूपसे पूछा गया है। छठेमें नास्तित्वके साथ अवक्तव्यको प्रधान-रूपसे पूछा गया है और सातवेंमें क्रम और युगपद् सत्त्व और असत्त्वको प्रधान रूपसे पूछा गया है। अतः पुनरुक्तता नहीं है।

शंका—इस तरह तो तीसरेको पहलेके साथ मिलानेपर दो अस्तित्व धर्मों और एक नास्तित्व धर्मकी प्रधानतासे, तीसरेको दूसरेके साथ मिलानेपर दो नास्तित्व धर्मोंकी और एक अस्तित्व धर्मको प्रधानतासे प्रश्नान्तर हो सकते हैं; क्योंकि उक्त सात प्रश्नोंमें इस प्रकारसे नहीं पूछा गया है। इसी तरह चौथेको पाँचवेंके साथ मिलानेपर दो अवक्तव्य और एक अस्तित्वकी, चौथेको छठेके साथ

३९

मिलानेपर दो अवक्तव्यों और एक नास्तित्वकी, चौथेको सातवेंके साथ मिलानेपर दो अवक्तव्यों और क्रम तथा प्रधान रूपसे एक अस्तित्व और एक नास्तित्वकी पृच्छा होनेपर भी नये प्रश्न पैदा हो सकते हैं। इसी तरह पाँचवेंको छठेके साथ मिलानेपर दो अवक्तव्यों, एक अस्तित्व और एक नास्तित्वकी, पाँचवेंको सातवेंके साथ मिलानेपर दो अवक्तव्यों, दो नास्तित्वों और एक अस्तित्वकी पृच्छा होनेपर नये भंग पैदा हो सकते हैं। इस तरह और भी भंगान्तर होनेसे आप शतभंगीका निषेध कैसे कर सकते हैं?

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं है। एक वस्तुमें अनेक अस्तित्व, अनेक नास्तित्व और अनेक अवक्तव्य धर्म नहीं रह सकते। किन्तु जीववस्तुमें जीवत्वकी अपेक्षा अस्तित्व, अजीवत्वकी अपेक्षा नास्तित्व या मुक्तत्वकी अपेक्षा अस्तित्व और अमुक्तत्वकी अपेक्षा नास्तित्व इत्यादि रूपसे अनन्त स्व और परपर्यायोंकी अपेक्षा अनेक अस्तित्व और अनेक नास्तित्व रह सकते हैं। क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और जीवमें जीवत्व-अजीवत्वकी अपेक्षाकी तरह मुक्तत्व और अमुक्तत्वकी अपेक्षा भी अस्तित्व और नास्तित्व धर्म रह सकते हैं। क्योंकि वस्तुमें वर्तमान प्रत्येक धर्मके विधि-निषेधको लेकर पृथक्-पृथक् सप्तभंगीकी अवतारणा होती है। इसलिए न तो सप्तभंगी अतिव्यापिनी है, न अव्यापिनी है और न असंभविनी है।

शंका—सप्तभंगीके सात भंगोंमें-से किसी एक भंगके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तुका प्रधानता या गौणतासे कथन हो जाता है, अतः शेष भंग अनर्थक क्यों नहीं हैं?

समाधान—उनके द्वारा अन्य-अन्य धर्मोंकी प्रधानता और शेष धर्मोंकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान होता है। अतः शेष भंग व्यर्थ नहीं है।

आगे सात भंगोंमें-से प्रथम और द्वितीय भंगका समर्थन करते हैं—

> **"सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि-चतुष्टयात्।**
> **असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥"—आप्तमीमांसा।**

समस्त चेतन अथवा अचेतन द्रव्य और पर्याय आदि स्वरूपादि चतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव) की अपेक्षा सत् ही हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा असत् ही हैं, ऐसा कौन नहीं मानता? अपितु लौकिक हो या परीक्षक, स्याद्वादी हो या सर्वथा एकान्तवादी, यदि वह

---

१. अष्टसहस्री, पृ० १३१।

सचेतन है तो उसे ऐसा मानना ही होगा; क्योंकि प्रतीतिका अपलाप करना शक्य नहीं है। यदि कोई स्वयं ऐसा जानते हुए भी दुराग्रहवश उसे नहीं मानता तो वह किसी भी इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था नहीं कर सकता; क्योंकि वस्तुका वस्तुत्व स्वरूपके ग्रहण और पररूपके परिहारकी व्यवस्थापर ही अवलम्बित है।

यदि वस्तुको स्वरूपकी तरह पररूपसे भी सत् माना जाता है तो चेतनके अचेतनरूप होनेका प्रसंग आता है। और यदि वस्तुको पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत् माना जाता है तो सर्वथा शून्यवादकी आपत्ति आती है। इसी तरह यदि वस्तुको स्वद्रव्यकी तरह परद्रव्यसे भी सत् माना जाता है तो द्रव्योंके प्रतिनियममें विरोध आता है। तथा परद्रव्यकी तरह यदि स्वद्रव्यसे भी वस्तुको असत् माना जाता है तो समस्त द्रव्योंके निराश्रय होनेका प्रसंग आता है। तथा स्वक्षेत्रकी तरह परक्षेत्रसे भी सत् माननेपर किसी वस्तुका कोई प्रतिनियत क्षेत्र व्यवस्थित नहीं हो सकता। परक्षेत्रकी तरह स्वक्षेत्रसे भी असत् माननेपर वस्तुको निःक्षेत्रताकी आपत्ति आती है अर्थात् उसका कोई क्षेत्र ही नहीं रहेगा। तथा स्वकालकी तरह परकालसे भी वस्तुको सत् माननेपर वस्तुका कोई सुनिश्चित काल नहीं हो सकेगा। परकालकी तरह स्वकालसे भी असत् माननेपर समस्त कालमें न होनेका प्रसंग आयेगा। और ऐसी स्थितिमें किसी वस्तुका कोई सुनिश्चित स्वरूप व्यवस्थित न हो सकनेसे इष्ट और अनिष्ट तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जैसे, सामान्य रूपसे जीवका स्वरूप उपयोग (जानना-देखना) है। तत्त्वार्थसूत्रमें जीवका लक्षण उपयोग कहा है। उपयोगसे भिन्न अनुपयोग जीवका पररूप है। अतः जोव स्वरूप (उपयोग) से सत् है और पररूप (अनुपयोग) से असत् है। इसी तरह प्रत्येक द्रव्य और पर्यायका जो स्वरूप है वह उसीकी अपेक्षा सत् है उससे भिन्न जो पररूप है उसकी अपेक्षा वह असत् है।

शंका—स्वरूपकी अपेक्षा जो सत्त्व है वही पररूपकी अपेक्षा असत्त्व है। अतः वस्तुमें स्वरूपकी अपेक्षा सत्त्वमें और पररूपकी अपेक्षा असत्त्वमें कोई भेद नहीं है। इसलिए पहले और दूसरे भंगमें-से एक भंग गतार्थ हो जानेसे दूसरा भंग बेकार हो जाता है और ऐसो स्थितिमें तीसरे आदि भंग भी नहीं बन सकते। तब सप्तभंगी कैसे बन सकती है ?

समाधान—स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षाके स्वरूपमें और पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षाके स्वरूपमें भेद है और इसलिए एक वस्तुमें इन दोनों अपेक्षाओंसे पाये जानेवाले सत्त्व और असत्त्वमें भो भेद है। यदि उन दोनोंको अभिन्न माना जाता है तो स्वरूपादिचतुष्टयकी तरह पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे भो

वस्तुके सत्त्वका प्रसंग आता है, अथवा पररूपादिचतुष्टयकी तरह स्वरूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षासे भी वस्तुके असत्त्वका प्रसंग आता है। अपेक्षाके भेदसे किसी वस्तुमें धर्मभेदकी प्रतीति होनेमें कोई बाधा नहीं है, जैसे बेलमें बेरकी अपेक्षा स्थूलताकी और बिजौरा नीबूकी अपेक्षा सूक्ष्मताकी प्रतीति होनेमें कोई बाधा नहीं है। यदि सभी आपेक्षिक धर्मोंको अवास्तव माना जायेगा तो नील, नीलतर, सुख, सुखतर आदि प्रत्यय भी अवास्तविक हो जायेंगे। किन्तु इस प्रकारके प्रत्यय यथार्थ हैं। अतः सब पदार्थ कथंचित् सदसदात्मक हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो सब पदार्थ सब कार्य कर सकेंगे। किन्तु सब पदार्थ सब काम नहीं कर सकते। घटको तरह वस्त्र आदिसे पानी भर लानेका काम नहीं लिया जा सकता और न वस्त्र घटादिका ज्ञान ही करा सकता है। सब पदार्थ कथंचित् उभयात्मक हैं। इस विषयमें दृष्टान्त भी सुलभ है। सभी वादियोंका स्वेष्ट तत्त्व स्वरूपकी अपेक्षा सत् और पररूपकी अपेक्षा असत् है। इसमें कोई विवाद नहीं है। और इसीको दृष्टान्तके रूपमें लिया जा सकता है।

शंका—एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व धर्मका रहना युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि जो धर्म परस्परमें विरोधी होते हैं वे एक आधारमें नहीं रह सकते, जैसे शीत और उष्ण स्पर्श।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि स्वरूप और पररूपकी अपेक्षा-से सत्त्व और असत्त्व धर्मके एक आधारमें रहनेमें कोई विरोध नहीं है। यह तो प्रतीतिसिद्ध है। जो एक साथ एक आधारमें नहीं पाये जाते उन्हींमें विरोध होता है। जिस समय वस्तु स्वरूपादिकी अपेक्षासे सत् है उसी समय पररूपादिकी अपेक्षासे उसमें असत्त्वकी अनुपलब्धि नहीं है। जिससे उनमें शीत और उष्ण स्पर्शकी तरह सहानवस्थान (एक साथ न रहना) लक्षणवाला विरोध माना जाये। दूसरा विरोध है परस्परपरिहारस्थिति लक्षणवाला। यह विरोध तो एक आममें एक साथ रहनेवाले रूप रसकी तरह, एक वस्तुमें एक साथ रहनेवाले ही सत्त्व और असत्त्व धर्मोंमें पाया जाता है। तीसरा विरोध है वध्यधातकरूप जो सर्प और नेवलेकी तरह बलवान् और कमजोरके बीचमें पाया जाता है। सत्त्व और असत्त्व तो समान बलशाली हैं, अतः उनमें यह तीसरा विरोध भी सम्भव नहीं है। अतः एक वस्तुमें अपेक्षाभेदसे सत्त्व और असत्त्व धर्मोंके रहनेमें कोई विरोध नहीं है।

प्रारम्भके दो भंगोंका विवेचन करके उन्हें और भी स्पष्ट करनेके लिए जीवके साथ सप्तभंगीको घटित करते हैं—स्यात् अस्ति एव जीवः, स्यात् नास्ति एव

जीवः, स्यादवक्तव्य एव जीवः, स्यात् अस्ति नास्ति एव जीवः, स्यादस्ति अवक्तव्य, एव जीवः, स्यात् नास्ति अवक्तव्य एव जीवः, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव जीवः।

प्रथम और द्वितीय भंग—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति

[1]'स्यात् अस्ति एव जीवः' इस वाक्यमें जीवशब्द विशेष्य होनेसे द्रव्यवाची है, अस्ति शब्द विशेषण होनेसे गुणवाची है। उन दोनोंमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध बतलानेके लिए एवकार रखा गया है। अब यदि 'अस्ति एव जीवः' (जीव सत् ही है) इतना ही कहा जाता है तो जीवमें असत् आदि अन्य धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग आता है। अतः जीवमें अन्य धर्मोंका भी अस्तित्व बतलानेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'स्यात्' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। उसके अनेक अर्थ हैं। यहाँ विवक्षावश 'अनेकान्त' अर्थ लिया जाता है।

शंका—यदि स्यात् शब्दका अर्थ अनेकान्त है तो उसीसे सब धर्मोंका ग्रहण हो जानेसे शेष पदोंका प्रयोग व्यर्थ ठहरता है ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है; क्योंकि यद्यपि 'स्यात्' शब्दसे सामान्यरूपसे अनेकान्तका ग्रहण हो जाता है तथापि विशेषार्थीको विशेष शब्दोंका प्रयोग करना ही होता है जैसे वृक्ष शब्दसे यद्यपि सभी प्रकारके वृक्षका ग्रहण होता है फिर भी धव आदि विशेष वृक्षोंका कथन करनेके लिए धव आदि शब्दोंका प्रयोग करना ही होता है।

अथवा 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक है और जो द्योतक होता है वह किसी वाचक शब्दके निकटमें हुए बिना इष्ट अर्थका द्योतन नहीं कर सकता। अतः उसके द्वारा प्रकाश्य धर्मके आधारभूत अर्थका कथन करनेके लिए इतर शब्दोंका प्रयोग किया जाता है।

शंका—तब तो 'स्यात् अस्ति एव जीवः' (कथंचित् जीव सत् ही है) इस सकलादेशी वाक्यसे ही जीवद्रव्यके सभी धर्मोंका संग्रह हो जाता है अतः बाकीके भंग निरर्थक हैं ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है; क्योंकि गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भंगोंका प्रयोग सार्थक है। जैसे, द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणतामें पहले भंगका प्रयोग होता है। पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता और

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० २५३।

द्रव्यार्थिक नयकी गौणतामें दूसरे भंगका प्रयोग होता है। प्रधानता और अप्रधानता शब्दके अधीन है। जो शब्दके द्वारा विवक्षित हो वह प्रधान है और जो शब्दके द्वारा नहीं कहा गया है और अर्थसे गम्यमान होता है वह अप्रधान है। तीसरे अवक्तव्य भंगमें युगपद् विवक्षा होनेसे दोनों ही अप्रधान है; क्योंकि दोनोंको प्रधानरूपसे एक साथ कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। चौथे भंगमें दोनों ही प्रधान हैं, क्योंकि क्रमसे अस्ति आदि शब्दोंके द्वारा दोनोंका ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार शेष भंग भी आगे कहेंगे।

अब प्रथम भंगके प्रत्येक पदकी सार्थकता बतलाते हैं–'जीव ही है' ऐसा अवधारण करनेपर अजीवके अभावका प्रसंग आता है। अतः अस्तित्वैकान्तवादी 'जीव है ही' ऐसा अवधारण करते हैं। और ऐसा अवधारण करनेसे जीवका सर्वथा अस्तित्व प्राप्त होता है अर्थात् सब प्रकारसे जीवका अस्तित्व प्राप्त होता है। और ऐसी स्थितिमें पुद्गल आदिके अस्तित्वसे भी जीवका अस्तित्व प्राप्त होता है; क्योंकि 'जीव है ही' इस शब्दसे यही अर्थ निकलता है और अर्थका बोध करानेमें शब्द ही प्रमाण है।

शंका––अस्तित्व सामान्यकी अपेक्षा जीव है, अस्तित्व-विशेषकी अपेक्षा जीव नहीं है, पुद्गल आदिका अस्तित्व तो अस्तित्वविशेष हैं, उसकी अपेक्षा जीवका अस्तित्व कैसे हो सकता है?

समाधान––यदि आप 'अस्तित्व सामान्यसे जीव है, पुद्गलादिगत अस्तित्व-विशेषसे नहीं', यह स्वीकार करते हैं तो आप स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि अस्तित्व दो प्रकारका है–एक सामान्य अस्तित्व और दूसरा विशेष अस्तित्व। ऐसी दशामें सामान्य अस्तित्वसे जीवके सत् होनेपर और विशेष अस्तित्वसे जीवके असत् होनेपर 'जीव है ही' में 'ही' लगाना निष्फल ही हो जाता है। यह तो तभी सार्थक हो सकता है जब नास्तित्वका निराकरण करके सब प्रकारसे जीवका अस्तित्व माना जाये। और वैसा माननेपर पुद्गलादिके अस्तित्वरूपसे भी जीवके अस्तित्वकी प्राप्ति होती है।

शंका––[1]जो कोई भी अस्तिरूप है वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भावरूपसे है अन्यरूपसे नहीं; क्योंकि अन्य अप्रस्तुत है। जैसे, घट द्रव्यकी अपेक्षा पार्थिवरूपसे, क्षेत्रकी अपेक्षा इस क्षेत्रसे, कालकी अपेक्षा वर्तमानकालरूपसे और भावकी अपेक्षा वर्तमान रक्तत्व आदि पर्याय रूपसे अस्तिरूप है। और परद्रव्य,

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० २५४।

परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा नहीं; क्योंकि उन सबका वहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है।

समाधान--तो इसका तो यही अर्थ हुआ कि घट अन्य द्रव्य, अन्य क्षेत्र, अन्य काल और अन्य भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। अतः 'स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति' सिद्ध होता है। यदि ऐसा नियम न माना जायेगा तो वह घट हो ही नहीं सकता। क्योंकि नियत द्रव्य, नियत क्षेत्र, नियत काल और नियत भाव-रूपसे वह नहीं है, जैसे गधेकी सींग। यदि वह घट अनियत द्रव्यादिरूप है तो वह सत्ता सामान्य ही हुआ, घट नहीं; क्योंकि जैसे सर्वपदार्थव्यापिनी महासत्ता-का कोई नियत द्रव्य, नियत क्षेत्र, नियत काल, और नियत भाव नहीं होता, घटका भी कोई नियत द्रव्यादि नहीं है। इसका विशेष इस प्रकार है—यदि घट जैसे द्रव्यकी अपेक्षा पार्थिव रूपसे है, वैसे ही यदि जलीय आदि रूपसे भी है तो वह घट ही नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो द्रव्यत्वकी तरह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि भी है। तथा जैसे वह इस क्षेत्रमें है वैसे ही यदि अन्य समस्त क्षेत्रोंमें भी हो तो वह घट नहीं रह जायेगा, वह तो आकाश बन जायेगा; क्योंकि आकाश सर्वत्र पाया जाता है। यदि इस कालकी तरह वह अतीत और अनागत कालमें भी वर्तमान हो तो वह घट नहीं रह जायेगा, किन्तु त्रिकालवर्ती होनेसे मिट्टी रूप हो जायेगा। जैसे इस देश, कालरूपसे वह घट हम लोगोंके प्रत्यक्ष है और पानी वगैरह लानेके काममें आता है वैसे ही यदि अतीत और अनागतकालों तथा अन्य देशोंमें भी वह हमारे प्रत्यक्षका विषय होता है और पानी वगैरह भरनेके काम आता है तथा जैसे नव रूपसे है वैसे ही पुरातन रूपसे भी है अथवा समस्त रस, समस्त रूप, समस्त गन्ध, समस्त स्पर्श, समस्त आकार आदि रूपसे भी है तो वह घट नहीं रह जायेगा, किन्तु सर्वव्यापी होनेसे महासत्ता हो जायेगा। जैसे महा-सत्ता किसी वस्तुसे और वस्तुधर्मसे व्यावृत्त नहीं है अतः वह घट नहीं है। इसी तरह घट भी घटरूप न रहकर महासत्तारूप हो जायेगा।

इसी तरह मनुष्य रूपसे विवक्षित जीव भी स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी दृष्टिसे ही अस्ति है अन्य द्रव्यादि रूपसे नहीं। यदि वह अन्य रूपसे भी 'अस्ति' हो तो वह मनुष्य हो नहीं रहेगा; क्योंकि उसका कोई नियत द्रव्यादि नहीं है जैसे गधेकी सींग। यदि वह अनियत द्रव्यादि रूप है तो वह मनुष्य न रह-कर महासत्ता हो जायेगा। इसका विशेष इस प्रकार है—यदि वह मनुष्य जैसे जीव द्रव्यरूपसे है वैसे ही यदि पुद्गलादि द्रव्यरूपसे भी हो तो वह मनुष्य ही नहीं रहेगा; क्योंकि द्रव्यत्वकी तरह पुद्गलादिमें भी उसका अस्तित्व पाया जाता है।

तथा जैसे वह इस क्षेत्रमें है वैसे ही यदि वह सभी देशोंमें हो तो वह मनुष्य ही नहीं रहेगा, क्योंकि आकाशकी तरह वह सर्वव्यापी है। तथा जिस प्रकार वह मनुष्य वर्तमानकालमें है वैसे ही यदि अतीत नारकी आदि और अनागत देव आदि पर्यायोंके कालरूपसे भी हो तो वह मनुष्य ही नहीं रहेगा; क्योंकि वह जीवत्वकी तरह सब कालोंमें पाया जाता है। जैसे वह इस देश और कालमें हमारे प्रत्यक्ष है वैसे ही यदि अतीत अनागतकाल तथा अन्य देशमें भी हमारे प्रत्यक्षका विषय होता है तथा जैसे वह युवारूप है वैसे ही यदि वृद्धरूपसे भी है तो वह मनुष्य ही नहीं रहेगा, वह तो महासत्ता हो जायेगा। अतः वस्तु स्यात् अस्ति और स्यात्-नास्ति है।

तथा जीव 'स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति' है; क्योंकि जीवका जीवत्व स्व-सत्ताके भाव और परसत्ताके अभावके अधीन है। यदि वह जीव अपनेमें परसत्ताके अभावकी अपेक्षा नहीं करता तो वह जीव न होकर सन्मात्र हो जायेगा। तथा परसत्ताके अभावकी अपेक्षा करनेपर भी यदि वह स्वसत्ताके सद्भावकी अपेक्षा नहीं करता तो वह जीवकी तो बात ही क्या, वस्तु ही नहीं हो सकेगा; क्योंकि उस अवस्थामें आकाशपुष्पकी तरह उसका अपना स्वरूप कुछ भी न होकर परका अभाव मात्र ही ठहरता है। अतः परका अभाव भी स्वसत्ताके सद्भावकी अपेक्षामें ही वस्तुका स्वरूप बनता है अन्यथा नहीं। जैसे अस्तित्वधर्म अस्तित्व-रूपसे है, नास्तित्वरूपसे नहीं है अतः वह उभयात्मक है। यदि ऐसा न माना जाये तो वस्तुका अभाव हो जाये। क्योंकि भावनिरपेक्ष अभाव अत्यन्त शून्यरूप वस्तुको कहता है। इसी तरह अभावनिरपेक्ष भाव भी वस्तुको सर्वरूप कहता है। किन्तु न तो कोई वस्तु सर्वात्मक या सर्वभावरूप कभी किसीने देखी है? जो सर्वभाव रूप है वह वस्तु ही नहीं है जैसे आकाशपुष्प। और यदि वस्तु सर्वात्मक है तो उसे कोई जान नहीं सकता। भावरूपसे विलक्षण होनेसे अभावता ठहरती है और अभावसे विलक्षण होनेसे भावता सिद्ध होती है। इस तरहसे भाव-रूपता और अभावरूपता–दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। अभाव अपने सद्भाव और भावके अभावकी अपेक्षासे सिद्ध होता है भाव भी अपने सद्भाव और अभावके अभावकी अपेक्षासे सिद्ध होता है। यदि अभावको एकान्त रूपसे 'अस्ति' ही माना जाता है तो सर्वात्मना अस्तिरूप होनेसे जैसे अभाव अभावरूपसे 'अस्ति' है वैसे ही भावरूपसे भी उसके अस्तित्वका प्रसंग आता है। और ऐसी स्थितिमें भावरूप और अभावरूपका संकर होनेसे दोनोंका ही अभाव हो जायेगा; क्योंकि दोनोंका ही स्वरूप नहीं बन सकता। तथा यदि अभावको एकान्तरूपसे नास्ति ही माना जाता है तो जैसे अभाव भावरूपसे नहीं है वैसे ही अभावरूपसे भी नहीं है।

और ऐसी स्थितिमें अभावका अभाव होनेसे भावमात्र ही रह जाता है। तब आकाशपुष्प वगैरह भी भावरूप हो जायेंगे, क्योंकि अभावका तो अभाव ही है। इसी तरह भावको भी सर्वथा सत् माननेपर उक्त दोषोंकी प्रक्रियाको लगा लेना चाहिए। अतः भाव और अभाव दोनों ही स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति हैं। उसी तरह जीव भी स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति है।

शंका—घटका कथन करते समय जब अर्थ और प्रकरणसे पटकी सत्ताका कोई प्रसंग ही नहीं है तो 'घट घट है और पट नहीं हैं' ऐसा कहकर उसमें पटकी सत्ताका निषेध क्यों आप करते हैं?

समाधान—ऐसी आशंका युक्त नहीं है; क्योंकि अर्थ होनेसे घटमें पट आदि सभी अर्थोंका प्रसंग आता ही है। यदि उसे हम विशिष्ट घटरूप अर्थ स्वीकार करते हैं तो अर्थ होनेके कारण प्रसंग प्राप्त सभी पटादि रूप अर्थोंका उससे निषेध करना ही होगा, तभी उसमें घटरूपता सिद्ध हो सकती है। अन्यथा तो वह अर्थ घट रूप सिद्ध हो ही नहीं सकता; क्योंकि पट आदि अन्य अर्थोंसे वह व्यावृत्त नहीं है।

घटका पटरूपसे जो अभाव है वह भी घटका ही धर्म है; क्योंकि घटके अस्तित्वकी तरह वह घटके ही अधीन है। अतः वह घटका ही धर्म है, चूँकि वह परकी अपेक्षासे व्यवहृत होता है अतः उसे उपचारसे पर पर्याय कहते हैं। वस्तुके स्वरूपका प्रकाशन स्व और पर विशेषणोंके अधीन होता है।

शंका—[1]'अस्ति एव जीवः' (जीव है ही) इस वाक्य में 'अस्ति'शब्दके वाच्य अर्थसे जीवशब्दका वाच्य अर्थ भिन्न स्वभाववाला है या अभिन्न स्वभाववाला है? यदि अभिन्न स्वभाववाला है तो अस्तिका जो सत् अर्थ है वही अर्थ जीवशब्दका भी हुआ। ऐसी स्थितिमें जीवमें अन्य धर्मोंको स्थान नहीं रहता। तथा जैसे घट और कुट शब्दोंका समान अर्थ होनेसे उन दोनोंमें सामानाधिकरण्य तथा विशेषण-विशेष्य भाव नहीं होता वैसे ही 'अस्ति और जीव' शब्दोंका अर्थ समान होनेसे इन दोनोंमें भी सामानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्य भाव नहीं हो सकेगा। तथा दोनोंमें-से एक ही शब्दका प्रयोग करना होगा; क्योंकि दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ होता है। तथा सत्त्वधर्म सब द्रव्यों और सब पर्यायोंमें रहता है, जीवशब्दका अर्थ भी सत्त्वसे अभिन्न स्वभाव है। अतः सत्त्वका और जीवका तादात्म्य होनेसे जो-जो सत् है वह सब जीव रूप सिद्ध होता है। इस तरहसे एकजीवरूपताका प्रसंग आता है तथा जब जीव सत्स्वभाव हुआ तो उसमें चैतन्य, ज्ञान, क्रोध आदि तथा नारक आदि समस्त विशेषणोंके अभावका

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० २५६।

प्रसंग आता है अथवा अस्तित्वके जीवस्वभावरूप होनेसे वह पुद्गलादिमें नहीं रह सकेगा; क्योंकि पुद्गलादिमें जीवत्व नहीं रहता अतः उनमें 'सत्' यह प्रत्यय ही नहीं हो सकेगा।

उक्त दोष न आयें, इसलिए यदि अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे जीवशब्दका वाच्य अर्थ भिन्न स्वभाववाला मानते हैं तो जीवकी असद्रूपताका प्रसंग आता है; क्योंकि वह अस्तिशब्दके वाच्य अर्थसे भिन्न है जैसे गधेके सींग। ऐसी स्थितिमें जीवाधीन बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहारका अभाव हो जायेगा। तथा अस्तित्व जैसे जीवसे भिन्न है वैसे ही अन्य पुद्गलादिसे भी भिन्न ठहरेगा। और ऐसी स्थितिमें किसी आश्रयके न होनेसे अस्तित्वका ही अभाव हो जायेगा। तथा यह बतलायें कि अस्तित्वसे भिन्न स्वभाववाले जीवका क्या स्वभाव है? जो कुछ भी आप उसका स्वभाव बतलायेंगे वह सब असद्रूप ही होगा क्योंकि जीव असद्रूप है।

समाधान—इसीलिए अस्तिशब्दके वाच्य अर्थसे जीवशब्द वाच्य अर्थको कथंचित् भिन्न स्वभाववाला और कथंचित् अभिन्न स्वभाववाला मानना चाहिए। पर्यायार्थिक नयसे भवनक्रिया और जीवनक्रिया भिन्न है अतः अस्ति शब्द और जीवशब्दका अर्थ भिन्न है। और द्रव्यार्थिकनयसे दोनों अभिन्न हैं जीवके ग्रहणसे अस्तिका भी ग्रहण हो जाता है। अतः वस्तु कथंचित् अस्तिरूप और कथंचित् नास्तिरूप है।

तृतीय भंग-स्याद्वक्तव्य—जब[1] दो गुणोंके द्वारा एक अखण्ड अर्थको अभिन्न रूपसे अभेद रूपसे एक साथ कथन करनेकी इच्छा होती है तो तीसरा अवक्तव्य भंग होता है। आशय यह है कि जैसे प्रथम और द्वितीय भंगमें एक कालमें एक शब्दसे एक गुणके द्वारा क्रमसे एक समस्त वस्तुका कथन हो जाता है, उस तरह जब दो प्रतियोगी गुणोंके द्वारा अवधारण रूपसे एक साथ एक कालमें एक शब्दसे समस्त वस्तुके कहनेकी इच्छा होती है तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है; क्योंकि वैसा न तो कोई शब्द ही है और न अर्थ ही है।

[2]सभी पद एक ही पदार्थको कहते हैं। 'सत्' शब्द असत्को नहीं कहता और 'असत्' शब्द सत्को नहीं कहता। 'गौ'शब्दके दिशा आदि अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं किन्तु वास्तवमें गौशब्द भी अनेक हैं, सादृश्यके उपचारसे ही उन्हें एक कहा जाता है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो समस्त वस्तु एक शब्दवाच्य हो जायेंगी,

१. तत्त्वार्थ वार्तिक, पृ० २५७।
२. अष्टसहस्री, पृ० १३६।

और तब प्रत्येकके लिए अलग-अलग शब्दका प्रयोग करना निष्फल ठहरेगा। जैसे शब्दके भेदसे अर्थका भेद अवश्यंभावी है वैसे ही अर्थके भेदसे भी शब्दका भेद अवश्यंभावी है, नहीं तो वाच्यवाचक नियमके व्यवहारका लोप हो जायेगा। इससे एक वाक्यका युगपत् अनेक अर्थोंको कहना भी निरस्त हो जाता है अर्थात् एक वाक्य एक ही अर्थको कहता है। 'स्वपररूपकी अपेक्षासे वस्तु कथंचित्-सदसदात्मक ही है' यह वाक्य भी, जो क्रमसे विवक्षित दोनों धर्मोंको विषय करनेवाला माना गया है, उपचारसे ही एक माना जाता है। अतः शब्दमें एक ही अर्थको कहनेकी स्वाभाविक शक्ति है। सत् शब्दकी सत्त्व मात्रको कहनेमें सामर्थ्य विशेष है, असत्त्व आदि अनेक धर्मोंके कहनेमें नहीं। अनेकान्तके वाचक 'स्यात्' शब्दकी अनेकान्त मात्रको कहनेमें सामर्थ्य विशेष है, एकान्तको कहनेमें नहीं। अनेकान्तके द्योतक 'स्यात्' शब्दकी अविवक्षित समस्त धर्मोंका सूचन करनेमें ही सामर्थ्य विशेष है विवक्षित अर्थका कथन करनेमें नहीं। अन्यथा विवक्षित धर्मके वाचक शब्दोंका प्रयोग करना व्यर्थ ठहरेगा। प्रसिद्ध पुरातन व्यवहारमें ऐसा कोई शब्द नहीं है जो अपनी नियत अर्थको कहनेकी सामर्थ्यविशेषका उल्लंघन करके प्रवृत्त होता हो। अतः एक शब्द भाव और अभाव दोनोंको एक साथ नहीं कह सकता।

शंका—संकेतके अनुसार शब्दकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जैसे जैनेन्द्र व्याकरणमें शतृ और शान प्रत्ययोंकी 'सत्' संज्ञा संकेतके अनुसार शतृ और शान दोनों प्रत्ययोंको कहती है; वैसे ही सत्त्व और असत्त्व धर्मों में संकेतित एक शब्द दोनों धर्मोंका वाचक हो सकता है?

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं हैं। प्रत्येक पदार्थमें शक्ति और अशक्ति प्रतिनियत होती है। शब्दमें एक बार एक ही अर्थको कहनेकी शक्ति है, अनेकको कहनेकी नहीं। संकेत भी उस शक्तिके अनुसार ही अर्थमें प्रवृत्त होता है। सेना, वन आदि शब्द भी अनेक अर्थोंको नहीं कहते। सेनाशब्दसे हाथी, घोड़े, रथ, पैदल वगैरहके एक सम्बन्ध-विशेषको ही कहता है। इसी तरह वन, समूह, पंक्ति, माला, पानक, ग्राम आदि शब्द भी अनेक अर्थोंको न कहकर एक सम्बन्ध-विशेषरूप अर्थको ही कहते हैं।

शंका—तो संस्कृतमें 'वृक्षौ' शब्द दो वृक्षोंको और 'वृक्षाः' शब्द अनेक वृक्षोंको कैसे कहता है?

समाधान—पाणिनि व्याकरणके अनुसार वृक्षौ शब्द निष्पन्न करनेके लिए 'वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ' इस प्रकार दो वृक्ष शब्द लाकर उसमें-से एकका लोप कर

दिया जाता है। अतः दो वृक्ष शब्द ही दो वृक्षोंको और अनेक वृक्षशब्द अनेक वृक्षोंको कहते हैं। और जैनेन्द्र व्याकरणके अनुसार द्विवचनान्त और बहुवचनान्त वृक्षशब्द स्वभावसे ही द्वित्वविशिष्ट या बहुत्वविशिष्ट अपने वाच्यार्थको कहता है; क्योंकि उसमें उस प्रकारकी शक्ति विद्यमान है।

शंका--स्वामी समन्तभद्रने बृहत् स्वयंभू स्तोत्रमें लिखा है-'**अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत् प्रकृत्या।**' अतः पदका वाच्य एक भी होता है और अनेक भी होता है ऐसा स्याद्वादी जैनोंने स्वीकार किया है ?

समाधान--प्रश्न यह है कि पदका वाच्य एक और अनेक प्रधान रूपसे होता है या गौणता और प्रधानतासे होता है ? पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि उस प्रकारकी प्रतीति नहीं होती। वृक्षशब्द वृक्षत्व जातिके द्वारा पहले वृक्ष द्रव्यको कहता है, तत्पश्चात् लिंग और संख्याको कहता है, इस प्रकार क्रमसे ही प्रतीति होती है। कहा भी है।

[1]स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्।
समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तीश्च॥

अतः प्रधान रूपसे वृक्षार्थकी प्रतीति होती है और गौण रूपसे बहुत्वसंख्याकी प्रतीति होती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। क्योंकि हमें दूसरा प्रधान-गौण रूप पक्ष ही इष्ट है। 'स्यात्' यह निपात अनेक धर्मोंका आकांक्षी है-सूचक या द्योतक है। अतः वह गौणभूत धर्मोंसे निरपेक्ष एक ही धर्मको प्रधानरूपसे कथन करनेका विरोधी है। समस्त वाचकतत्त्व गुण प्रधान रूपसे ही अर्थका कथन करते हैं; और वाच्यतत्त्व भी तद्रूप ही है। कहा है—

आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः।
गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम्॥

—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र-श्रीसुविधिजिनस्तवन॥

अनेक धर्मात्मक वस्तुको माननेवाले जैनोंका 'स्यात्' यह निपात गौणकी अपेक्षा न रखनेवाले एकान्त मतमें अपवाद है अर्थात् एकान्तमतका निराकरण करनेवाला है। 'स्यात्' पदरूप यह वाक्य गौण और प्रधान दोनों ही धर्मोंका वाचक है। और वह जिनमतसे द्वेष रखनेवाले एकान्तवादियोंके लिए अपथ्य-अहितकर है।

शंका—आप जैन लोग प्रमाण और नयरूप दो प्रकारके वाक्य मानते हैं।

१. अष्टसहस्री, पृ० १३८।

चूंकि प्रमाण सकलादेशी होता है अतः प्रमाणवाक्य प्रधानरूपसे अशेष धर्मात्मक वस्तुका प्रकाशक होता है। यदि सभी वाक्य गौण और प्रधानरूपसे अर्थके वाचक होते हैं तो ऐसी स्थितिमें प्रमाणवाक्य नहीं बन सकता।

समाधान—द्रव्यार्थिकनयसे अनन्तपर्यायात्मक एक ही द्रव्यके कथनका नाम प्रमाणवाक्य है। और पर्यायार्थिकनयसे समस्त पर्यायोंमें काल आदिके द्वारा अभेदका उपचार करके उपचरित एक ही वस्तु नयवाक्यका विषय है। पदकी तरह कोई वाक्य अनेक अर्थोंको एक साथ प्रधानरूपसे नहीं कह सकता। हजार संकेत करनेपर भी वाचक और वाच्य अपनी शक्ति और अशक्तिका उल्लंघन नहीं कर सकते। अतः वस्तु स्यात् अवक्तव्य है। क्योंकि दोनों धर्मोंको कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। 'स्यात् अवक्तव्य'का अर्थ होता है सर्वथा अवक्तव्य नहीं, किन्तु अपेक्षाभेदसे अवक्तव्य है। अवक्तव्यशब्दसे तथा अन्य छह भंगोंके द्वारा तो वस्तु वक्तव्य है। यदि सर्वथा अवक्तव्य हो तो अवक्तव्यशब्दसे भी उसे नहीं कहा जा सकता।

चतुर्थ भंग—स्यादस्ति नास्ति—अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंका क्रमसे एक साथ कथन करनेपर चतुर्थ भंग बनता है। यदि वस्तुको सर्वथा उभयात्मक माना जायेगा तो सर्वथा सत् और सर्वथा असत्में परस्परमें विरोध होनेसे उभयदोषका प्रसंग आता है अतः कथंचित् उभयरूप समझना चाहिए।

पाँचवाँ भंग—व्यस्त द्रव्य और एक साथ अर्पित द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षासे 'स्यादस्ति अवक्तव्य' इस वाक्यकी प्रवृत्ति होती है। जैसे आत्मा द्रव्यत्व, जीवत्व या मनुष्यत्व रूपसे 'अस्ति' है, तथा द्रव्यपर्याय सामान्य और तदभावकी एक साथ विवक्षामें अवक्तव्य है। इस तरह स्यादस्ति अवक्तव्य भंग बनता है।

छठा भंग-स्यान्नास्ति अवक्तव्य—व्यस्त पर्याय और समस्त द्रव्यपर्यायकी अपेक्षा 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' भंग बनता है। आशय यह है कि वस्तुगत नास्तित्व जब अवक्तव्यके साथ अनुबद्ध होकर विवक्षित होता है तब यह भंग बनता है। नास्तित्व पर्यायकी दृष्टिसे है। पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं—सहभाविनी और क्रमभाविनी। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि सहभाविनी तथा क्रोध, मान, बचपन, यौवन आदि क्रमभाविनी पर्यायें हैं। पर्यायदृष्टिसे गत्यादि और क्रोधादि पर्यायोंसे भिन्न कोई एक अवस्थायी जीव नहीं है, किन्तु वे ही क्रमिक पर्यायें जीव कही जाती हैं। जो वस्तुत्व रूपसे सत् है वही द्रव्यांश है तथा जो अवस्तुत्व रूपसे असत् है वही पर्यायांश है। इन दोनोंकी युगपद् अभेद विवक्षामें वस्तु अवक्तव्य है। इस तरह वस्तु स्यात् नास्ति अवक्तव्य है।

सातवाँ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य—अलग-अलग क्रमसे अर्पित तथा युगपत् अर्पित द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा वस्तु स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य है। किसी द्रव्य-विशेषकी अपेक्षा अस्तित्व और किसी पर्यायविशेषकी अपेक्षा नास्तित्व होता है। तथा किसी द्रव्यपर्यायविशेष और द्रव्यपर्यायसामान्यकी एक साथ विवक्षामें वही अवक्तव्य हो जाता है। इस तरह स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य भंग बन जाता है।

सात भंगोंमें क्रमभेद

सबसे प्रथम आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें सात भंगोंका नामोल्लेख मात्र मिलता है। उनमें-से प्रवचनसार गा० (२-२३) में स्यात् अवक्तव्यको तो तीसरा भंग रखा है और स्यादस्ति नास्तिको चतुर्थ भंग रखा है। किन्तु पंचास्तिकाय गाथा चौदहमें अस्ति नास्तिको तीसरा और अवक्तव्यको चतुर्थ भंग रखा है। इसी तरह अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें दो स्थलोंपर सप्तभंगीका कथन किया है। उनमें-से एक स्थल (पृ० ३५३) पर उन्होंने प्रवचनसारका क्रम अपनाया है और दूसरे स्थल (पृ० ३३) पर पंचास्तिकायका क्रम अपनाया है। दोनों जैन सम्प्रदायोंमें दोनों ही क्रम प्रचलित रहे हैं। सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम (अ० ५।३१ सू०) और विशेषावश्यकभाष्य (गा० २२३२) में प्रथम क्रम अपनाया गया है। किन्तु आप्तमीमांसा (कारिका १४), तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १२८), प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६८२), प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (परि० ४,सू०१७-१८), स्याद्वादमंजरी (पृ० १८९), सप्तभंगीतरंगिणी (पृ० २) और नयोपदेश (पृ० १२) में दूसरा क्रम अपनाया गया है। इस तरह दार्शनिक क्षेत्रमें दूसरा ही क्रम प्रचलित रहा है अर्थात् अस्ति नास्तिको तीसरा और अवक्तव्यको चतुर्थ भंग ही माना गया है।

इस क्रमभेदके विषयमें बारहवीं शताब्दीके एक श्वेताम्बर ग्रन्थकारने सम्भवतया सर्वप्रथम ध्यान दिया है। उन्होंने लिखा[1] है कि कोई-कोई विद्वान् इस अवक्तव्य भंगको तीसरे भंगके स्थानमें पढ़ते हैं और तीसरेको इसके स्थानमें। उस पाठमें भी कोई दोष नहीं हैं; क्योंकि उससे अर्थमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यथार्थमें विधिप्रतिषेधको क्रमसे और एक साथ कथन करनेकी अपेक्षासे तीसरे और चतुर्थ भंगकी प्रवृत्ति होती है। पहले दोनोंको क्रमसे कहकर बादको दोनोंका

१. 'अयं च भंगः कैश्चित्तृतीयभंगस्थाने पठ्यते, तृतीयश्चै तस्य स्थाने। न चैवमपि कश्चिद्दोषः अर्थविशेषाभावात्।'—स्याद्वादरत्नाकरावतारिका—परि०४, सू० १८।

एक साथ कहा जाये अथवा पहले दोनोंको एक साथ कहकर बादको क्रमसे कहा जाये तो उससे कोई अर्थमें अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु दूसरी दृष्टिसे विचार करनेपर स्यादस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य ही मूल भंग प्रमाणित होते हैं, उक्त सात भंगोंमें तीन भंग तो मूल या एकसंयोगी हैं, और तीन भंग द्विसंयोगी हैं और एक भंग त्रिसंयोगी है। गणितसूत्रके अनुसार तीन मूल भंगोंके ही सब संयोगी भंग सात होते हैं। न इससे कमके होते हैं और न अधिकके। वे तीन मूल भंग हैं—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य। द्विसंयोगी भंग हैं—स्यादस्ति नास्ति, स्यादस्ति अवक्तव्य और स्यान्नास्ति अवक्तव्य। तथा त्रिसंयोगी भंग हैं—स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। अतः अवक्तव्य ही तीसरा मूल भंग होना चाहिए। 'स्यादस्ति नास्ति तो द्विसंयोगी भंग है—प्रथम और द्वितीय भंगके मेलसे बना है। यही बात स्वामी समन्तभद्रने अपने युक्त्यनुशासनमें[1] कही है और वहाँ उन्होंने भी अवक्तव्यको तीन मूल भंगोंमें रखा है।

प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी

प्रमाणके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाला मतिज्ञान स्वार्थप्रमाण है। और जब ज्ञाता शब्दोंके द्वारा दूसरोंपर अपने ज्ञानको प्रकट करनेके लिए तत्पर होता है तब उसका वह शब्दोन्मुख ज्ञान स्वार्थश्रुत कहा जाता है और ज्ञाताके वचन परार्थश्रुत कहे जाते हैं। श्रुतप्रमाणके ही भेद नय हैं। अतः जैसे श्रुतप्रमाण ज्ञानात्मक और वचनात्मक होता है वैसे ही उसके भेद नय भी ज्ञानात्मक और वचनात्मक होते हैं। प्रमाण सकलवस्तुग्राही होता है और नय वस्तुके एकदेशका ग्राही होता है।

जैसे एक ज्ञान एक समयमें अनेक धर्मात्मक वस्तुको जान सकता है, उसी तरह एक शब्द एक समयमें वस्तुके अनेक धर्मोंका बोध नहीं करा सकता। इसलिए वक्ता किसी एक धर्मका अवलम्बन लेकर ही वचनव्यवहार करता है। यदि वक्ता एक धर्मके द्वारा पूर्ण वस्तुका बोध कराना चाहता है तो उसका वाक्य प्रमाणवाक्य कहा जाता है और यदि वह एक ही धर्मका बोध कराना चाहता

---

१. 'विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिद्विश एक एव। त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्दनेयाः सकलार्थभेदे ॥४५॥—'विधि, निषेध और अनभिलाप्यता—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य—ये एक-एक करके तीन मूल विकल्प हैं। इनके द्विसंयोगज विकल्प तीन हैं—स्यादस्ति नास्ति, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य। और त्रिसंयोगी विकल्प एक है— स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इस तरह हे वीर! ये सात विकल्प, सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायोंमें आपके यहाँ घटित होते हैं।

है—वस्तुमें वर्तमान शेष धर्मोंके प्रति उसकी दृष्टि उदासीन है तो उसका वाक्य नयवाक्य कहा जाता है।

यथार्थमें तो नयके लक्षणके अनुसार जितना भी वचनव्यवहार है वह सब नय है। इसीसे सिद्धसेन दिवाकरने नयोंके भेदोंकी संख्या बतलाते हुए कहा है कि [1]जितने वचनके मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ये दोनों ही एक तरहसे स्याद्वादके पिता और पोषक तथा रक्षक हैं। इन दोनोंने ही अपने [2]आप्तमीमांसा तथा सन्मति तर्कमें नय सप्तभंगीका ही कथन किया है। उनके उत्तराधिकारी और जैनन्यायके प्रस्थापक अकलंकदेवने ही सर्वप्रथम प्रमाणसप्तभंगीका स्पष्ट कथन किया है। अपने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० २५२) में वस्तुको अनेक धर्मात्मक सिद्ध करनेके पश्चात् अकलंकदेव कहते हैं कि-उस अनेक धर्मात्मक वस्तुका बोध करानेके लिए प्रवर्तमान शब्दकी प्रवृत्ति दो रूपसे होती है क्रमसे अथवा यौगपद्यसे। तीसरा वचनमार्ग नहीं है। जब वस्तुमें वर्तमान अस्तित्वादि धर्मोंकी काल आदिके द्वारा भेदविवक्षा होती है तब एक शब्दमें अनेक अर्थोंका ज्ञान करानेकी शक्तिका अभाव होनेसे क्रमसे कथन होता है। और जब उन्हीं धर्मोंमें काल आदिके द्वारा अभेदविवक्षा होती है तब एक शब्दसे भी एक धर्मका बोध करानेकी मुख्यतासे तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्डरूपसे युगपत् कथन हो जाता है। जब युगपत् कथन होता है तब उसे सकलादेश होनेसे प्रमाण कहते हैं; क्योंकि सकलादेश प्रमाणाधीन है ऐसा वचन है। और जब क्रमसे कथन होता है तो विकलादेश होनेसे उसे नय कहते हैं। क्योंकि विकलादेश नयाधीन है ऐसा वचन है। सकलादेश और विकलादेश दोनोंमें सप्तभंगी होती है। प्रथमको प्रमाणसप्तभंगी कहते हैं और दूसरेको नयसप्तभंगी कहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके प्रयोगमें वक्ताकी विवक्षाके अतिरिक्त भी क्या कोई मौलिक भेद होता है। इस प्रश्नके समाधानके लिए दोनों प्रकारकी सप्तभंगीके उदाहरणके रूपमें दिये गये वाक्योंपर दृष्टि डालना आवश्यक है—

अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० २५३ तथा २६०) में और विद्यानन्द तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक (पृ० १३८) में दोनों सप्तभंगियोंका पृथक्-पृथक् कथन करते हुए दोनों प्रकारके वाक्योंमें 'स्यादस्त्येव जीवः' यह एक ही उदाहरण देते

१. 'जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।'–सन्मति ३।४७।

२. 'एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्। प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ॥२३॥'–आप्तमीमांसा।

हैं। किन्तु[1] लघीयस्त्रयके स्वोपज्ञ भाष्यमें अकलंकदेवने दोनोंके जुदे-जुदे उदाहरण दिये हैं। 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाणवाक्यका उदाहरण है। 'स्यात् अस्त्येव जीवः' यह नयवाक्यका उदाहरण है। आचार्य[2] प्रभाचन्द्रने दोनों प्रकारके वाक्यों-का एक-सा ही उदाहरण दिया है—स्यादस्ति जीवादिवस्तु—जीवादिवस्तु कथंचित् सत्स्वरूप है। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसार और पंचास्तिकायमें एक-एक गाथाके द्वारा सात भंगोंकेनाममात्र गिनाये हैं। किन्तु पंचास्तिकायमें 'आदेसवसेण' लिखा है जब कि प्रवचनसारमें 'पज्जाएण दु केण वि' लिखा है। प्रवचनसारके पाठसे दोनों टीकाकारोंने एवकार (ही) का ग्रहण किया है। टीकाकार अमृतचन्द्र पंचा-स्तिकायकी गाथा चौदहकी टीकामें स्यादस्ति द्रव्यम् (स्यात् द्रव्य है) उदाहरण देते हैं। और प्रवचनसारकी टीकामें 'स्यादस्त्येव' (कथंचित् है ही) उदाहरण देते हैं। कुन्दकुन्दके दूसरे टीकाकार जयसेन पंचास्तिकाय गाथा चौदहकी टीकामें लिखते[3] हैं—'स्यादस्ति' यह वाक्य सकल वस्तुका ग्राहक होनेसे प्रमाणवाक्य है और 'स्यादस्त्येव द्रव्यं' यह वाक्य वस्तुके एकदेशका ग्राहक होनेसे नयवाक्य है। प्रवचनसार (२।२३) की टीकामें जयसेनने लिखा[4] है, 'पंचास्तिकाय'में 'स्यादस्ति' आदि वाक्यसे प्रमाण सप्तभंगीका व्याख्यान किया है और यहाँ 'स्यादस्त्येव' वाक्यमें जो एवकार (ही) का ग्रहण किया है वह नयसप्तभंगीका ज्ञापन करनेके लिए है। सप्तभंगीतरंगिणीमें भी दोनों प्रकारके वाक्योंका एक ही उदाहरण दिया है—'स्यादस्त्येव घटः' घट कथंचित् सत्स्वरूप ही है।

श्वेताम्बराचार्योंमें अभयदेव सूरिने लिखा[5] है—'स्यादस्ति'—कथंचित् है, यह प्रमाणवाक्य है। अस्त्येव—सत्स्वरूप ही है, यह दुर्नय है। 'अस्ति'—है—

---

१. 'स्याज्जीव एव नैकान्तविषयः स्याच्छब्दः। स्यादस्त्येव जीवः इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः।'—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६८८।

२. 'विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभंगी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्। सकलादेशस्वभावात्तु प्रमाणसप्तभंगी यथावद् वस्तुरूपप्ररूपकत्वात्। तथा हि—स्यादस्ति जीवादिवस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया'—प्रमेयकमल०, पृ० ६८२।

३. 'स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यम्। स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेक-देशग्राहकत्वात् नयवाक्यम्।'

४. 'पूर्वं पञ्चास्तिकाये स्यादस्ती'त्यादिप्रमाणवाक्येन सप्तभंगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभंगीज्ञापनार्थमिति भावार्थः।

५. 'स्यादस्ति' इत्यादि प्रमाणवाक्यम्, 'अस्त्येव' इत्यादि दुर्नयः, 'अस्ति' इत्यादिकः सुनयो न तु संव्यवहाराङ्गम्। 'स्यादस्त्येव' इत्यादिस्तु नय एव व्यवहारकारणम्।' —सन्मतितर्क टीका, पृ० ४४६।

यह यद्यपि सुनय है, किन्तु व्यवहारमें प्रयोजक नहीं है। 'स्यादस्त्येव'—कथंचित् सत्स्वरूप ही है, यह सुनय वाक्य ही व्यवहारका कारण है। वादिदेव सूरिने[1] 'स्यादस्त्येव सर्वं'—सब वस्तु कथंचित् सत्स्वरूप ही है, एक ही उदाहरण दिया है। मल्लिषेणने[2] भी वादिदेवका ही अनुसरण किया है।

उक्त मतोंके अनुसार आचार्योंको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—एक, जो दोनों प्रकारके वाक्योंके प्रयोगमें कोई अन्तर नहीं मानते। दूसरे, जो अन्तर मानते हैं। अन्तर माननेवालोंमें अकलंकदेव, जयसेन तथा अभयदेव सूरिके नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु उनमें भी मतैक्य नहीं है। अकलंकदेव प्रमाणवाक्य और नयवाक्य दोनोंमें स्यात्पद और एवकारका प्रयोग आवश्यक मानते हैं। किन्तु जयसेन और अभयदेव केवल नयवाक्यमें ही एवकारका प्रयोग आवश्यक मानते हैं। अकलंकदेवके मतसे यदि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्मद्रव्य, घट, पट आदि वस्तुवाचक शब्दोंके साथ स्यात्कार और एवकारका प्रयोग किया जाता है तो वह प्रमाणवाक्य है। और यदि अस्ति, नास्ति, एक-अनेक आदि धर्मवाचक शब्दोंके साथ उसका प्रयोग किया जाता है तो वह नयवाक्य है। इसके विपरीत जयसेन और अभयदेवके मतसे किसी भी शब्दके साथ, वह शब्द धर्मवाचक हो या धर्मीवाचक हो, यदि एवकारका प्रयोग किया जाता है तो वह नयवाक्य है और यदि एवकारका प्रयोग नहीं किया गया, केवल स्यात् शब्दका प्रयोग किया गया है तो वह प्रमाणवाक्य है।

उक्त दो मतोंके सम्बन्धमें दो प्रश्न पैदा होते हैं—क्या धर्मीवाचक शब्द सकलादेशी और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी होते हैं? और क्या प्रत्येक वाक्यके साथ एवकारका प्रयोग आवश्यक होता है?

प्रथम प्रश्नपर विचार—प्रथम प्रश्नपर प्रकाश डालते हुए विद्यानन्द स्वामीने लिखा है—[3] 'सकलादेशको प्रमाणवाक्य और विकलादेशको नयवाक्य कहा है। सकलादेश और विकलादेश किसे कहते हैं? किन्हींका कहना है कि अनेकात्मक वस्तुका कथन सकलादेश है और एकधर्मात्मक वस्तुका कथन विकलादेश है। उनके यहाँ सात प्रकारके प्रमाणवाक्य और सात प्रकारके नयवाक्य नहीं बन सकते; क्योंकि ऐसी स्थितिमें एक-एक धर्मका कथन करनेवाले अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप तीन भंग सर्वदा विकलादेशी होनेसे नय-

१. प्रमाणनयतत्त्वालोक परि० ४-१५ तथा परि० ७-५३।

२. स्याद्वादमंजरी, पृ० १८९।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १३७।

वाक्य कहे जायेंगे और अनेक धर्मोंके प्रतिपादक शेष चार भंग सर्वदा सकलादेशी होनेसे प्रमाणवाक्य कहलायेंगे। किन्तु तीन नयवाक्य और चार प्रमाणवाक्यकी स्थिति सिद्धान्तविरुद्ध है।'

'किन्हींका कहना है कि धर्मीमात्रका कथन सकलादेश है और धर्ममात्रका कथन विकलादेश है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि सत्त्व आदि किसी भी धर्मके बिना धर्मीका कथन असम्भव है। इसी तरह किसी धर्मीसे सर्वथा निरपेक्षवाले धर्ममात्रका कथन भी नहीं किया जा सकता।

शंका—'स्यात् जीव एव' इस प्रकारसे धर्मीमात्रका कथन किया जा सकता है। इसी तरह 'स्यादस्त्येव' रूपसे धर्ममात्रका कथन किया जा सकता है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, जीवशब्दसे जीवत्व धर्मात्मक जीववस्तुका कथन किया जाता है और अस्तिशब्दसे किसी विशेष्यमें विशेषण रूपसे प्रतीयमान अस्तित्वका कथन किया जाता है।

इस तरह विद्यानन्दके मतानुसार प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी एक धर्मको लेकर व्यवहृत होता है। [1]तत्त्वार्थवार्तिकमें 'सकलादेश'का लक्षण करते हुए अकलंकदेवने भी प्रकारान्तरसे उक्त बात ही कही है। वे लिखते हैं—'जब एक अखण्ड वस्तु एक गुणके द्वारा कही जाती है तो वह सकलादेश है; क्योंकि गुणके बिना गुणीका विशेष रूपसे ज्ञान करना सम्भव नहीं है।' फिर भी अकलंकदेवने अपने लघीयस्त्रयके स्वोपज्ञ भाष्यमें जो धर्मीवाचक शब्दोंको सकलादेशी और धर्मवाचक शब्दोंको विकलादेशी कहा है वह एक दृष्टिसे उचित ही है। यह ठीक है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी-न-किसी धर्मको लेकर व्यवहृत होता है। किन्तु कुछ शब्द वस्तुके अर्थमें इतने रूढ़ हो जाते हैं कि उनसे किसी एक धर्मविशिष्ट वस्तुका बोध न होकर अनेक धर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तुका ही बोध होता है। जैसे, यद्यपि जीवशब्द जीवनगुणकी अपेक्षासे व्यवहृत होता है किन्तु जीवशब्दको सुननेसे केवल जीवनगुणका बोध न होकर जीवद्रव्यका ही बोध होता है। इसी तरह पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश आदि वस्तुवाचक शब्दोंके विषयमें भी जानना चाहिए। संसारमें बोलचालके व्यवहारमें आनेवाले पुस्तक, घट, वस्त्र आदि शब्द भी वस्तुका ही बोध कराते हैं। किन्तु इस विषयमें भी एकान्तवादी दृष्टिकोण उचित नहीं है; क्योंकि शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताकी विवक्षाके अधीन है। वक्ता धर्मिवाचक शब्दके द्वारा एक धर्मका भी प्रतिपादन कर सकता है और एक धर्मके द्वारा पूर्ण वस्तुका भी प्रतिपादन कर सकता है। जैसे जीवशब्द जीवनगुण-

---

१. पृ० २५२, वार्तिक १४।

की मुख्यतासे प्रयुक्त किये जानेपर जीवनगुणका ही प्रतिपादन करता है और अस्तिशब्द वक्ताकी विवक्षाके अनुसार अस्तित्व गुणविशिष्ट पूर्ण वस्तुका प्रतिपादन कर सकता है। अतः धर्मीवाचक शब्द सकलादेशी ही होते हैं और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी ही होते हैं ऐसी मान्यता उचित नहीं है। दोनों प्रकारके शब्दोंके द्वारा दोनोंका ही प्रतिपादन सम्भव है। अतः विवक्षाके भेदसे एक ही वाक्य सकलादेशी भी हो सकता है और विकलादेशी भी हो सकता है।

द्वितीय प्रश्नपर विचार—स्वामी समन्तभद्रने कहा[1] है कि जो पद एवकारसे विशिष्ट होता है वह अ-स्वार्थसे स्वार्थको अलग करता है और जो पद एवकार (ही) से रहित होता है वह न कहे हुएके समान है।

उदाहरणके तौरपर 'अस्ति जीवः' इस वाक्यमें 'अस्ति' और 'जीवः' ये दोनों पद एवकारसे रहित हैं। 'अस्ति'पदके साथ एवकारके न होनेसे नास्तित्वका व्यवच्छेद नहीं होता और नास्तित्वका व्यवच्छेद न होनेसे 'अस्ति'पदके द्वारा नास्तित्वका भी कथन होता है और इसलिए 'अस्ति'पदका प्रयोग न कहे हुए के समान हो जाता है। इसी तरह 'जीव'पदके साथ 'एव'शब्दका प्रयोग न होनेसे अजीवत्वका व्यवच्छेद नहीं होता और अजीवत्वका व्यवच्छेद न होनेसे 'जीव' पदके द्वारा अजीवका भी कथन होता है और इसलिए 'जीव' पदका प्रयोग न कहे हुए के समान हो जाता है। तथा इस तरह 'अस्ति'पदके द्वारा नास्तित्वका भी और नास्तिपदके द्वारा अस्तित्वका भी कथन होनेसे तथा जीवपदके द्वारा अजीव-अर्थका भी और अजीवपदके द्वारा जीव अर्थका भी कथन होनेसे अस्ति-नास्ति-पदोंमें तथा जीव-अजीव पदोंमें घट और कलश-शब्दोंकी तरह एकार्थकता सिद्ध होती है। और एकार्थक होनेसे घट और कलश-शब्दोंकी तरह अस्ति और नास्तिमे-से तथा जीव और अजीव शब्दमे-से चाहे जिस-किसी एक शब्दका-प्रयोग किया जा सकता है। और चाहे जिसका प्रयोग होनेपर सम्पूर्ण वस्तु-मात्र अपने प्रतियोगीसे रहित हो जाती हैं अर्थात् अस्तित्व नास्तित्वसे सर्वथा रहित हो जाता है और ऐसा होनेसे सत्ताद्वैतका प्रसंग आता है। तथा नास्तित्वका सर्वथा अभाव होनेसे सत्ताद्वैत आत्महीन हो जाता है; क्योंकि पररूपके त्यागके अभावमें स्वरूपका ग्रहण नहीं बनता। जैसे अघट रूपका त्याग किये बिना घटका

---

१. 'यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति। पर्यायसामान्यविशेषसर्वं पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥ ४१ ॥ अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्य भावान्नियमद्वयेऽपि। पर्यायभावेऽन्यतरप्रयोगस्तत्सर्वमन्यं च्युतमात्महीनम् ॥ ४२ ॥'—युक्त्यनुशासन।

स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं होता। इसी तरह अभाव भी भावके बिना नहीं बनता। क्योंकि वस्तुका वस्तुत्व स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागपर ही निर्भर है। वस्तु ही परद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अवस्तु हो जाती है। समस्त स्वरूपसे शून्य कोई पृथक् अवस्तु सम्भव ही नहीं है।

इस तरह समन्तभद्र स्वामी एवकारके प्रयोगको प्रत्येक पद या वाक्यके साथ आवश्यक मानते हैं। विद्यानन्द स्वामीने भी यही बात अपने [1] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें लिखी है। किन्तु युक्त्यनुशासनकी टीकामें उन्होंने लिखा है [2] कि 'स्यात्कारके प्रयोगके बिना अनेकान्तात्मपनेकी सिद्धि नहीं होती, जैसे एवकारके प्रयोगके बिना सम्यक् एकान्तके अवधारणकी सिद्धि नहीं होती।' इससे तो यही सूचित होता है कि नयवाक्योंमें ही एकान्तके अवधारणकी सिद्धिके लिए एवकारका प्रयोग आवश्यक होता है। उसके बिना सम्यक् एकान्तका अवधारण नहीं हो सकता।

यह हम पहले लिख आये हैं कि सकलादेशी प्रमाणवाक्यमें एक गुणके द्वारा अखण्ड सकलवस्तुका कथन किया जाता है, और नयवाक्यमें जिस धर्मका नाम लिया जाता है वही धर्म मुख्य होता है।

एवकारवादियोंके मतसे 'स्यादस्त्येव जीवः' यह प्रमाणवाक्य है। इस वाक्यमें 'अस्ति' गुणके द्वारा अन्य सब धर्मोंमें अभेद मानकर अखण्ड जीवद्रव्यका कथन किया गया है। और जब अस्ति धर्मके द्वारा केवल अस्ति धर्मका ही कथन अभीष्ट होता है तो यही वाक्य नयवाक्य हो जाता है।

जो आचार्य 'स्यादस्ति जीवः'को प्रमाणवाक्य और 'स्यादस्त्येव जीवः' को नयवाक्य मानते हैं वे एवकारको अवधारणात्मक होनेके कारण सम्यक् एकान्तका साधक मानते हैं। शायद इसीसे प्रमाणवाक्यके साथ वे उसका प्रयोग आवश्यक नहीं मानते।

सप्तभंगीका उपयोग

सप्तभंगीवादका विकास दार्शनिक क्षेत्रमें हुआ अतः उसका उपयोग भी उसी क्षेत्रमें होना स्वाभाविक है। स्याद्वाद चूँकि विभिन्न दृष्टिकोणोंको उचित रीतिसे समन्वयात्मक शैलीमें व्यवस्थित करके पूर्ण वस्तु स्वरूपका प्रकाशन करता है

---

१. 'वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित्॥ ५३॥'–पृ० १३३।

२. 'न हि स्यात्कारप्रयोगमन्तरेणानेकान्तात्मकत्वसिद्धिः, एवकारप्रयोगमन्तरेण सम्यगेकान्तावधारणसिद्धिवत्'–पृ० १०५।

अत: उसका फलित सप्तभंगीवाद भी प्रयोजनका साधक है। स्वामी समन्तभद्रने अपने आप्तमीमांसा नामक प्रकरणमें अपने समयके सदैकान्तवादी[1] सांख्य, असदैकान्तवादी[2] माध्यमिक, सर्वथा[3] उभयवादी वैशेषिक और [4]अवक्तव्यैकान्तवादी बौद्धका निराकरण करके आद्य चार भंगोंका ही उपयोग किया है और शेष तीन भंगोंके उपयोगका सूचन-मात्र कर दिया है। आप्तमीमांसापर अष्टशती नामक भाष्यके रचयिता अकलंकदेवने और उनके व्याख्याकार विद्यानन्दने शेष तीन भंगोंका उपयोग करते हुए शंकरके अनिर्वचनीयवादको सदवक्तव्य बौद्धोंके अन्यापोहवादको असदवक्तव्य और यौगके पदार्थवादको सदसदवक्तव्य बतलाया है और इस तरह सप्तभंगीके सात भंगोंके द्वारा दार्शनिक क्षेत्रके मन्तव्योंको संगृहीत किया है।

अनेकान्तमें सप्तभंगी

शंका—[5]एक वस्तुमें प्रश्नवश प्रमाण-अविरुद्ध विधिप्रतिषेधकल्पनाको सप्तभंगी कहा है। और यह भी कहा है कि उसका उपयोग प्रत्येक वस्तुमें होता है। किन्तु अनेकान्तमें वह विधिप्रतिषेधविकल्पना घटित नहीं होती। यदि होती है तो जब यह कहा जाता है कि 'अनेकान्त नहीं है' तब एकान्तवादके दोषका अनुषंग आता है। तथा इस तरह अनेकान्तमें अनेकान्तके माननेपर अनवस्था दोषका प्रसंग भी आता है। अत: अनेकान्तमें केवल अनेकान्तके ही होनेके कारण सप्तभंगी व्यापक नहीं है; क्योंकि अनेकान्तमें ही उसका उपयोग सम्भव नहीं है।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है। अनेकान्तमें भी सप्तभंगी अवतरित होती है यथा–स्यादेकान्त, स्यादनेकान्त, स्यादुभय, स्यादवक्तव्य, स्यादेकान्त अवक्तव्य, स्यादनेकान्त अवक्तव्य और स्यादेकान्त अनेकान्त अवक्तव्य।

ये भंग प्रमाण और नयकी अपेक्षासे घटित होते हैं। एकान्त दो प्रकारका है—सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। अनेकान्त भी दो प्रकारका है—सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। प्रमाणके द्वारा निरूपित वस्तुके एकदेशको हेतुविशेषकी सामर्थ्यकी अपेक्षासे ग्रहण करनेवाला सम्यक् एकान्त है। और एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य सब धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तुमें युक्ति और आगमसे अविरुद्ध प्रतिपक्षी अनेक धर्मोंका

---

१. आप्तमीमांसा, का० ९-११। २. कारिका १२। ३-४. कारिका १३।
५. तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ३५।

निरूपण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है। तत् और अतत् स्वभाववाली वस्तुसे शून्य, काल्पनिक अनेकधर्मात्मक जो कोरा वाग्जाल है, वह मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकान्तको नय कहते हैं और सम्यक् अनेकान्तको प्रमाण कहते हैं। नयकी अपेक्षासे एकान्त होता है; क्योंकि एक ही धर्मका निश्चय करनेकी ओर उसका झुकाव होता है। और प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्त होता है, क्योंकि वह अनेक निश्चयोंका आधार है। यदि अनेकान्तको अनेकान्त रूप ही माना जाये और एकान्तको सर्वथा न माना जाये तो एकान्तका अभाव होनेसे एकान्तोंके समूहरूप अनेकान्तका भी अभाव हो जाये। जैसे शाखा, पत्र, पुष्प आदिके अभावमें वृक्षका अभाव अनिवार्य है। तथा यदि एकान्तको ही माना जाये तो अविनाभावी इतर सब धर्मोंका निरूपण करनेके कारण प्रकृत धर्मका भी लोप हो जानेसे सर्वलोपका प्रसंग आता है। इसी तरह शेष भंगोंकी भी योजना कर लेनी चाहिए।

नयवाद

नयका लक्षण—स्वामी समन्तभद्रने नयका लक्षण इस प्रकार किया है—

"स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥१०६॥"—आप्तमी०।

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतप्रमाणके द्वारा गृहीत अर्थके विशेषों अर्थात् धर्मोंका जो अलग-अलग कथन करता है उसे नय कहते हैं।

विद्यानन्द स्वामीने भी नयशब्दका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ करते हुए लिखा है—

"नयानां लक्षणं लक्ष्यं तत्सामान्यविशेषतः।
नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः ॥६॥
तदंशौ द्रव्यपर्यायलक्षणौ साध्यपक्षिणौ।
नीयेते तु यकाभ्यां तौ नयाविति विनिश्चितौ ॥७॥"

—त० श्लोकवार्तिक १-३३।

जिसके द्वारा श्रुतप्रमाणके द्वारा जाने गये अर्थके अंशों-धर्मोंको जाना जाता है उसे नय कहते हैं। वे अंश हैं—द्रव्य और पर्याय। जो नय वस्तुके द्रव्यांशको जानता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो नय वस्तुके पर्यायांशको जानता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इस तरह ये सामान्य नय और उसके दो मूल भेदोंके लक्षण हैं।

यह पहले बतला आये हैं कि प्रमाणके भेदोंमें एक श्रुत ही ऐसा है जो ज्ञानात्मक भी है और वचनात्मक भी है और उसीके भेद नय हैं। अतः नय भी ज्ञानात्मक और वचनात्मक होते हैं।

नय

ज्ञाता[1]के अभिप्रायको नय कहते हैं। और प्रमाणसे गृहीत वस्तुके एकदेशमें वस्तुका निश्चय 'अभिप्राय' है। आशय यह है कि वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक है और प्रमाण द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुको जानता है। प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके द्रव्यांश अथवा पर्यायांशमें वस्तुका निश्चय करनेको नय कहते है।

प्रमाण और नयमें भेद—किन्हीं[2]का कहना है कि नय प्रमाण ही हैं; क्योंकि प्रमाणकी तरह नय भी स्वका और अर्थका निश्चायक है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि नय स्व और अर्थके एकदेशका निश्चायक होता है।

शंका—स्व और अर्थका एकदेश वस्तु है अथवा अवस्तु है। यदि वस्तु है तो वस्तुका ग्राहक होनेसे नय प्रमाण ही ठहरता है। और यदि अवस्तु है तो अवस्तुका ग्राहक होनेसे नय मिथ्याज्ञान कहा जायेगा; क्योंकि अवस्तुको जानना मिथ्याज्ञानका लक्षण है।

समाधान—जैसे समुद्रका एकदेश न तो समुद्र ही है और न असमुद्र ही है वैसे ही नयके द्वारा जाना गया वस्तुका अंश न तो वस्तु ही है और न अवस्तु ही है। यदि समुद्रके एकदेशको ही समुद्र कहा जायेगा तो समुद्रके शेष देश असमुद्र हो जायेंगे। या फिर एक-एक देशको समुद्र माननेसे बहुत-से समुद्र हो जायेंगे। और यदि समुद्रके एकदेशको असमुद्र कहा जायेगा तो समुद्रके शेष देश भी असमुद्र कहलायेंगे और ऐसी स्थितिमें कहीं भी समुद्रपनका व्यवहार नहीं बन सकेगा। अतः समुद्रका एकदेश न तो समुद्र है और न असमुद्र है किन्तु समुद्रका अंश है। उसी तरह नयके द्वारा जाना गया स्वार्थका एकदेश न तो वस्तु है; क्योंकि स्वार्थके एकदेशको वस्तु माननेसे उसके अन्य देशोंको अवस्तुत्वका प्रसंग आता है। या फिर वस्तुके बहुत्वका प्रसंग आता है। तथा नयसे जाना गया वस्तुका एकदेश अवस्तु भी नहीं है, क्योंकि यदि वस्तुके एकदेशको अवस्तु माना जायेगा तो उसके शेष देश भी अवस्तु कहे जायेंगे, और ऐसी स्थितिमें कहीं भी वस्तुकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः नयके द्वारा जाना गया वस्तुका एकदेश वस्त्वंश ही है।

---

१. षट्खण्डागम, पु० ६, पृ० १६२ आदि।

२. 'स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्। स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥४॥ नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः। नासमुद्रो समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥५॥ तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता। समुद्रस्य बहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कास्तु समुद्रवित् ॥६॥'

—त० श्लोकवार्तिक १-६ सू०।

शंका—[1] अंश और अंशीके समूहका नाम वस्तु है। अतः जैसे वस्तुका एक अंश न वस्तु है और न अवस्तु है, किन्तु केवल वस्त्वंश है, उसी तरह अंशी भी न वस्तु है और न अवस्तु है किन्तु केवल अंशी है। इसलिए जैसे वस्तुके अंशको जाननेवाला ज्ञान नय है वैसे ही अंशीको भी जाननेवाला ज्ञान नय होना चाहिए। अन्यथा जैसे अंशीको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण माना जाता है वैसे ही अंशको जाननेवाला ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिए। और ऐसी स्थितिमें नय प्रमाणसे भिन्न नहीं है।

समाधान—उक्त आक्षेप[2] ठीक नहीं है। जब सम्पूर्ण धर्मोंको गौण करके अंशीको ही प्रधान रूपसे जानना इष्ट होता है तो उसमें द्रव्यार्थिकनयका ही मुख्यरूपसे व्यापार माना गया है, प्रमाणका नहीं। किन्तु जब धर्म और धर्मीके समूहको प्रधानरूपसे जानना इष्ट होता है तो उसमें प्रमाणका व्यापार होता है। सारांश यह है कि अंशोंको प्रधान और अंशीको गौणरूपसे अथवा अंशीको प्रधान और अंशोंको गौण रूपसे जाननेवाला ज्ञान नय है। तथा अंश और अंशी दोनोंको प्रधान रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है अतः नय प्रमाणसे भिन्न है।

तथा, प्रमाण[3] नय नहीं है; क्योंकि प्रमाणका विषय अनेकान्त है। और न नय प्रमाण है, क्योंकि नयका विषय एकान्त है। प्रमाणका विषय एकान्त नहीं है; क्योंकि एकान्त नीरूप होनेसे अवस्तु है और जो अवस्तु है, वह ज्ञानका विषय नहीं होता। इसी तरह नयका विषय अनेकान्त नहीं है; क्योंकि नयदृष्टिमें अनेकान्त अवस्तु है और अवस्तुमें वस्तुका आरोप नहीं हो सकता।

तथा प्रमाण केवल विधि (सत्) को नहीं जानता, क्योंकि यदि वह केवल विधिको ही जाने तो एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे भेद न ग्रहण करनेपर घटके स्थानपर पटमें भी प्रवृत्ति कर सकेगा और ऐसी स्थितिमें जानना न जाननेके समान ही हो जायेगा। तथा प्रमाण केवल प्रतिषेधको भी ग्रहण नहीं करता; क्योंकि विधिको जाने बिना 'यह इससे भिन्न है' ऐसा ग्रहण नहीं किया जा

---

१. 'यथांशिनि प्रवृत्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता।
तथांशेष्वपि किन्न स्यादिति मानात्मको नयः ॥१८॥'
—त० श्लो० वा०, सू० १-६।

२. 'तन्नांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ।
द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ॥१९॥
धर्मधर्मिसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः।
प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ॥२०॥'—वही

३. षट्खण्डागम पु० ९, पृ० १६३।

सकता। तथा प्रमाणमें विधि और प्रतिषेध दोनों परस्परमें अलग-अलग भी प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि ऐसा होनेपर ऊपर केवल विधि पक्षमें और केवल निषेधपक्षमें कहे गये दोनों दोषोंका प्रसंग आता है। अतः विधि प्रतिषेधात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है। इसलिए प्रमाणका विषय एकान्त नहीं है।

अतः प्रमाण नय नहीं है, किन्तु प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके एकदेशमें वस्तुत्वकी विवक्षाका नाम नय है। प्रमाणसे गृहीत वस्तुमें जो एकान्तरूप व्यवहार होता है वह नयमूलक है। अतः समस्त व्यवहार नयके अधीन है। पूज्यपाद अकलंकदेवने सामान्य नयका यही लक्षण कहा है—

"प्रमाण[1]प्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।"

प्रमाणसे गृहीत अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनन्त धर्मात्मक जीवादि पदार्थोंके जो विशेष धर्म हैं, उनका निर्दोष कथन करनेवाला नय है। उन्होंने अपनी अष्टशतीमें एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें प्रमाणनय और दुर्नयका स्वरूप बतलाया गया है। श्लोक इस प्रकार है—

"[2]अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः॥"

अनेक धर्मात्मक अर्थके ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। धर्मान्तरसापेक्ष एक धर्मके ज्ञानको नय कहते हैं। और इतरधर्म निरपेक्ष एक ही धर्मके ज्ञानको दुर्नय कहते हैं। विरोधी प्रतीत होनेवाले इतरधर्मका निराकरण करनेका नाम निरपेक्षता है। और वस्तुविचारके समय विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसकी उपेक्षा करनेका नाम सापेक्षता है। निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं उन्हें ही दुर्नय कहते हैं। सापेक्ष नय सम्यक् होते हैं; क्योंकि वे ही कार्यकारी होते हैं। यही बात समन्तभद्र स्वामीने कही है।

[3]"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥"

नयके भेद—नयके दो मूल भेद हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। यतः वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक या सामान्य विशेषात्मक होती है। उसके द्रव्यांश या सामान्य रूपका ग्राही द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायांश या विशेषात्मक रूपका ग्राही पर्यायार्थिक नय है। जैसा कि सन्मतितर्कमें कहा है—

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १।३३।
२. अष्टसहस्री, पृ० २९०।
३. आप्तमीमांसा, श्लोक १०८।

"तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥३॥"

तीर्थंकरोंके वचनोंकी सामान्य और विशेषरूप राशियोंके मूल प्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। बाकीके सब इन दोनोंके ही भेद हैं। सारांश यह है कि अनेकान्तका निरूपण नयोंके द्वारा ही हो सकता है। नय अनेक हैं; क्योंकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है और एक-एक धर्मका ग्राहक नय है। परन्तु उन सबका समावेश संक्षेपमें दो नयोंमें हो जाता है। वे दो नय हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। तथा पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। इन सात नयोंमें-से आदिके चार नयोंको अर्थनय कहते हैं, क्योंकि वे अर्थकी प्रधानतासे वस्तुका ग्रहण करते हैं और शब्दप्रधान होनेसे शेष तीन नयोंको शब्दनय कहते हैं। ऐसा ही अकलंकदेवने लघीयस्त्रयमें कहा है—

"चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्।
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥"

नैगमनय—'नैकं गमः नैगमः' अर्थात् जो धर्म और धर्मीमें-से एकको ही नहीं जानता है, किन्तु गौण और प्रधान रूपसे धर्म और धर्मी दोनोंका विषय करता है उसे नैगम नय कहते हैं। जैसे जीव अमूर्त है, ज्ञाता, द्रष्टा, सूक्ष्म, कर्ता, भोक्ता और परिणामी नित्य है। यहाँ प्रधान रूपसे जीवत्वका निरूपण करनेपर सुखादि धर्म गौण हो जाते हैं। और सुखादि गुणोंका निरूपण करनेपर आत्मा गौण हो जाता है।

और धर्म-धर्मीको या गुण-गुणीको अत्यन्त भिन्न मानना नैगमाभास है। जैन-धर्मके अनुसार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, और जाति-व्यक्तिमें अत्यन्त भेद माननेवाला न्याय-वैशेषिक दर्शन नैगमाभासी है। तथा चैतन्य और सुखादिमें अत्यन्त भेदवादी सांख्य भी नैगमाभासी[2] है। इन दोनों दर्शनोंने निर-पेक्ष तत्त्वस्वरूपका जो विवेचन किया है वह नैगमनयकी दृष्टिसे यथार्थ होते हुए भी निरपेक्ष होनेके कारण अयथार्थ है; क्योंकि नैगम सत्यांश है। पूर्ण सत्य नहीं है।

---

१. लघीयस्त्रय स्वोपज्ञवृत्तिसहित का० ३९ तथा ६८। न्या० कु० च०, पृ० ६२२ तथा ७८८-७८९। त० श्लो० वा०, पृ० २६९। धवला टीका, पु०, १, पृ० ८४। जयधवला टी०, भा० १, पृ० २२१। २ सिद्धि वि० टी०, पृ० ६७४-६७६।

निगम[1] का अर्थ संकल्प भी होता है। अतः अर्थके संकल्प मात्रका ग्राही नैगम नय है। यह नैगम नयका दूसरा अर्थ है। जैसे, प्रस्थ (प्राचीन समयका धान्यमापक पात्रविशेष) बनानेके निमित्त जंगलसे लकड़ी लेनेके लिए कुठार लेकर जानेवाले किसी पुरुषसे पूछनेपर कि, आप कहाँ जा रहे हैं? वह उत्तर देता है कि, प्रस्थके लिए। तथा पानी, ईंधन वगैरह लानेमें लगे हुए पुरुषसे जब कोई पूछता है कि—आप क्या कर रहे हैं? तो वह उत्तर देता है कि रसोई बना रहा हूँ। किन्तु उस समय न तो कहीं प्रस्थ है और न रसोई। किन्तु उन दोनोंका प्रस्थ और रसोई बनानेका संकल्प है, उस संकल्पमें ही वह प्रस्थ या रसोईका व्यवहार करता है। अतः अनिष्पन्न अर्थके संकल्प मात्रका ग्राहक नैगमनय है।

इस नैगम[2] नयके अनेक भेद बतलाये हैं। मूल भेद तीन हैं—पर्यायनैगम, द्रव्यनैगम और द्रव्यपर्यायनैगम। पर्यायनैगमके तीन भेद हैं, द्रव्यनैगमके दो भेद हैं और द्रव्यपर्यायनैगमके चार भेद हैं। इस तरह नैगमनयके नौ भेद हैं।

किसी वस्तुमें दो अर्थपर्यायोंको गौण और मुख्यरूपसे जाननेके लिए ज्ञाताका जो अभिप्राय होता है वह अर्थपर्यायनैगमनय है। जैसे सशरीर जीवका सुखसंवेदन प्रतिक्षण नाशको प्राप्त हो रहा है। यहाँ प्रतिक्षण उत्पादव्ययरूप अर्थपर्याय तो विशेषणरूप होनेसे गौण है और संवेदनरूप अर्थपर्याय विशेष्य होनेसे मुख्य है। सुख और ज्ञानको परस्परमें सर्वथा भिन्न मानना या आत्मासे उन्हें सर्वथा भिन्न मानना अर्थपर्याय नैगमाभास है।

एक वस्तुमें गौण मुख्यरूपसे दो व्यंजन पर्यायोंको जाननेका अभिप्राय व्यंजनपर्यायनैगमनय है। जैसे आत्मामें सत् चैतन्य है। यहाँ सत्त्वका गौण रूपसे और चैतन्यका प्रधानरूपसे ग्रहण है। सत्ता और चैतन्यको परस्परमें आत्मासे सर्वथा भिन्न माननेका अभिप्राय व्यंजनपर्यायनैगमाभास है। अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायको गौण और मुख्यरूपसे जाननेका अभिप्राय अर्थव्यंजनपर्यायनैगम है। जैसे धर्मात्मा पुरुषका सुखी जीवन है। सुख और जीवनको सर्वथा भिन्न माननेका अभिप्राय अर्थव्यंजनपर्याय नैगमाभास है। इस तरह पर्याय नैगमनयके तीन भेद हैं।

सम्पूर्ण वस्तु सद्द्रव्य रूप है इस प्रकारके अभिप्रायको शुद्ध द्रव्य नैगमनय कहते हैं। और सत् और द्रव्यको सर्वथा भिन्न माननेका अभिप्राय शुद्ध द्रव्य

१. सर्वार्थसि०, तत्त्वार्थवार्तिक, त० श्लो० वा०, सूत्र–१।३३। २. त० श्लो० वा०, पृ० २६९-२७०।

नैगमाभास है। द्रव्य गुणवान् या पर्यायवान् है इस प्रकारके अभिप्रायको अशुद्ध द्रव्यनैगमनय कहते हैं। द्रव्य और गुणका या द्रव्य और पर्यायका सर्वथा भेद मानना अशुद्ध द्रव्य नैगमाभास है। ये दो द्रव्य नैगमनयके भेद हैं।

'इस संसारमें सुख सत्स्वरूप होता हुआ क्षणिक है' ऐसा अभिप्राय शुद्ध द्रव्यार्थपर्यायनैगम है; क्योंकि यहाँ सत्पना शुद्ध द्रव्य है और सुख अर्थपर्याय है। विशेषणरूप शुद्ध द्रव्यको गौण रूपसे और विशेष्यरूप अर्थपर्याय सुखको प्रधान-रूपसे यह नय जानता है। सुखरूप अर्थपर्यायसे सत्को सर्वथा भिन्न मानना नैगमाभास है। 'संसारी जीव क्षण-भर तक सुखी है' इस प्रकारका निश्चय अशुद्ध द्रव्यार्थपर्याय नैगमनय है। नय सुखरूप अर्थपर्यायको गौण रूपसे और अशुद्धद्रव्य-संसारी जीवको प्रधानरूपसे जानता है। सुख और जीवका सर्वथा भेद मानना नया-भास है। चैतन्यपना सत्स्वरूप है इस प्रकारका अभिप्राय शुद्ध द्रव्य व्यंजनपर्याय नैगमनय है। यहाँ चैतन्य व्यंजनपर्याय है और सत् शुद्ध द्रव्य है। यह नय मुख्य और गौण रूपसे दोनोंको जानता है। 'मनुष्य गुणवान् है' यह अशुद्धद्रव्य व्यंजनपर्याय-नैगमनयका उदाहरण है। इसमें गुणवान् अशुद्धद्रव्य है और मनुष्य व्यंजनपर्याय है। इस प्रकार द्रव्यपर्याय नैगमनयके चार भेद हैं।

संग्रहनय—अपनी जातिका विरोध न करके सामान्यके द्वारा उन-उन पदार्थोंका संग्रह करनेवाला संग्रहनय[1] है। जैसे 'सत्' कहनेसे सत्ता सम्बन्धके योग्य द्रव्य, गुण, कर्म आदि सभी सद्व्यक्तियोंका ग्रहण हो जाता है। द्रव्य कहनेसे सभी द्रव्योंका ग्रहण हो जाता है।

संग्रहनयके दो भेद हैं—परसंग्रह और अपरसंग्रह। सत्तामात्र शुद्ध द्रव्यका ग्राही परसंग्रह है। किन्तु जो भेदोंका निराकरण करके केवल सत्ताद्वैतका ही ग्राही है वह परसंग्रहाभास है। पुरुषाद्वैत, ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि अद्वैतवाद पर-संग्रहाभासके ही अन्तर्गत हैं।

परसंग्रह नयके द्वारा गृहीत वस्तुके विशेष अंशोंको ग्रहण करनेवाला अपर-संग्रह नय है। जैसे सत्के भेद द्रव्य और पर्याय हैं। अतः सम्पूर्ण द्रव्योंमें व्याप्त द्रव्यत्व अपरसंग्रह नयका विषय है। इसी तरह सम्पूर्ण पर्यायोंमें व्याप्त पर्यायत्व भी अपरसंग्रह नयका विषय है। इस तरह यह नय अवान्तरभेदोंका एकत्वरूप-से संग्रह करता है, किन्तु प्रतिपक्षी भेदोंका निराकरण नहीं करता।

---

१. सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिक, १।३३। त० श्लो० वा०, पृ० २७०। लघीयस्त्रय का० ३८ तथा ६९।

व्यवहार नय—[1]संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थोंका विधिपूर्वक विभाग करनेवाला व्यवहारनय है। जैसे परसंग्रह 'सब सत् है' ऐसा ग्रहण करता है, व्यवहारनय उसके भेदोंको ग्रहण करता है, वह सत् द्रव्य और पर्यायरूप है। जैसे अपरसंग्रहनय सब द्रव्योंका द्रव्यरूपसे और सर्वपर्यायोंका पर्यायरूपसे संग्रह करता है। व्यवहारनय उसका विभाग करता है—द्रव्य जीवादिके भेदसे छह प्रकार है। पर्याय सहभावी और क्रमभावीके भेदसे दो प्रकार है। इस प्रकार व्यवहारनय तबतक भेद-प्रभेद करता है जबतक भेदकी सम्भावना है। परसंग्रहके पश्चात् और ऋजुसूत्रसे पहले तक अपरापरसंग्रह और व्यवहारका प्रपंच चलता है। क्योंकि सभी वस्तु सामान्य विशेषात्मक हैं। किन्तु इससे व्यवहारको नैगमनयके समान नहीं समझना चाहिए क्योंकि व्यवहारनय तो केवल संग्रहनयके विषयमें भेद-प्रभेद करता है। किन्तु नैगमनय गौणता और मुख्यतासे सामान्य और विशेष दोनोंको ग्रहण करता है। काल्पनिक द्रव्यपर्यायके विभागको माननेवाला नय व्यवहाराभास है।

ऋजुसूत्र नय—[2]ऋजुसूत्रनय द्रव्यको गौण करके क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाली पर्यायको ही मुख्यरूपसे ग्रहण करता है। पर्यायोंमें भी भूतपर्यायें तो नष्ट हो चुकीं, और भाविपर्यायें अभी उत्पन्न ही नहीं हुई हैं। अतः लोक-व्यवहार न विनष्टसे चल सकता है और न भावीसे। इसलिए वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायको ही यह नय विषय करता है। और त्रिकालातीत द्रव्यकी विवक्षा नहीं करता।

बौद्धोंका क्षणिकवाद इसी नयदृष्टिके अन्तर्गत समाविष्ट होता है। किन्तु बौद्धदर्शन पर्यायोंमें अनुस्यूत अन्वयी द्रव्यको नहीं मानता। इसलिए वह ऋजुसूत्र नयाभास है।

तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ९६-९७) में अकलंकदेवने अनेक उदाहरण देकर ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिको स्पष्ट किया है।

जिस समय प्रस्थसे धान्य आदि मापा जाता है उसी समय उसे प्रस्थ कहते हैं। वर्तमानमें अतीत और अनागत धान्यका माप तो सम्भव नहीं है। तथा इस नयकी दृष्टिसे कुम्भकार व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि शिविक आदि पर्यायोंके निर्माण तक तो उसे कुम्भकार कह नहीं सकते और घटपर्यायके समय अपने

---

१. सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, १।३३। त० श्लो० वा०, पृ० २७१। लघीयस्त्रय का० ४२ तथा ७०।

२. सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवा०, १।३३। त० श्लो० वा०, पृ० २७१-२७२। लघीयस्त्रय का० ४३ तथा ७१। न्या० कु० च०, पृ० ६३६, ७९२।

अवयवोंसे स्वयं ही घट बन जाता है। जो कहींसे आकर बैठ चुका है वह यह नहीं कह सकता कि मैं अभी ही आ रहा हूँ; क्योंकि उस समय आगमनक्रिया नहीं हो रही है। किसीसे 'कहाँ रहते हो ?' ऐसा पूछनेपर इस नयकी दृष्टिसे जिन आकाश प्रदेशोंमें वह स्थित है वही उसका निवासस्थान है अतः ग्रामनिवास, गृहनिवासका व्यवहार सम्भव नहीं है।

शब्दनय—जो नय काल, कारक, लिंग, संख्या आदिके भेदसे अर्थको भेदरूप मानता है वह शब्दनय[1] है। चूँकि यह नय शब्दकी प्रधानतासे उसके वाच्यार्थको भेदरूप मानता है इसलिए इसे शब्दनय कहते हैं। व्यवहारनय तो काल कारक आदिका भेद होनेपर भी अर्थभेद स्वीकार नहीं करता, अतः शब्दनयकी दृष्टिमें वह ठीक नहीं है। जैसे—अमुक मनुष्यके विश्वदृश्वा (जो विश्वको देख चुका है) पुत्र पैदा होगा। जो अभी पैदा ही नहीं हुआ वह विश्वको कैसे देख सकता है। अतः अतीत और अनागतका जो सामानाधिकरण्य व्यवहारमें जोड़ा जाता है वह शब्दनयकी दृष्टिसे ठीक नहीं है। इसी तरह लिंगभेद, कारकभेदसे शब्दनय अर्थ-भेदको मानता है। वह लोकव्यवहार और व्याकरण-शास्त्रके विरोधकी चिन्ता नहीं करता। सारांश यह है कि इस नयके अभिप्रायानुसार कालभेद होनेपर भी अर्थका भेद न माननेपर बड़ा दोष आता है—अतीत रावण और भविष्यमें होने-वाला शंख चक्रवर्ती भी एक हो जायेंगे। इसी तरह वैयाकरण लोग 'पुष्य तारा है' यहाँ लिंगभेद होनेपर भी दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ मानते हैं। किन्तु पुष्य शब्द पुल्लिग है और तारा शब्द स्त्रीलिंग है। यदि विभिन्न लिंगवाले शब्दोंका एकार्थ माना जायेगा तो पुल्लिग पट शब्द और स्त्रीलिंग कुटी शब्द भी सार्थक हो जायेंगे। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

समभिरूढनय—शब्दभेदसे अर्थभेद माननेवाला नय समभिरूढ़नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द इस नयकी दृष्टिमें भिन्न-भिन्न अर्थके वाचक हैं। अर्थात् स्वर्गका स्वामी आनन्द करनेसे इन्द्र है, शक्तिशाली होनेसे शक्र है और पुरोंका विदारण करनेसे पुरन्दर है। इस प्रकार यह नय शब्दभेदसे एक ही इन्द्रको भेदरूप स्वीकार करता है।

शब्दनय तो केवल काल, कारक, लिंग, संख्या आदिके भेदसे अर्थभेद मानता था, पर्यायभेदसे नहीं। उसके मतसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दके अर्थमें भेद,

---

१. सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवा०, १।३३। त० श्लो० वा०, पृ० २७२-२७३। लघीयस्त्रय का० ४४ तथा, ७२। न्या० कु० च०, पृ० ७६४।

नहीं है; क्योंकि इनमें लिंग आदिका भेद नहीं है, किन्तु समभिरूढ़ नय प्रत्येक शब्दका भिन्न-भिन्न अर्थ मानता है। जितने शब्द हैं उतने ही उनके वाच्यार्थ हैं।

एवंभूतनय—शब्दका जो वाच्यार्थ है, उस रूप क्रिया परिणत अर्थ ही उस शब्दका वाच्यार्थ है यह एवंभूतनयकी दृष्टि है। जैसे जिस समय स्वर्गका स्वामी इन्दन अर्थात् परमैश्वर्यका अनुभवन करता हो उसी समय वह इन्द्र कहे जानेके योग्य है। इस तरह इस नयकी दृष्टिमें प्रत्येक शब्दका प्रयोग उस क्रियारूप परिणत अवस्थामें ही उचित माना जाता है।

[1]उक्त सात नयोंमें पूर्व-पूर्वका नय बहुविषयवाला है; क्योंकि वह कारणरूप है। और उत्तर-उत्तरका नय अल्पविषयवाला है; क्योंकि वह पूर्वनयका कार्यरूप है। जैसे नैगम और संग्रह नयोंमें-से संग्रहनय बहुविषयवाला नहीं है; क्योंकि वह नैगमसे उत्तर है, बल्कि संग्रहसे पूर्व होनेके कारण नैगमनय ही बहुविषयवाला है। संग्रहनय केवल सन्मात्रको ग्रहण करता है किन्तु नैगमनय सत् असत् दोनोंका ग्राहक है; क्योंकि जैसे सद्रूप वस्तुमें संकल्प किया जाता है वैसे ही असद्रूप वस्तुमें भी संकल्प किया जाता है। तथा संग्रहसे व्यवहारनय अल्पविषयवाला है; क्योंकि संग्रहनय तो समस्त सत्समूहका संग्राहक है, और व्यवहारनय सद्विशेषका ही ग्राहक है। व्यवहारनयसे ऋजुसूत्रनय अल्पविषयवाला है। क्योंकि व्यवहारनय त्रिकालवर्ती अर्थको ग्रहण करता है और ऋजुसूत्रनय वर्तमान अर्थको ही ग्रहण करता है। ऋजुसूत्रनयसे शब्दनय अल्पविषयवाला है, क्योंकि ऋजुसूत्र कालादिके भेदसे अर्थको भेदरूप नहीं मानता, किन्तु शब्दनय मानता है। शब्दनयसे समभिरूढ़नय अल्पविषयवाला है; क्योंकि शब्दनय तो पर्यायभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको स्वीकार करता है किन्तु समभिरूढ़ पर्यायभेदसे अर्थको भेदरूप स्वीकार करता है। समभिरूढ़नयसे एवंभूतनय अल्पविषयवाला है; क्योंकि समभिरूढ़नय क्रियाभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको ग्रहण करता है, परन्तु एवंभूतनय क्रियाभेदसे अर्थको भेदरूप स्वीकार करता है। इस प्रकार नयोंका स्वरूप जानना चाहिए।

■

१. त० श्लो० वा०, पृ० २७४।

प्रमाणका फल

सर्वार्थसिद्धिमें ज्ञानके प्रामाण्यका समर्थन करते हुए आचार्य पूज्यपादने सन्निकर्षके प्रामाण्यका निराकरण किया है। इसपर सन्निकर्षवादीने ज्ञानको प्रमाण माननेमें एक आपत्ति उपस्थित की है। उसका कहना है कि—"यदि [1]ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो फलका अभाव हो जाता है। प्रमाणका फल ज्ञान ही है, अन्य कुछ भी नहीं। उस ज्ञानको यदि प्रमाण मान लिया जाता है तो उसका कोई अन्य फल नहीं हो सकता, और प्रमाणका फल होना अवश्य चाहिए। यदि सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियको प्रमाण माना जाता है तो उसका फल ज्ञान बन जाता है।

उक्त आपत्तिसे यह स्पष्ट है कि सभी दार्शनिकोंने प्रमाणका विचार करते हुए उसके फलका भी विचार किया है; क्योंकि जब प्रत्येक कार्यका कुछ-न-कुछ फल होता है तो प्रमाणका भी फल अवश्य होना चाहिए। बिना फलके प्रमाणकी खोज कौन बुद्धिमान् करेगा।

वैदिक दर्शनोंमें प्रमाणका फल ज्ञान है और जिन या जिस कारणसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमाण है। जैन दर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना है। अतः उसका फल भिन्न है। आचार्य समन्तभद्रने[2] केवलज्ञानका फल उपेक्षा बतलाया है और शेष मति आदि ज्ञानोंका फल हेय और उपादेय बुद्धि तथा उपेक्षा बतलाया है। यह परम्परा फल है। साक्षात् फल तो अज्ञानका नाश है।

इस प्रकार प्रमाणका फल दो प्रकारका है—एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाणसे अभिन्न फल और दूसरा परम्परा फल अर्थात् प्रमाणसे भिन्न फल। प्रमाणका साक्षात् फल तो प्रमाणने जिस वस्तुको जाना है, उस विषयक अज्ञानका नाश ही है। और परम्परा फल हान, उपादान और उपेक्षा है, क्योंकि वस्तुका ज्ञान होनेके पश्चात् यदि वह वस्तु अहितकारी प्रतीत होती है तो ज्ञाता उसे छोड़ देता है और यदि हितकारी प्रतीत होती है तो उसे ग्रहण कर लेता है। तथा यदि उस जानी हुई वस्तुसे कोई प्रयोजन नहीं होता तो उसकी उपेक्षा कर देता है। अज्ञान निवृत्तिके पश्चात् ही हान उपादान आदि बुद्धि होती है। सारांश यह है कि प्रमाण-

१. सर्वार्थ०, सू० १–१०।

२. 'उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः। पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥'—आप्तमी०।

से अज्ञानकी निवृत्ति होती है और अज्ञानकी निवृत्ति होनेके पश्चात् हानादि बुद्धि होती है। अतः प्रमाणका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्परा फल हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि है। अतः प्रमाणसे फल भिन्न भी होता है और अभिन्न भी होता है। यदि प्रमाण और फलको सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो उनमें प्रमाण और फलका व्यवहार नहीं बन सकता। अतः क्रमसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रह आदि ज्ञानोंमें-से पूर्व-पूर्वका ज्ञान प्रमाण और उत्तर-उत्तरका ज्ञान उसका फल होता है। आशय यह है कि अवग्रह ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानमें-से पूर्व-पूर्वका ज्ञान प्रमाण है और उत्तर-उत्तरका ज्ञान उसका फल है। जैसे, अवग्रह ज्ञान प्रमाण है और ईहा ज्ञान उसका फल है; क्योंकि ईहाज्ञानके होनेमें अवग्रह ज्ञान साधकतम है और ईहाज्ञान उसका साध्य है। इसी तरह अवायज्ञानकी उत्पत्तिमें साधकतम होनेसे ईहाज्ञान प्रमाण है और अवायज्ञान उसका फल है। धारणाज्ञानकी उत्पत्तिमें साधकतम होनेसे अवायज्ञान प्रमाण है और धारणाज्ञान उसका फल है। स्मृतिकी उत्पत्तिमें साधकतम होनेसे धारणाज्ञान प्रमाण है और स्मृति उसका फल है। प्रत्यभिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होनेसे स्मृति प्रमाण है और प्रत्यभिज्ञान फल है। तर्क प्रमाणकी उत्पत्तिमें कारण होनेसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और तर्क फल है। अनुमान प्रमाणकी उत्पत्तिमें साधकतम होनेसे तर्क प्रमाण है और अनुमानज्ञान फल है। तथा अनुमानज्ञान भी अज्ञाननिवृत्ति आदि फलमें कारण होनेसे प्रमाण है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है। अतः यद्यपि प्रमाण और फल क्रमभावी होते हैं, फिर भी उनमें परस्परमें कथंचित् एकत्व होता है।

प्रमाण और फलमें सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिकोंका पूर्वपक्ष—

[1]नैयायिकका कहना है कि प्रमाण और फलमें तादात्म्य नहीं बन सकता; क्योंकि प्रमाण कारक है। जो कारक होता है वह अपनेसे भिन्न पदार्थमें क्रिया करता है, जैसे कुठार अपनेसे भिन्न लकड़ीको चीर डालता है। चूंकि प्रमाण भी कारक है अतः वह अपनेसे भिन्न पदार्थमें क्रियाको करता है। तथा, प्रमाण अपनेसे भिन्न फलका कर्त्ता है; क्योंकि वह करण है। जो करण होता है वह अपनेसे भिन्न फलका कर्ता होता है, जैसे कुठार आदि। कुठार आदि स्वात्मामें क्रिया करते हुए नहीं देखे जाते। और जो कुछ करता नहीं है, वह करण हो नहीं सकता। अतः जो कर्ता अथवा कर्ममें अपनेसे भिन्न फलको करता है वही करण है।

१. न्या० कु० च०, पृ० २०८।

प्रमाणको ही फल मानना ठीक नहीं है; क्योंकि करणरूपता और फलरूपता ये दोनों धर्म परस्परमें विरोधी हैं, अतः एक वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते। इसलिए प्रमाण और फलमें भेद मानना ही श्रेष्ठ है। उदाहरणके लिए विशेषण-ज्ञान प्रमाण है और विशेष्यज्ञान फल है इन दोनोंमें अभेद कैसे हो सकता है; क्योंकि दोनों ज्ञानोंकी उत्पादक सामग्री भिन्न है और विषय भी विभिन्न है। विशेषण ज्ञानकी उत्पत्ति विशेषणके साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप सामग्रीसे होती है और विशेष्य ज्ञानकी उत्पत्ति विशेष्यके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप सामग्रीसे होती है। तथा विषय भेद तो दोनों ज्ञानोंमें स्पष्ट ही है; क्योंकि एकका विषय विशेषण है और एकका विषय विशेष्य है।

उत्तर पक्ष—जैनोंका कहना है कि प्रमाण और फलमें भेद सिद्ध करनेके लिए जो 'कारक' हेतु दिया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'कारक' हेतुसे आप (नैयायिक) प्रमाण और फलमें कथंचित् भेद सिद्ध करना चाहते हैं अथवा सर्वथा भेद सिद्ध करना चाहते हैं? यदि कथंचित् भेद सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें इष्ट ही है; क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका धर्म है और हान, उपादान प्रमाणके कार्य हैं, अतः वे प्रमाणसे कथंचित् भिन्न हैं। प्रमाणका फल दो प्रकारका होता है—एक प्रमाणसे भिन्न और एक अभिन्न। प्रमाणका अभिन्न फल अज्ञाननिवृत्ति है, क्योंकि वह प्रमाणका धर्म है। जो जिसका धर्म होता है वह उससे अभिन्न होता है जैसे दीपकका स्वपर प्रकाशक रूप धर्म दीपकसे अभिन्न है। इसी प्रकार स्वरूप और पररूपसम्बन्धी अज्ञानको दूर करनेरूप अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका धर्म है। अतः वह उससे अभिन्न है। किन्तु धर्म और धर्मीमें सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद माननेपर धर्म-धर्मिपन नहीं बनता; क्योंकि जिनमें सर्वथा भेद होता है, उनमें धर्म-धर्मिभाव नहीं होता। जैसे सह्य और विन्ध्य पर्वतमें सर्वथा भेद है अतः उनमें धर्म-धर्मिभाव नहीं है। इसी प्रकार जिनमें सर्वथा अभेद होता है उनमें भी धर्म-धर्मिभाव नहीं होता। अतः कथंचित् भेद मानना ही श्रेष्ठ है। साधकतम होनेसे ज्ञान प्रमाण है और अज्ञाननिवृत्तिरूप होनेसे फल है। ज्ञानका स्व और परको ग्रहण करनेका व्यापार ही उसका साधकतमपना है। अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्व और अर्थको ग्रहण करनेरूप व्यापार करता हुआ ही स्वार्थव्यवसाय रूपसे परिणमन करता है। अतः कथंचित् अभेद होते हुए भी प्रमाण और फलमें कारण-कार्यभाव बन जाता है। इसलिए नैयायिकका यह कहना कि 'एक वस्तुमें एक साथ करणरूपता और फलरूपता नहीं बनती',

---

१. न्या० कु० च०, पृ० २०६।

ठीक नहीं है। अपेक्षाके भेदसे एक वस्तुमें अनेक कारक बन सकते हैं। जैसे, 'वृक्ष खड़ा है, वृक्षसे फल गिरा, वृक्षको देखो' इत्यादि वाक्योंमें एक ही वृक्ष कर्ता, अपादान, कर्म आदि कारकोंका आधार होता है। इसी प्रकार एक ही प्रमाणमें प्रमाणरूपता और फलरूपता भी बन जाती है।

नैयायिक—अज्ञाननिवृत्ति ज्ञानरूप ही है अतः वह अपना ही कार्य नहीं हो सकती, ऐसी स्थितिमें अज्ञाननिवृत्तिको प्रमाणका फल कैसे माना जा सकता है?

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वार्थग्रहणके व्यापार रूप उपयोगको प्रमाण कहते हैं और स्व तथा अर्थनिश्चय रूप परिणतिका नाम अज्ञाननिवृत्ति है। अतः अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका फल है।

यदि आप अज्ञाननिवृत्तिको ज्ञानरूप ही मानते हैं तो उसे धर्मिरूप मानते हैं अथवा धर्मरूप मानते हैं? यदि अज्ञाननिवृत्ति धर्मिरूप है तो उसका धर्म क्या है? यदि ज्ञान उसका धर्म है तो अज्ञाननिवृत्ति धर्मी हुई और ज्ञान उसका धर्म हुआ। किन्तु यह उचित नहीं है; क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति ज्ञानके आश्रित है। अतः वह धर्मीरूप नहीं हो सकती। क्योंकि जो पराश्रित होता है वह धर्मरूप ही होता है। इसलिए पराश्रित होनेसे अज्ञाननिवृत्ति धर्मरूप ही है। और जब वह धर्मरूप है तो 'अज्ञाननिवृत्ति ज्ञानरूप ही है' इस प्रकार अभेद नहीं हो सकता, किन्तु 'ज्ञानका धर्म अज्ञाननिवृत्ति है' इस प्रकार भेद ही हो सकता है। क्योंकि धर्म और धर्मीमें उपचारसे ही अभेदका कथन किया जा सकता है।

इसी प्रकार अज्ञाननिवृत्ति कार्यरूप है अथवा अ-कार्यरूप है? यदि वह किसीका कार्य नहीं है तो सर्वत्र सर्वदा उसकी सत्ता रहनेसे सभी सर्वदर्शी हो जायेंगे। यदि वह कार्यरूप है तो उसका कारण कौन है—प्रमाणरूपसे माना गया ज्ञान अथवा कोई अन्य? यदि कोई अन्य उसका कारण है तो प्रमाणरूपसे माने गये ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले और उसके बादमें भी अज्ञाननिवृत्तिकी उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित होता है। इस प्रसंगसे बचनेके लिए यदि प्रमाणसे ही अज्ञान निवृत्तिकी उत्पत्ति मानते हैं तो यही सिद्ध होता है कि अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका फल है। अतः प्रमाणका धर्म होनेसे अज्ञाननिवृत्तिरूप फल प्रमाणसे अभिन्न है और हान, उपादान आदि फल प्रमाणसे भिन्न है।

शंका—जैसे स्वार्थग्राही ज्ञान अज्ञाननिवृत्तिरूपसे परिणमन करता है वैसे ही हान, उपादान रूपसे भी परिणमन करता है। तब हान, उपादान भिन्न फल क्यों है?

उत्तर—अज्ञाननिवृत्ति रूप फलके उत्पन्न होनेपर हान, उपादानरूप फलकी उत्पत्ति होती है। अतः अज्ञाननिवृत्तिरूप फलका व्यवधान होनेसे हान, उपादान रूप फल प्रमाणसे भिन्न है। अर्थात् प्रमाण और हान, उपादानके बीचमें अज्ञाननिवृत्ति आ जाती है; क्योंकि प्रमाणके द्वारा अज्ञानके हट जानेपर ही वस्तुका ग्रहण अथवा त्याग किया जाता है। किन्तु अज्ञाननिवृत्ति और प्रमाणके बीचमें व्यवधान डालनेवाला कोई नहीं है अतः प्रमाणसे अज्ञाननिवृत्ति अभिन्न है। इस प्रकार 'कारक' हेतुमे प्रमाण और फलमें सर्वथा भेद सिद्ध नहीं होता।

नैयायिकोंने जो विशेषण ज्ञानको प्रमाण और विशेष्य ज्ञानको फल कहा है वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि विशेषण और विशेष्यका आलम्बन एक ही ज्ञान है 'सफेद वस्त्र' और 'दण्डी पुरुष' यहाँपर विशेषण और विशेष्यमें ज्ञान भेदकी प्रतीति नहीं होती, अर्थात् एक ज्ञानसे ही विशेष्य वस्त्र और उसके विशेषण सफेदकी प्रतीति होती है। विषयके भेदसे ज्ञानभेद नहीं होता, क्योंकि पाँचों अँगुलियोंके अनेक होनेपर भी एक ज्ञानसे ही उनकी प्रतीति देखी जाती है। तथा विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञानकी जो भिन्न सामग्री बतलायी है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सन्निकर्षका निराकरण पहले ही कर दिया गया है। और फिर कार्यभेद होनेपर कारणभेदकी कल्पना करना उचित है; किन्तु यहाँ तो कार्यभेद ही नहीं है। अतः यद्यपि प्रमाण और फल क्रमभावी हैं फिर भी उनमें कथंचित् अभेद मानना ही चाहिए।

प्रमाणाभास

जो ज्ञान प्रमाण न होते हुए भी प्रमाणकी तरह प्रतीत होता है उसे प्रमाणाभास कहते हैं। साधारण तौरपर मिथ्याज्ञानको प्रमाणाभास कहते हैं। किन्तु कोई भी मिथ्याज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं होता। प्रमाणता और अप्रमाणताका कारण अविसंवाद और विसंवाद है। [1]जहाँ जिस रूपमें अविसंवाद है वहाँ उसी रूपमें प्रमाणता है। जैसे, जिसकी आँखें काँच कामल आदि दोषोंके कारण खराब हो जाती हैं उसे आकाशमें दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। यह ज्ञान चन्द्रमाकी संख्याके विषयमें विसंवादी है किन्तु चन्द्रमाके विषयमें अविसंवादी है अर्थात् चन्द्रमाके विषयमें सत्य है किन्तु उसकी संख्याके विषयमें असत्य है। इसी तरह सभी सम्यग्ज्ञान भी सर्वथा प्रमाण नहीं होते। जैसे, ठीक आँखवालेको भी कभी-कभी चन्द्रमा ऐसा प्रतीत होता है कि वह पृथ्वीके निकट है किन्तु यह प्रतीति सत्य नहीं है। अतः जो ज्ञान जिस विषयमें अविसंवादी है वह उस विषयमें प्रमाण है और जिस विषयमें विसंवादी है उस विषयमें अप्रमाण है।

शंका—यदि कोई भी मिथ्याज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं है और सम्यग्ज्ञान सर्वथा प्रमाण नहीं है तो लोकमें जो कुछ ज्ञानोंको प्रमाण और कुछको अप्रमाण ही माना जाता है, उसकी व्यवस्था कैसे बनेगी?

उत्तर—[2]जिस ज्ञानमें संवाद (सचाई) की अधिकता होती है उसे लोकमें प्रमाण माना जाता है और जिसमें विसंवाद (मिथ्यापन)की अधिकता होती है उसे लोकमें अप्रमाण माना है।

वास्तवमें प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था बाह्य पदार्थकी अपेक्षासे है। जो ज्ञान असद्वस्तुको सत्रूपसे जानता है वह प्रमाणाभास है, जैसे सीपमें होनेवाला चाँदीका ज्ञान। और जो ज्ञान सामने विद्यमान वस्तुको जैसाका तैसा जानता है वह प्रमाण है जैसे सीपमें होनेवाला सीपका ज्ञान। ये दोनों ही ज्ञान स्वरूपकी अपेक्षासे प्रमाण ही हैं; क्योंकि सभी ज्ञानोंका जो स्वसंवेदन होता है वह प्रमाण है। आशय यह है कि ज्ञान स्वको भी जानता है और बाह्य पदार्थको भी जानता

---

१. 'प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम्।
यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥२२॥'—लघीय०।

२. 'तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था'—अष्टश०, अष्टस०, पृ० २७६।

है। 'स्व'की अपेक्षा तो सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं; क्योंकि ज्ञानके अस्तित्वका जो प्रत्यक्ष होता है कि 'मुझे ज्ञान हुआ' उसके अप्रमाण होनेका कोई कारण नहीं है। हाँ, बाह्य पदार्थकी अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाण होता है और कोई ज्ञान अप्रमाण होता है।

प्रमाणकी तरह ही [1]प्रमाणाभासके भी भेद होते हैं। यथा—प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास और अनुमानाभास। स्पष्टज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। अतः अस्पष्टज्ञानको भी प्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्षाभास है जैसे बौद्धोंके द्वारा कल्पित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास है। स्पष्टज्ञानको भी परोक्ष कहना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक करणज्ञानको स्पष्ट होते हुए भी परोक्ष मानता है। पहले अनुभव किये गये पदार्थमें 'वह' इस रूपसे होनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको स्मरण कहते हैं। और उससे विपरीतको स्मरणाभास कहते हैं। जैसे जिनदत्तका देवदत्तके रूपमें स्मरण करना स्मरणाभास है। इसी तरह दो जुड़वा भाइयोंमें-से एकको देखकर दूसरा समझ लेना या दूसरेको देखकर भी उसे वही न मानकर उसीके समान समझना प्रत्यभिज्ञानाभास है। अर्थात् एकत्वमें सादृश्यकी प्रतीति और सदृशमें एकत्वकी प्रतीतिको प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं।

व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं और अविनाभाव नियमका नाम व्याप्ति है। अतः जिनमें अविनाभाव नहीं है उनमें भी होनेवाला व्याप्तिज्ञान तर्काभास है। जैसे जो देवदत्तका पुत्र होता है वह काला होता है।

साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। उससे विपरीत अनुमानाभास होता है। पक्ष, हेतु और दृष्टान्तपूर्वक ही अनुमानका प्रयोग होता है अतः अनुमानाभासको समझनेके लिए पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभासको समझ लेना आवश्यक है। साध्यका लक्षण इष्ट, अबाधित और असिद्ध बतलाया है अतः अनिष्ट बाधित और सिद्धको पक्षाभास कहते हैं। जैसे मीमांसक शब्दको नित्य मानता है। वह यदि घबराकर शब्दको अनित्य सिद्ध करने लगे तो यह पक्षाभास है। इसी तरह शब्दको श्रोत्रेन्द्रियका विषय सिद्ध करना भी पक्षाभास है; क्योंकि यह बात तो सिद्ध ही है कि शब्द श्रोत्रेन्द्रियसे सुनाई देता है, इसमें किसीको भी विवाद नहीं है। जो साध्य प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनसे बाधित हो वह भी पक्षाभास है। 'अग्नि शीतल होती है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे जल।' इस अनुमानमें अग्निका शीतलता साध्य प्रत्यक्ष बाधित है; क्योंकि प्रत्यक्षसे

१. प्रमाणाभासके भेदोंके विवेचनके लिए प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक ग्रन्थका पाँचवाँ परिच्छेद देखना चाहिए। —ले०।

अग्नि गरम प्रतीत होती है। 'शब्द नित्य है क्योंकि उत्पन्न होता है, जैसे घट' इस अनुमानमें शब्दका नित्यत्व साध्य, क्योंकि उत्पन्न होता है, इस हेतुसे बाधित है क्योंकि उत्पन्न होनेके कारण घट अनित्य होता है, न कि नित्य। यह अनुमान बाधित है। 'मरनेपर धर्मसे दुःख मिलता है; क्योंकि वह पुरुषाधीन है, जैसे अधर्म।' किन्तु आगममें धर्मको सुखदायक और अधर्मको दुःखदायक माना है। अतः उक्त अनुमानका पक्ष 'मरनेपर धर्मसे दुःख मिलता है' आगमसे बाधित है। 'मृत मनुष्यकी खोपड़ी शुद्ध होती है; क्योंकि प्राणीका अंग है जैसे शंख वगैरह'। किन्तु लोकमें प्राणीका अंग होनेपर भी कुछ वस्तु पवित्र और कुछ अपवित्र मानी जाती हैं। जैसे गौसे उत्पन्न होनेपर भी दूधको शुद्ध माना जाता है, किन्तु गोमांसको शुद्ध नहीं माना जाता अतः उक्त अनुमानमें मनुष्यकी खोपड़ीको शुद्ध सिद्ध करना लोकबाधित है। 'मेरी माँ बाँझ है; क्योंकि उसके गर्भ नहीं रहता' यह स्ववचनबाधित है क्योंकि बाँझ स्त्री किसीकी माँ नहीं हो सकती। ये सब पक्षाभास हैं।

जिसका अपने साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित हो उसे हेतु कहते हैं। और जो उससे विपरीत हो उसे हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभासके चार भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर। जिस हेतुकी अन्यथानुपपत्ति प्रमाणसे सिद्ध न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। असिद्ध हेत्वाभासके दो भेद हैं—स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध। शब्द परिणामी है; क्योंकि चक्षुके द्वारा गृहीत होता है' इस अनुमानमें 'चक्षुके द्वारा गृहीत होना' यह हेतु स्वरूपासिद्ध है; क्योंकि शब्द चक्षुका विषय नहीं है। मूढ़ मनुष्यके प्रति 'यहाँ अग्नि है क्योंकि धूम है' इस अनुमानका प्रयोग करनेसे उसके लिए 'धूम' हेतु सन्दिग्धासिद्ध है क्योंकि मूढ़ मनुष्य धूम और भापका भेद नहीं समझता, अतः उसे भापमें भी धूमका सन्देह हो सकता है। अन्य दार्शनिकोंने असिद्ध हेत्वाभासके अन्य भी अनेक भेद किये हैं, उन सबका अन्तर्भाव इन्हींमें हो जाता है।

अपने साध्यसे विरुद्धके साथ जिस हेतुका अविनाभाव निश्चित होता है उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे, 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है' इस अनुमानमें 'उत्पन्न होता है' हेतुका अविनाभाव अपने साध्य नित्यत्वके विरोधी अनित्यत्वके साथ निश्चित है; क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है। अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है। इस हेत्वाभासके भी अनेक भेद अन्य दार्शनिकोंने माने हैं। जो हेतु विपक्षमें भी रहता हो उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। इसके दो भेद हैं एक विपक्षमें निश्चित वृत्ति और एक शंकित वृत्ति। जो हेतु

विपक्षमें निश्चित रूपसे रहता हो उसे निश्चितवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है।' यह 'प्रमेय' हेतु आकाशमें भी रहता है; क्योंकि आकाश भी प्रमेय है। किन्तु आकाश नित्य है। अतः यह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जिस हेतुका विपक्षमें रहना शंकित हो उसे सन्दिग्धवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे महावीर सर्वज्ञ नहीं थे, क्योंकि वे वक्ता थे। इस अनुमानमें 'वक्तृत्व' हेतुके द्वारा महावीर भगवान्के सर्वज्ञ होनेका निषेध किया है, किन्तु वक्तृत्वका और सर्वज्ञत्वका कोई विरोध नहीं है, जो वक्ता हो वह सर्वज्ञ भी हो सकता है। अतः यह हेतु भी अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इस हेत्वाभासके भी अनेक भेद बतलाये हैं।

जिस हेतुका साध्य किसी दूसरे प्रमाणसे निर्णीत है, अथवा प्रत्यक्ष वगैरहसे बाधित है उसको अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं। क्योंकि वह हेतु व्यर्थ होता है। जैसे, 'अग्नि शीतल है क्योंकि द्रव्य है' इस अनुमानमें अग्निका शीतलपना साध्य प्रत्यक्षसे बाधित है अतः द्रव्यत्व हेतु व्यर्थ होनेसे अकिंचित्कर हेत्वाभास है।

■

दृष्टान्ताभास

अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेकदृष्टान्तके भेदसे दृष्टान्तके दो भेद हैं। अतः दृष्टान्ताभासके भी दो भेद हैं—अन्वयदृष्टान्ताभास और व्यतिरेकदृष्टान्ताभास। शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त होनेसे, जैसे इन्द्रियसुख। यहाँ इन्द्रियसुख दृष्टान्तमें अमूर्तत्वरूप हेतु तो पाया जाता है किन्तु साध्य अपौरुषेयत्व नहीं पाया जाता; क्योंकि इन्द्रियसुख पौरुषेय है। शब्द अपौरुषेय है अमूर्त होनेसे, जैसे परमाणु, यहाँ दृष्टान्त परमाणुमें साध्य अपौरुषेयत्व तो पाया जाता है किन्तु साधन अमूर्तत्व नहीं पाया जाता; क्योंकि परमाणु मूर्तिक है। शब्द अपौरुषेय है अमूर्त होनेसे जैसे घट। यहाँ घट दृष्टान्तमें न तो साध्य अपौरुषेयत्व ही रहता है और न साधन अमूर्तत्व ही रहता है क्योंकि घट मूर्त और पौरुषेय होता है। ये सब अन्वयदृष्टान्ताभास हैं।

शब्द अपौरुषेय है अमूर्त होनेसे। जो अपौरुषेय नहीं होता वह अमूर्तिक नहीं होता जैसे परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश। यहाँ परमाणु दृष्टान्तमें अमूर्तत्व तो नहीं है किन्तु अपौरुषेयत्व है। इन्द्रियसुखमें अपौरुषेयत्व नहीं है किन्तु मूर्तत्व है। आकाशमें 'अपौरुषेयत्व और अमूर्तत्व' दोनों पाये जानेसे दोनोंकी व्यावृत्ति नहीं है। अतः ये सब व्यतिरेकदृष्टान्ताभास हैं।

■

परिशिष्ट १

जैनन्याय विषयक साहित्य

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	प्रकाशन स्थान
आचार्य कुन्दकुन्द (वि० २री शती)	प्रवचनसार	रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर सोनगढ़
गृद्धपिच्छाचार्य (वि० ३री शती)	तत्त्वार्थसूत्र	अनेक स्थानोंसे प्रकाशित
उमास्वाति (वि० ३री शती)	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई
समन्तभद्र (वि० ४–५वीं शती)	आप्तमीमांसा	सनातन जैन ग्रन्थमाला काशी
	युक्त्यनुशासन	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला बम्बई वीर सेवा मन्दिर दिल्ली
	बृहत्स्वयंभूस्तोत्र	,,
	जीवसिद्धि	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित
सिद्धसेन (वि० ५वीं शती)	सन्मतितर्क	ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद
	न्यायावतार	रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई
श्रीदत्त (वि० ६वीं शती)	जल्पनिर्णय	विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें उल्लिखित
पात्रकेसरी (वि० ६वीं शती)	त्रिलक्षणकदर्थन	सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित न्यायविनिश्चयविवरणमें उल्लिखित मल्लिषेणप्रशस्तिमें उल्लिखित
सुमति (वि० ६–७वीं शती)	सन्मतितर्कटीका	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित
	सुमतिसप्तक	मल्लिषेणप्रशस्तिमें निर्दिष्ट

अकलंक देव	लघीयस्त्रय	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
(वि० ७वीं शती)	(स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	अकलंक ग्रन्थत्रयके अन्तर्गत
	न्यायविनिश्चय	
	प्रमाणसंग्रह	
	सिद्धिविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
	(स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	
	तत्त्वार्थवार्तिक	,, ,,
	अष्टशती	गान्धी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला
	(आप्तमीमांसाकी वृत्ति)	अष्टसहस्रीके अन्तर्गत
हरिभद्र	अनेकान्तजयपताका	गायकवाड़ सिरीज बड़ौदा
(वि० ८वीं शती)	अनेकान्तवादप्रवेश	
	षड्दर्शनसमुच्चय	आत्मानन्द सभा भावनगर
	शास्त्रवार्तासमुच्चय	देवचन्द लालभाई सूरत
	न्यायप्रवेशटीका	गायकवाड़ सिरीज बड़ौदा
कुमारनन्दि	वादन्याय	विद्यानन्द-द्वारा प्रमाणपरीक्षामें
(वि० ८वीं शती)		उल्लिखित
अनन्तवीर्य (वृद्ध)	सिद्धिविनिश्चयटीका	रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्य-द्वारा
(वि० ८–९वीं शती)		सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित
अनन्तवीर्य	सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
(वि० ९वीं शती)		
विद्यानन्द	अष्टसहस्री	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
(वि० ९वीं शती)	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	,, ,,
	विद्यानन्दमहोदय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें निर्दिष्ट
	युक्त्यनुशासनटीका	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला बम्बई
	आप्तपरीक्षा	वीर सेवा मन्दिर देहली
		सनातन जैन ग्रन्थमाला काशी
	प्रमाणपरीक्षा	,, ,,
	पत्रपरीक्षा	,, ,,
	सत्यशासनपरीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी

अनन्तकीर्ति (वि० १०वीं शती)	जीवसिद्धिटीका	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला काशी
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	,,
वसुनन्दि (वि० ११-१२वीं शती)	आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला काशी
सिद्धर्षि (वि० १०वीं शती)	न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई
माणिक्यनन्दि (वि० ११वीं शती)	परीक्षामुख	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता
		गान्धी नाथारंगजी आकलूज
वादिराज सूरि (वि० ११वीं शती)	न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला बम्बई
वादीभसिंह (वि० ११वीं शती)	स्याद्वादसिद्धि	,, ,,
	नवपदार्थनिश्चय	मूड़बिद्री भण्डार
अभयदेव सूरि (वि० ११वीं शती)	सन्मतिटीका	गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद
प्रभाचन्द (वि० ११-१२वीं श०)	प्रमेयकमलमार्तण्ड	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
	न्यायकुमुदचन्द्र	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला बम्बई
अनन्तवीर्य (वि० १२वीं शती)	प्रमेयरत्नमाला	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी
शान्तिसूरि (वि० ११वीं शती)	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई
वादिदेव सूरि (वि० १२वीं शती)	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय पूना
	स्याद्वादरत्नाकर	,, ,,
हेमचन्द्र (वि० १२वीं शती)	प्रमाणमीमांसा	सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई
	अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशतिका	

भावसेन त्रैविद्य (वि० १२–१३वीं शती)	विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुर
लघु समन्तभद्र (१३वीं शती)	अष्टसहस्रीटिप्पण	अष्टसहस्रीके साथ प्रकाशित
आशाधर (वि० १३वीं शती)	प्रमेयरत्नाकर	आशाधरप्रशस्तिमें उल्लिखित
शान्तिषेण (वि० १३वीं शती)	प्रमेयरत्नसार	जैन सिद्धान्तभवन आरा (अप्रकाशित)
नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेयकलिका	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, काशी
विमलदास	सप्तभंगीतरंगिणी	रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई
धर्मभूषण (वि० १५वीं शती)	न्यायदीपिका	वीर सेवा मन्दिर दिल्ली
अजितसेन	न्यायमणिदीपिका	जैन सिद्धान्त भवन आरा (अप्रकाशित)
शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका	,, ,,
चारुकीर्ति पण्डिताचार्य	प्रमेयरत्नालंकार	,, ,,
नेमिचन्द्र	प्रवचनपरीक्षा	,, ,,
मणिकण्ठ	न्यायरत्न	,, ,,
शुभप्रकाश	न्यायमकरन्दविवेचन	,, ,,
अभयचन्द्र सूरि	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला बम्बई
रत्नप्रभ सूरि (वि० १३वीं शती)	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि० १४वीं शती)	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई
यशोविजय (१८वीं शती)	अष्टसहस्रीविवरण	प्रकाशित
	अनेकान्तव्यवस्था	
	ज्ञानबिन्दु	सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई
	जैन तर्कभाषा	,,

शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	प्रकाशित
न्यायखण्डखाद्य	,,
अनेकान्तप्रवेश	,,
न्यायालोक	,,
गुरुतत्त्वविनिश्चय	,,

इनके सिवाय भी जैनमठ मूड़बिद्री आदिके भण्डारोंमें कुछ प्रकरण ग्रन्थ वर्तमान हैं जो अभी अप्रकाशित हैं।

परिशिष्ट २

जैन न्यायमें निर्दिष्ट ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंकी अनुक्रमणिका

परिशिष्ट ३

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

■

परिशिष्ट ४

विषयानुक्रम

■

सहायक ग्रन्थ तथा ग्रन्थ संकेत सूची

अष्ट श० अष्ट स०	अष्टशती-अष्टसहस्रीके अन्तर्गत	निर्णय सागर बम्बई
आ० मी० आप्तमी०	आप्तमीमांसा	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता
कौ० अर्थ	कौटिल्य अर्थशास्त्र	
गो० जी० टी०	गोम्मट सार जीवकाण्ड टीका	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता
ज० ध०	जयधवला टीका (कसाय पाहुड)	भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा
जैन तर्क०	जैन तर्कभाषा	सिंघी जैन सिरीज कलकत्ता
जैन शि० सं०	जैन शिला लेख संग्रह	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई
तन्त्र वा०	तन्त्रवार्तिक	आनन्दाश्रम सिरीज पूना
तत्त्व सं०	तत्त्वसंग्रह	गायकवाड़ सिरीज बड़ौदा
तत्त्वा० वा० तत्त्वार्थ० त० रा०वा०	तत्त्वार्थवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
त० श्लोकवार्तिक तत्त्वार्थश्लो०	तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक	निर्णयसागर बम्बई
त० सू०	तत्त्वार्थसूत्र	
नी० वा०	नीतिवाक्यामृत	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई
न्या० कु० च०	न्यायकुमुदचन्द्र	,, ,,
न्यायभा०	न्यायभाष्य	चौखम्बा सिरीज काशी
न्यायमं०	न्यायमंजरी	विजयनगर सिरीज काशी
न्याय वा०	न्यायवार्तिक	चौखम्बा सिरीज काशी
न्या० वा० ता० टी०	न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका	,, ,,
न्याय बि०	न्यायबिन्दु	,, ,,
न्याय वि०	न्यायविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
न्याय वि० वि०	न्याय विनिश्चय विवरण	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
न्याया०	न्यायावतार	रायचन्द जैनशास्त्रमाला बम्बई

न्यायसू०	न्यायसूत्र	चौखम्बा सिरीज काशी
परी० परीक्षामु०	परीक्षामुख	चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी
पात० महा०	पातञ्जल महाभाष्य	निर्णय सागर प्रेस बम्बई
प्रकरणमं०	प्रकरणमंजरी	,, ,,
प्र० प० प्रमाणप०	प्रमाणपरीक्षा	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता
प्रमेय क० प्र० क० म०	प्रमेयकमलमार्तण्ड	निर्णय सागर प्रेस बम्बई
प्रमा० मी०	प्रमाणमीमांसा	सिंघी जैन सिरीज कलकत्ता
प्रमाण वा०	प्रमाणवार्तिक	बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी पटना
प्रमाण वा० अलं०	प्रमाणवार्तिकालङ्कार	जायसवाल इन्स्टीट्यूट पटना
प्रमाण वा० टी०	प्रमाणवार्तिक टीका	किताब महल इलाहाबाद
प्रमाण वा० स्ववृ०	प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति	,, ,,
प्रमाण नि०	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बई
प्रमाणस०	प्रमाणसमुच्चय	मैसूर यूनिवर्सिटी सिरीज
प्रवच०	प्रवचनसार	रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई
प्रश० भा०	प्रशस्तपाद भाष्य	विजयानगरम् सिरीज काशी
प्रशस्त० कन्दली	प्रशस्तपादभाष्य कन्दली टीका	,, ,,
प्रश० व्योम	प्रशस्तपादभाष्य व्योमवती टीका	चौखम्बा सिरीज काशी
बृह० टी०	बृहतीटीका	मद्रास यूनिवर्सिटी सिरीज
म० पु०	महापुराण	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
माठर वृ०	माठर वृत्ति	चौखम्बा सिरीज काशी
मीमांसा श्लो० वा०	मीमांसा श्लोक वार्तिक	चौखम्बा सिरीज काशी
मी० श्लो० टी०	मीमांसा श्लोक वार्तिक टीका	,, ,,
योगद० व्यासभा०	योगदर्शन व्यासभाष्य	चौखम्बा सिरीज काशी
लघी० विवृति०	लघीयस्त्रय स्वोपज्ञ विवृति	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई
वात्स्या० भा०	न्यायकुमुद चन्द्र गत वात्स्यायन भाष्य	चौख० सं० सिरीज
वाक्य प० वाक्य०	वाक्यपदीय	चौखम्बा संस्कृत सिरीज काशी

वाक्य प० टी०	वाक्यपदीय टीका	चौखम्बा सिरीज काशी
विधिवि० न्यायकणि०	विधिविवेक न्यायकणिका टीका	लाजरस कम्पनी काशी
वि० भा० विशे० भा०	विशेषावश्यक भाष्य	यशोविजय ग्रन्थमाला काशी
वैशे० सू०	वैशेषिक सूत्र	निर्णय सागर प्रेस बम्बई
वृ० स्व० स्वयंभू०	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	
शा० भा० शाबरभा०	शाबरभाष्य	आनन्दाश्रम पूना
शास्त्र दी०	शास्त्रदीपिका	चौखम्बा सिरीज काशी
षट्० ख०	षट्खण्डागम	सेठ शिताबरायलखमीचन्द भेलसा
स० सि० सर्वा० सि०	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
सन्मति० टी०	सन्मतितर्क टीका	गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद
सां० का० सांख्य का०	सांख्यकारिका	चौखम्बा सिरीज काशी
सांख्य प्र० भा०	सांख्य प्रवचन भाष्य	,, ,,
सि० वि०	सिद्धिविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
सिद्धि वि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
स्या० मं०	स्याद्वादमंजरी	आर्हत् प्रभाकर कार्यालय पूना
स्या० रत्ना०	स्याद्वादरत्नाकर	,, ,,
स्फोट सि०	स्फोटसिद्धि	मद्रास यूनिवर्सिटी सिरीज

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशन

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

•

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५